माध्यम

वर्ष १ : अंक ३
जुलाई १९६४

संपादक - बालकृष्ण राव

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

वर्ष १ : अंक ३

निमित्तमात्रं भव

जुलाई १९६४

संपादक

बालकृष्ण राव

सहायक संपादक

वैकुंठनाथ मेहरोत्रा

बद्रीनाथ तिवारी

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

इलाहाबाद

मूल्य

एक प्रति : एक रुपया

वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविताएँ

कहानी, संस्मरण आदि

सहवर्ती साहित्य

माध्यम

का चौथा अंक

प्रस्तुत कर रहा है :

- 'सहवर्ती साहित्य' (तेलुगु) के अंतर्गत श्रीश्री की कविताएँ, हितश्री की कहानी और नार्ल वेंकटेश्वर राव का निबंध।

- नरेश मेहता के उपन्यास— 'यह पथ बंधु था' पर नेमिचंद्र जैन लिखित विस्तृत विवेचना।

- शिवप्रसाद सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, हेरंब मिश्र और श्रीराम वर्मा के लेख।

- नरेश मेहता और शानी की कहानियाँ।

- भवानीप्रसाद मिश्र और दुष्यंत कुमार की कविताएँ, आदि।

विवेचना

प्रतिपत्तिका

आवरण चित्र : जगदीश गुप्त

युगांत

बुधवार २७ मई, १९६४ भारत के इतिहास के एक युग की समाप्ति का दिन था। वह युग हमारे पुनर्जागरण का ही नहीं, एक सुघटित, स्वतंत्र, प्रगतिशील राष्ट्र के रूप में उठ कर खड़े होने की चेष्टा का युग था। राममोहन राय और दयानंद इसके अरुणोदय की पूर्वसूचना देने वाले द्रष्टा ऋषि थे; गांधी और जवाहरलाल ने उसकी उदात्त संभावनाओं को उपलब्धियों में परिणत कर के एक नये युग और एक नये भावबोध के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

अंग्रेज़ों के शासनकाल में राजनीति और देशभक्ति प्रायः एक-दूसरे के पर्याय-से थे। विदेशियों द्वारा पाशबद्ध देश में राजनीति का एक ही अर्थ हो सकता है : देश को मुक्ति दिलाने का प्रयास। पराधीन भारत की राजनीति भी यही थी। भले ही विभिन्न सक्रिय राजनीतिक दलों में परस्पर अनेक प्रश्नों पर मतैक्य न हो पाता हो, भले ही अनेक बार ऐसा दीख पड़ा हो कि राजनीतिक दल विदेशी शासक के उतने प्रबल विरोधी नहीं हैं जितने एक-दूसरे के, फिर भी यह सत्य कभी किसी की आँखों से ओझल नहीं होने पाया कि अंततः दो ही दल हैं, अंग्रज शासकवर्ग और देश को मुक्त कराने की चेष्टा में लगे भारतीय देशभक्त। यह संघर्ष शक्तिशाली और निर्बल का संघर्ष था; अंग्रेज शासक अपने निहत्थे विरोधियों की तुलना में अजेय जान पड़ता था। फलतः निर्बल भारतीय देशभक्त की आँखें क्रूर यथार्थ से हट कर सांत्वनाप्रद अतीत और अदृश्य की ओर मुड़ीं। अपने चिंताओं के बोझ के नीचे दबे, शुष्क हृदय में उसे देश-प्रेम की विद्युत्स्फूर्ति का अनुभव हुआ, कठोर दमन-चक्र के प्रहारों से क्षत-विक्षत

शरीर उसे तपःपूत जान पड़ने लगे, मरण बलिदान में, नाश उत्सर्ग में बदल गया। यह था राष्ट्रचेतना का रोमैंटिक उत्कर्ष।

सीमाओं, बाधाओं, बंधनों और कष्टों की अवहेलना करने का साहस रोमंटिक उद्वेग का वरदान है तो यथार्थ की ठोस धरती पर गिरते ही चकनाचूर हो जाना रोमैंटिक उद्वेगजन्य स्वप्नों का अभिशाप भी है। गांधी और जवाहरलाल ने हमें कड़ी से कड़ी चुनौती को स्वीकारने का साहस प्रदान किया, और इस साहस की विशिष्टता यह थी कि इसके मूल में सफलता की कामना या विश्वास का आग्रह नहीं था, वह शक्ति थी जो साधना को ही सिद्धि मानने वाले को निष्काम कर्म की प्रेरणा देती है। स्वतंत्रता-संग्राम में गांधी और जवाहरलाल के देशप्रेमी अनुयायी इस आशा से प्रेरित नहीं होते थे कि देश को वे अपने जीते जी स्वतंत्र देखेंगे और आजादी के बाद उन्हें अपनी मेहनत का इनाम मिलेगा। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत स्वतंत्र होगा, पर कब होगा यह न वे जानते थे न जानने की चिंता करते थे। उन्हें अपना कर्तव्य स्पष्ट दीखता था और वे उसे करते रहना ही जानते और समझते थे। उन्हें पेड़ लगाना था, पर इस लालच से नहीं कि फल वे स्वयं ही खा सकेंगे। स्वतंत्रता-प्राप्ति तक यह रोमैंटिक उद्वेग हमें प्रेरणा और स्फूर्ति देता रहा, हम अपने से बड़े बने रहे, बामन हो कर भी प्रांशुलभ्य फलों की ओर उद्बाहु बने रहे—और एक दिन असंभव सत्य हो गया, बौने के हाथ में फल आ ही गया। संसार आश्चर्यचकित रह गया, पर हमें आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि हम सचमुच यह मानते थे कि फल कितना भी ऊँचा क्यों न हो, हमारी ऊँची से ऊँची पहुँच उससे कितनी भी ओछी क्यों न हो, फिर भी वह हमें मिलेगा —क्योंकि उस पर हमारा जन्मसिद्ध, नैतिक अधिकार है; क्योंकि हम औरों की दृष्टि में मात्र बौने ही क्यों न हों, वास्तव में हम अपरिमित शक्ति से संपन्न हैं; क्योंकि हमारे मार्गदर्शक नेता गांधी और जवाहरलाल हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति भारत के इतिहास के एक नये अध्याय का शीर्षक है, पर गांधी-नेहरू युग न उससे आरंभ हुआ न समाप्त। वह उस युग की उच्चतम उपलब्धि थी, पर युगीन भावधारा का मोड़ वहाँ नहीं था। स्वतंत्र्योत्तर वर्षों की कहानी युगचक्र के एक ही पहिये पर चलते रहने की अद्भुत कहानी है। गांधी के निधन के बाद नेहरू का भारत रोमैंटिक कुहासे को चीरता हुआ यथार्थ के आलोक की ओर बढ़ता दीखने लगा। नेहरू इस संक्रमण के अन्यतम प्रतीक और विधायक थे; गांधी ने नेत्रोन्मीलन किया था, नेहरू ने उन्मीलित नेत्रों के आगे कुछ देखने योग्य रखने की चेष्टा की। गांधी और नेहरू अनेक क्षेत्रों में, अनेक विषयों और प्रश्नों पर एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं एक-दूसरे के विरुद्ध थे, प्रतिकूल दिशाओं की ओर उन्मुख थे। फिर भी शायद आने वाली पीढ़ियाँ यह मानने के लिए विवश होंगी कि नेहरू गांधी के अनुयायी और उत्तराधिकारी ही नहीं,

उनके अनिवार्य परिणाम और पूरक थे। गांधी और नेहरू की मान्यताओं और कार्य-प्रणालियों के सारे वैषम्य के बावजूद एक अंतरंग साम्य है जो इन दोनों को एक-दूसरे से मिलाता है, एक अन्विति है जो इन दोनों के जननेतृत्व की कहानी को एक महाकाव्य की गरिमा प्रदान करती है। गांधी ने युगीन रोमैंटिक राष्ट्रीयता के आध्यात्मिक पक्ष को आलोकित किया, नेहरू ने उसके आधिभौतिक पक्ष को, पर दोनों की साधना का धरातल एक ही था। यदि गांधी के संस्पर्श ने हमें अपने नैतिक कर्तव्य का बोध कराया तो नेहरू ने हमें अपने लौकिक दायित्व के प्रति सचेत किया। शिक्षा दोनों ने दी, एक ने गुरु के पद से, दूसरे ने सखा के। एक ने हम से पूजा पायी, दूसरे ने प्यार, पर दृष्टि दोनों की ओर भावनात्मक ही रही। जैसे 'पूज्य' अपेक्षा करता है एक विशिष्ट प्रकार की रोमैंटिक दृष्टि की वैसे ही 'प्रिय', दोनों को देखने के लिए नेत्रोन्मीलन आवश्यक है, पर एसा नेत्रोन्मीलन जो ज्ञानांजन-शलाका द्वारा नहीं रागांजन-शलाका द्वारा संपन्न हुआ हो।

तो भारत ने जवाहरलाल को प्यार किया, पूरे मन से प्यार किया। यह इस असाधारण व्यक्ति की असाधारणता का प्रमाण ही तो है कि भारत जवाहरलाल का अनुसरण करने के लिए उनसे सहमत होना अनिवार्य नहीं समझता था, उनकी लोकप्रियता और उनके अद्भुत प्रभाव की यह विलक्षणता थी कि यद्यपि विचार-पद्धति में और मान्यताओं में जवाहरलाल ने भारतीय लोकमानस को पूरी तरह प्रतिबिंबित शायद ही कभी किया; विचार, विश्वास और अभिरुचि में वे भारतीय कम, पाश्चात्य अधिक थे, फिर भी भारतीय जनता ने मनसा, वाचा, कर्मणा उनका अनुगमन स्वीकार किया।

अब, जवाहरलाल से विदा होने के साथ, हम अपने रोमैंटिक युग से विदा होते हैं। उनके साथ हमारे स्वप्न विदा होते हैं, हमारी आत्म-स्फीति की रोमैंटिक प्रवृत्ति विदा होती है। मानो अचानक हमें अपनी औक़ात का अंदाजा लग गया हो। मानो हमें अचानक यह मालूम करा दिया गया हो कि हम अपने को जहाँ समझते थे वहाँ से कोसों दूर हैं।

जिस विलक्षण व्यक्ति ने हमें अपने को विराटता का, सामर्थ्य का, महानता का बोध करा दिया उसके हम ऋणी हैं, और रहेंगे। यदि हमने रोमैंटिक को यथार्थ समझा तो यह हमारी भूल है। यदि हम रोमैंटिक को यथार्थ में बदल सकें तो यह विजय होगी—हमसे अधिक बापू और जवाहरलाल की।

—बालकृष्ण राव

शेक्सपियर

रामधारी सिंह 'दिनकर'

शेक्सपियर का युग साहित्य के विशेष नक्षत्रों का युग था। जिस साल शेक्सपियर का जन्म हुआ, उसी साल माइकेल एंजेलो का देहांत हुआ था। इधर भारत की ओर देखें तो शेक्सपियर गोस्वामी तुलसीदास जी के समकालीन थे। शेक्सपियर की मृत्यु सन् १६१६ में हुई जब वे ५२ साल के थे। अजब संयोग की बात कि उसी साल 'डान कियोटी' के लेखक सर्वांटिस का भी देहांत हुआ। तुलसीदास जी सौ सवा-सौ साल जी कर सन् १६२३ में स्वर्ग सिधारे। और इन सभी कलाकारों के विषय में यह बात मज़े में कही जा सकती है कि वे किसी एक युग के कलाकार नहीं थे। जब वे जीवित थे तब अपने समकालीनों के साथ उनका कोई साम्य नहीं था। जब वे मरे तब उनका उत्तराधिकार किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ।

शेक्सपियर की जीवनी के बारे में हमें ज़्यादा जानकारी नहीं है, जैसे हम तुलसीदास जी के विषय में कोई बात निश्चय के साथ नहीं जानते। तब भी जो बातें अनुमान के साथ जानी जा सकी हैं, वे ये हैं कि शेक्सपियर का जन्म स्टैटफ़ोर्ड-आन-एवोन में हुआ था। कुछ दिनों तक उन्होंने गाँव के ही ग्रामर स्कूल में शिक्षा पायी थी और आरंभ या बाद में उन्होंने किसी स्कूल में पढ़ाया भी था। एक बार उन्होंने किसी नवाब का एक हिरन चुरा लिया था जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उनकी संगति अच्छे लोगों के साथ नहीं थी। विवाह उन्होंने एक ऐसी महिला से किया जिसकी उम्र शेक्सपियर की उम्र से आठ साल अधिक थी। कहा यह भी जाता है कि दुनियादारी का भी उन्हें अच्छा तजुर्बा था और अपनी कमाई से उन्होंने एक अच्छी कोठी और कुछ जायदाद भी खरीदी थी।

जिन दिनों शेक्सपियर का जन्म हुआ, उन दिनों इंग्लैंड में काव्यात्मक नाटकों की धूम मची हुई थी। उनके पहले अंग्रेज़ी में मार्लो जैसे नाटककार हो चुके थे जिन्होंने फाउस्ट की कथा पर एक नाटक की रचना की थी। लंदन में उस समय २० नाट्यशालाएँ थीं और नाटक की कंपनियाँ गाँवों में भी काम करती थीं। ऐसी ही किसी कंपनी में शेक्सपियर ने पहले अन्य लेखकों के नाटकों के संशोधन का काम शुरू किया; फिर धीरे-धीरे ख़ुद मौलिक नाटक लिखने लगे। वे नाटक केवल लिखते ही नहीं, कुछ अभिनय भी करते थे, गरचे अभिनय वे साधारण पात्रों का ही करते थे। लिखने का काम उन्होंने केवल २० वर्ष किया। उसके बाद अवकाश ग्रहण करके वे अपने घर में रहने लगे और वहीं उनका देहांत हुआ।

यूरोप में आधुनिक युग का आरंभ उस समय से माना जाता है जब अमेरिका का पता चला। इसलिए, शेक्सपियर का आविर्भाव आधुनिक युग की आरंभिक घटनाओं में से एक महत्वपूर्ण घटना है। शेक्सपियर के जन्म के पूर्व ही बारूद की ईजाद हो चुकी थी, वेधशालाएँ क़ायम होने लगी थीं,

अक्षरों के टाइप ढलने लगे थे और आदमी ने ग्लोब बना लिया था। कोलंबस, वास्को डि गामा और ड्रेक के अनुसंधानों से मनुष्य के मस्तिष्क में एक प्रकार का बौद्धिक कोलाहल आरंभ हो गया था और आदमी की कल्पना पुराने क्षितिजों को पार कर के एक नये आकाश में विहार करने लगी थी।

कवि लेखन का कार्य अपनी आत्मा को देख कर नहीं करता, अपने काल को देख कर करता है; वह अपनी ही प्रसन्नता के लिए नहीं लिखता, अपने युग के संतोष के लिए लिखता है। कवि के भाव उसके युग की हवा में उड़ते रहते हैं, उसके समकालीन समाज के हृदय में गूँजते रहते हैं, मगर सभी लोग इन भावों के गुंजन को नहीं सुन सकते। जो उन्हें सुन सकता है, समझ सकता है और ठीक से पहचान कर उन्हें समुचित भाषा का लिबास पहना सकता है, वही अपने काल का गायक, अपने युग का कवि कहलाता है। शेक्सपियर के नाटकों में से सबसे अधिक धूम 'मैकबेथ' की रही है। यह मत ठीक है कि 'मैकबेथ' के समान तूफ़ानी नाटक इस भूमंडल पर कोई और नहीं है। किंतु, वैयक्तिक चरित्र के रूप में शेक्सपियर का सबसे विलक्षण निर्माण 'मैकबेथ' नहीं, 'हैमलेट' है। 'हैमलेट' की कल्पना प्राचीन काल के लेखक नहीं कर सकते थे। प्राचीनों का ख़्याल था कि आदमी या तो धार्मिक होता है या अधार्मिक; वह अच्छा होता है या बुरा। किंतु, रिनासांस के प्रकाश में जब आदमी के भीतरी रूपों का अध्ययन आरंभ हुआ तब पता यह चला कि आदमी न तो अच्छा होता है, न बुरा। अच्छा और बुरा उसे परिस्थितियाँ बनाती हैं। और रिनासांस के प्रकाश में ही मनुष्य ने यह भी समझा कि वह बुद्धिमान कम, भावनाशील अधिक है। वह जिन प्रवृत्तियों से चालित होता है उनका न तो उसे सम्यक् ज्ञान है, न इन प्रवृत्तियों पर वह अपना नियंत्रण रख सकता है। इसीलिए वह शक्तिशाली होते हुए भी बेबस और बुद्धिमत्ता के रहते हुए भी बुद्धिहीन है।

जिस दृष्टि से आदमी को देखते-देखते शेक्सपियर ने 'हैमलेट' की सृष्टि की, लगभग उसी दृष्टि से आदमी को समझ कर मार्लो ने 'फ़ाउस्ट' लिखा था, सर्वांटिस ने 'डान कियोटी' की कल्पना की थी और टर्सो डी मोलिना ने 'डान जुआन' लिखा था और उसी दृष्टि से सृष्टि को समझ कर मोनतेन ने फ़्रांस में अपना संदेहवादी दर्शन गढ़ा था। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि ये सभी लेखक घट-बढ़ कर आपस में समकालीन थे। 'डान कियोटी' के लेखक ठीक उसी साल मरे जिस साल शेक्सपियर का देहांत हुआ तथा मार्लो की मृत्यु १५९३ ई० में और मोनतेन की मृत्यु १५९२ ई० में हुई। टर्सो डी मोलिना भी इसी के आस-पास स्वर्गीय हुए होंगे।

मार्लो के फ़ाउस्ट की मानसिक उड़ान अगर कुछ कम हुई होती तो आदमी वह अच्छा हुआ होता। अगर उसकी कल्पना-शक्ति कुछ शिथिल हुई होती, अगर साहस और जोश उसमें कम रहा होता तो पुण्य के भाव उसमें अधिक सुदृढ़ हुए होते। किंतु सद्‌गुणों के एकांगी विकास के कारण 'फ़ाउस्ट' दुःखांत नाटक का नायक बन गया। और टर्सो का 'डान जुआन' फ़ाउस्ट के ही प्रेम-पक्ष का अतिरंजित आख्यान है। जहाँ तक डान कियोटी के व्यक्तित्व का सवाल है, डान कियोटी उस सनातन कवि का प्रतीक है जो प्रत्येक मनुष्य के भीतर छिपा रहता है। डान कियोटी की रचना लेखक ने अपने समय के नाइटों पर व्यंग्य कसने को की होगी, किंतु यह कृति एक विचित्र

प्रकार की ट्रैजी-कामेडी बन गयी। डान कियोटी ने जो कुछ भी किया, अच्छे भावों से प्रेरित हो कर किया। किंतु, वास्तविकता हमेशा उसे धोखा देती रही। नतीजा यह हुआ कि डान कियोटी ने वास्तविकता को आदर नहीं, उपेक्षा की वस्तु समझ लिया और यही चीज़ उसकी बर्बादी का कारण हुई। दुनिया के बारे में जो विचार मार्लो, टर्सो और सर्वांटिस के हैं, लगभग वैसे ही विचार फ़्रांसीसी दार्शनिक मोनतेन के भी हैं। उनका विश्वास न तो कल्पना में है, न वास्तविकता में। वे संसार की हर चीज़ को देखते हैं, हर चीज़ को समझते हैं और सब पर हँसते हुए आगे निकल जाते हैं। मोनतेन उस ग़मगीन दार्शनिक के प्रतीक हैं जिसकी सारी पूँजी उसकी निरपेक्ष हँसी होती है जिसके बल पर वह सारी वेदनाओं को झेल कर आगे निकल जाता है।

यही वह पृष्ठ-भूमि है जिस पर शेक्सपियर के हैमलेट को कुछ दूर तक समझा जा सकता है। जो आदमी अपने पुण्य के कारण बर्बाद होता है, दुःखांत नाटक का असली पात्र वही है। हैमलेट जवान है, सुशील है, तेजस्वी और पुण्यवान है। मगर उसके भीतर कोई चीज है जो उसे निर्णय नहीं लेने देती, जो उसे यह बताती है कि कर्म स्थूल वस्तु है, मनुष्य को केवल चिंतन करना चाहिए। हैमलेट सर्वोत्तम मनुष्य भी है और सबसे बुरा आदमी भी। उसका निर्माण पारे से हुआ है, अतएव, उसकी कोई भी अदा स्थिर नहीं रहती।

फिर भी, हैमलेट अनोखा हमें जितना भी लगे, वह बिलकुल अपरिचित व्यक्ति नहीं है। प्राचीन काल में हैमलेट की कल्पना नहीं की जा सकती थी क्योंकि उस समय आदमी की जानकारी कम, मगर उसके मिज़ाज में स्थिरता अधिक थी। हैमलेट का असली समय वह है जिसमें हम जी रहे हैं। ज्यों-ज्यों आदमी के ज्ञान में वृद्धि होती है त्यों-त्यों चिंतक-वर्ग का हाल बुरा होता जाता है। यह युग उन मनीषियों का है जो या तो फ़ाउस्ट के सगोत्री होने के कारण मिट रहे हैं अथवा मिजाज से हैमलेट होने के कारण विनाश को प्राप्त हो रहे हैं; या तो उच्चाभिलाषाओं के कारण टूट रहे हैं या इस कारण बर्बाद हो रहे हैं कि जो बातें उन्हें पसंद नहीं हैं उनसे वे समझौता नहीं कर सकते। वे संसार को केवल भावना से जीतना चाहते हैं, केवल विचारों से बदलना चाहते हैं। लेकिन, दुनिया केवल कर्मवादियों को पूजती है। केवल चिंतन में बसने वाला आदमी धरती को अपने अधिकार में नहीं ला सकता। उलटे वह धोखा खाता है।

क्रिया को छोड़ चिंतन में फँसेगा,
उलट कर काल तुझको ही ग्रसेगा।

फिर भी, हैमलेट की रचना करके शेक्सपियर ने अपना जो संदेश दिया है, वह अद्भुत है। लोग जिसे कोरा भावनाशील समझते हैं उसकी निंदा करने को उसे हैमलेट कह देते हैं। मगर, वे यह बात भूल जाते हैं कि हैमलेट अगर नहीं लिखा गया होता तो शेक्सपियर की गैलरी प्रभाहीन रह गयी होती। हैमलेट उस व्यक्ति का प्रतीक है जो संसार पर आधिपत्य जमा कर उसे दबाना या बर्बाद करना नहीं चाहता। उसके भीतर वैराग्य है, उसके भीतर करुणा है, उसके भीतर कष्ट सहने की प्रवृत्ति है और ये सारे गुण संसार के लिए आवश्यक हैं।

लेकिन, जब हम मैकबेथ को देखते हैं तब एक दूसरी ही दुनिया हमारे सामने आती है जिसमें ज्ञान और भावना के लिए कोई स्थान नहीं है, जो केवल फ़रेब की दुनिया है, जालसाज़ी, धोखा और विश्वासघात का संसार है। मैकबेथ की भूमि ज्ञान नहीं, ठोस कर्म की है और कर्म का जो रूप इसमें निखरा है उसे देखते हुए हर आदमी हैमलेट के साथ हामी भरने को तैयार होगा कि कर्म आदर नहीं, अनादर की वस्तु है। शेक्सपियर ने हैमलेट लिख कर ज्ञान की अनुपयोगिता का वर्णन किया है और मैकबेथ लिख कर उसने यह घोषणा की है कि जब कर्म अपनी अति पर पहुँचता है तो वह सीधे नरक का मार्ग बन जाता है। तो मनुष्य क्या करे? उत्तर शायद मोंनतेन के पास है—सब को देखो, सब को समझो और सब पर हँसते हुए चले जाओ।

शेक्सपियर का शायद यह विश्वास था कि पूर्ण मनुष्य की कल्पना निस्सार है। पूर्ण मनुष्य कभी भी पैदा नहीं होता। उनके सभी चरित्र उस अपूर्णता और कमज़ोरी की झलक दिखा जाते हैं जो अक्सर मनुष्यों में देखी जाती है। इस मामले में वे वाल्मीकि और तुलसीदास के बिलकुल विपरीत हैं क्योंकि वाल्मीकि और तुलसीदास ने ऐसे मनुष्य की भी कल्पना की है जो ईश्वर का समकक्ष है।

एक ही शेक्सपियर ने आदमी के कितने रूपों का सफल प्रतिनिधित्व किया है, यह देख कर आश्चर्य होता है। युद्ध का वर्णन वे सेनापति की तरह करते हैं। अदालतों का दृश्य वे वकील की तरह लिखते हैं और राजा-रानियों का हाल वे इस सफ़ाई से लिखते हैं, मानो, वे ख़ुद कोई दरबारी सामंत रहे हों। हैमलेट के स्वभाव का चित्रण उन्होंने उच्च कोटि के विज्ञानवेत्ता की तरह किया है और राजा लियर की प्रक्षिप्तता उन्होंने इस बारीकी और स्वाभाविकता से चित्रित की है, मानो, वे ख़ुद पागल रहे हों। बड़ों का वर्णन बड़प्पन के साथ और छोटों का चित्रण उनके सहज लाघव के साथ कर के उन्होंने यह बता दिया है कि मनुष्य की प्रत्येक भावदशा का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। यह कहना तनिक भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि विधाता के बाद सबसे अधिक मूर्तियाँ शेक्सपियर ने ही गढ़ी हैं। शेक्सपियर की इस सफलता से चमत्कृत हो कर आलोचक उन रहस्यों का पता लगाना चाहते हैं जिनके प्रयोग से शेक्सपियर ने यह कामयाबी हासिल की होगी। मगर, असली रहस्य कभी भी उनके हाथ नहीं आयगा। जीनियस जिस सीढ़ी से सफलता के शिखर तक पहुँचते हैं उसे खींच कर अपने ही साथ वापस ले जाते हैं।

नयी आलोचना की एक जिज्ञासा यह भी होती है कि अपनी पुस्तकों में ख़ुद लेखक कहाँ छिपा हुआ है। मगर शेक्सपियर कहीं एक जगह पकड़ायी नहीं देते। अपनी रचनाओं के भीतर वे ठीक उसी प्रकार से छिपे हुए हैं जैसे परमेश्वर अपनी सृष्टि में छिपा रहता है। शेक्सपियर ने ३७ नाटक और १५४ सानेट लिखे और इतना लिखने पर भी वे बिलकुल तटस्थ लेखक हैं। ऐसे लेखक होशियारी से नहीं बनते, कोशिश और चालाकी से नहीं तैयार होते, वे कुदरती तौर पर बने-बनाये पैदा होते हैं। उनके विषय में हम जितना ही जानते हैं, उतना ही यह विश्वास ज़ोर पकड़ता है कि जानने की बहुत-सी बातें अभी और बाक़ी हैं। लगता है, शेक्सपियर एक खूंटी हैं जिस पर प्रकृति ने अपने समग्र भेदों को टाँग दिया है।

२

शेक्सपियर की प्रशंसा जिन शब्दों में की गयी है, उन शब्दों का प्रयोग किसी और लेखक या कवि के लिए नहीं किया गया है। कोलरिज ने उन्हें 'अनंत मस्तिष्कों वाला मनुष्य' कहा है। पोप ने उन्हें अनुपम कीर्त्ति का उत्तराधिकारी बताया था। पोप ने यह भी कहा था कि शेक्सपियर और प्रकृति दो नहीं, एक ही हैं। और गेटे पर जब शेक्सपियर का जादू सवार हुआ तो वे बोल उठे थे, "प्रकृति ! प्रकृति ! बस मेरी तो यही पुकार है। शेक्सपियर के मनुष्य जितने प्राकृतिक हैं उतना प्राकृतिक और कुछ भी नहीं है।" शेक्सपियर के नाटक दुर्लभ ज्योतियों की मंजूषा हैं जिनके भीतर मानवता का इतिहास, काल के अदृश्य धागे पर, हमारी आँखों के आगे नृत्य करता है। लेकिन, शेक्सपियर की सबसे बड़ी प्रशंसा मैथ्यू आर्नाल्ड ने की है: Others abide our question, Thou art free. अर्थात् संसार के और लेखक हमारे प्रश्नों के दायरे में हैं, मगर, तुम उस दायरे से आज़ाद हो। तुम उस ऊँचाई पर हो जो ज्ञान के शिखर से भी आगे है।

मनुष्य का मन उसके अंतर्मन की अपेक्षा कमज़ोर है। मनुष्य की बुद्धि दुर्बल, उसकी भावनाएँ और आवेग बलवान हैं। हम जो कुछ भी अच्छा या बुरा, असंभव या अकरणीय कर्म कर बैठते हैं, उसकी प्रेरणा हमारे चेतन नहीं, अवचेतन से आती है। अवचेतन की वे प्रवृत्तियाँ जो अंधी और गूँगी हैं, हमारे कब्ज़े में नहीं हैं; हम अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें चला नहीं सकते; वे ही हमें चलाती हैं और हमसे ऐसे कर्म करवा डालती हैं जिन्हें हमारी बुद्धि नहीं समझ सकती। शेक्सपियर इसी अंतर्मन या अवचेतन के कवि थे। उनका उद्देश्य आदर्श-निरूपण नहीं, मनुष्य की इन्हीं अपरिचित वृत्तियों का चित्रण था। उनके नाटक नाटक नहीं, खेल हैं और खेल होने के कारण ही वे हमें इतने रोचक लगते हैं। उनके नाटक हमारी ज़िंदगी का ख़ाका स्वप्न के रंगों में खींचते हैं, हमारा ही चेहरा हमें वे मुखौटा लगा कर दिखलाते हैं। कर्म में उनका विश्वास नहीं था और चिंतन को भी वे निस्सार समझते थे। इसीलिए मेरा ख्याल है, शेक्सपियर अपने और किसी भी पात्र की अपेक्षा हैमलेट के अधिक समीप हैं। हैमलेट का दोष क्या था ? उसने ज़िंदगी के सपने इतनी सफ़ाई से देखे थे कि जीवन में रहना उसके लिए असंभव हो गया। यही हाल शेक्सपियर का भी हुआ होगा। उनकी क़ब्र का यह शोक-अभिलेख बहुत ही उचित है कि हम उस तरह की सामग्री हैं जिससे स्वप्न बनाये जाते हैं : We are such stuff as dreams are made on.

जब शेक्सपियर का अध्ययन गहराई से किया जाने लगा तब यह देख कर एक समय लोग चकित रह गये थे कि विश्व का यह सर्वश्रेष्ठ कलाकार मौलिक नहीं है। उसने दूसरों से केवल कथावस्तु ही नहीं ली है बल्कि पंक्तियाँ भी उठायी हैं, पंक्तियों के भाव भी लिये हैं। मेरा ख्याल है, अगर यह बात सच भी हो तो इससे शेक्सपियर की महत्ता में कमी नहीं आती। मौलिकता एक ऐसी चीज़ है जिसके अभाव से महाकवियों की शक्ति और छोटे कवियों की दुर्बलता में वृद्धि होती है। अगर मौलिकता की कसौटी ही महत्ता की कसौटी हो तो तुलसीदास जी कहीं के नहीं रहेंगे क्योंकि रामायण की बहुत-सी सर्वोत्तम पंक्तियाँ वे हैं जो संस्कृत में लिखी जा चुकी थीं। साहित्य का एक स्वरूप यह भी है कि उसकी रचना व्यष्टि नहीं, समष्टि करती है। साहित्य

में भी चिराग़ चिराग़ों से जलते हैं। नदी जब समतल पर आती है उसके पहले बहुत-से सोते और नाले उसमें मिल गये होते हैं। उधार लिये बिना साहित्य में कोई बड़ा काम न तो पहले हुआ है, न आगे होगा। जो लोग मौलिकता के नाम पर कवि पर पड़े प्रभावों की खोज करते हैं उन्हें तंदुरुस्त आदमी की तंदुरुस्ती का रहस्य उन सब्ज़ियों, मेंड़ों, बकरों और मुर्ग़ों में खोजना चाहिए जिन्हें वह खा कर पचा चुका है।

दुनिया बहुत पुरानी हो चुकी है। इसमें अच्छे चिंतक भी इतनी अधिक संख्या में हो चुके हैं कि सर्वथा नयी कही जाने वाली बातों का अभाव हो गया है। एक ही तरह के भाव अनेक लोग लिखते हैं, किंतु, यश उनमें से किसी एक को ही मिलता है। मैदान में गेंद तो एक ही रहती है, बड़ाई उसकी है जो एक ख़ास अदा और तेज़ी से उसमें किक मार सके।

साहित्य का सारा इतिहास प्रभावों के आदान-प्रदान का इतिहास है। तुलसीदास ने प्रसन्नराघव से उधार लिया, अश्वघोष ने कालिदास से, अलेक्ज़ेंडर ने फिलिप से, आगस्टीन ने सेंट पाल से, शिलर ने शेक्सपियर से और शेक्सपियर ने प्लूटार्क से; और कहा जा सकता है कि शापेनहार ने कांट से उधार लिया है तथा सर इक़बाल पर नीत्से का क़र्ज़ है। और जब यह उधारबाज़ी नहीं चलती, तब साहित्य का बाज़ार मंद पड़ जाता है। जब भी साहित्य में गतिरोध उत्पन्न होता है, तब समझना चाहिए कि लेखकों का अध्ययन बंद हो गया है अथवा ऐसे माल तक उनकी दृष्टि नहीं जा रही है जो उड़ाने के योग्य हो। और उधारबाज़ी का यही रवाज लेखकों को मशहूर भी करता है। सुकरात का यह सौभाग्य था कि उसे अफ़लातून के समान साहसी चोर मिला जिसे माल हड़पने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं थी। और इसी अफ़लातून ने सुकरात को दुनिया भर में मशहूर कर दिया।

चावल, दाल और नमक तथा लकड़ी बहुत लोग जुटा सकते हैं, मगर, खिचड़ी पकाने की सही कला कोई-कोई ही जानता है। ख़ास कर साहित्य में आग नाम की चीज़ किसी-किसी के ही पास होती है। जिसके पास जागरूक आत्मा है वही उक्तियों को उनके सही प्रसंग में देख सकता है तथा उनका ऐसा विलक्षण प्रयोग कर सकता है कि वे उसी की हो जायँ। शेक्सपियर ने अपने युग में उपलब्ध ज्ञान की सभी राशियों का उपयोग किया, इसीलिए, साहित्य के मंदिर में कीर्त्ति की जितनी भी घंटियाँ टँगी हैं, शेक्सपियर का नाम सभी घंटियों पर बज रहा है।

—उपकुलपति,
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर।

कला की कुछ समस्याएँ

ओमप्रकाश दीपक

मैं जानता हूँ कि यह लेख बहुत बड़ा दुस्साहस है। अपनी अज्ञता से और अपनी सीमाओं से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। फिर भी, दुस्साहस कर रहा हूँ, क्योंकि जो विज्ञ और समर्थ हैं, वे साहस नहीं करते। शायद उनकी विज्ञता और सामर्थ्य ही उन्हें बाँध देते हैं। एक अजीब क़िस्म का जकड़ाव है, जिसे लोग महसूस करते हैं, बेचैन होते हैं, लेकिन विचार के स्तर पर उससे निकल नहीं पाते। अनुभूति के स्तर पर, सृजनात्मक लेखन में कहीं, कभी, किसी की दृष्टि इस जकड़ाव को चीर कर मुक्त होती-सी दिखायी देती है। लेकिन यह मुक्ति टिक नहीं पाती, क्योंकि विचारों का जकड़ाव तो बदस्तूर बना रहता है। इस संघर्ष में, आम तौर पर, बँधे हुए विचारों की ही जीत होती है, और कला की हार।

कभी-कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि विचार और संवेदना के क्षेत्र अलग हैं। उनमें कोई मेल हुए बिना भी काम चल सकता है। यह दृष्टिकोण जीवन के द्वंद्व से ही इनकार कर देता है। फिर उस द्वंद्व को विचार और संवेदना के क्षेत्रों में अलग-अलग पुनर्जीवित करता है, या अलग-अलग उसका समाधान खोजने की चेष्टा करता है। यह स्थिति किसी विशेष विचारधारा के साथ ही हो, ऐसा नहीं है। यह एक व्यापक स्थिति है। हमें मतलब इससे है कि कला के क्षेत्र में (और एक कला के रूप में साहित्य में भी) यह निश्चित रूप से व्याप्त है।

क्या कोई ऐसी चीज़ है जिसे 'आधुनिक संवेदना' का नाम दिया जा सकता है, जिसकी अकसर बात की जाती है? आधुनिक मनुष्य की संवेदना अपनी समग्रता में क्या है, इसकी दसियों व्याख्याएँ मैंने देखी हैं। लगभग पूर्ण सहमति पर आधारित 'समाजवादी यथार्थवाद' से ले कर लगभग पूर्ण असहमति पर आधारित 'थकी हुई पीढ़ी' की 'ताल' कविता तक (अंग्रेज़ी में थकान और ताल दोनों के लिए एक ही शब्द 'बीट' से काम चल जाता है) कितने ही दावेदार हैं। इन दावों की सचाई के सवाल में न जा कर, मैं पहले यह सवाल उठाना चाहूँगा कि इन दावों के लिए क्या पर्याप्त आधार भी है? क्या विश्व की संवेदनात्मक एकता इस हद तक उपलब्ध हो चुकी है कि हम एक आधुनिक मनुष्य की संवेदना की बात कर सकें? आधुनिक चेक संवेदना, और आधुनिक फ़्रांसीसी संवेदना और आधुनिक अमरीकी संवेदना क्या एक ही हैं? और आधुनिक हिंदुस्तानी संवेदना?

हिंदुस्तानी संवेदना की बात करते भी घबराहट होती है। संवेदनशील व्यक्ति के लिए,

'आधुनिक' संवेदनशील व्यक्ति के लिए तो और भी अधिक, इस देश में ज़िंदा रहना भी बड़ा मुश्किल है। इसलिए कि आधुनिक हिंदुस्तानी की संवेदनशीलता उसे केवल विमुक्त कर सकती है, आस-पास की ज़िंदगी से काट कर अलग कर सकती है, कहीं किसी चीज़ से जोड़ नहीं सकती।

इस भयावह स्थिति को मैंने पिछले वर्षों में निरंतर भोगा है। मैं बहुत संवेदनशील हूँ, ऐसा कोई दावा मेरा नहीं है (वर्ना अब तक मर गया होता)। लेकिन जितना कुछ भी हूँ, उसके फलस्वरूप निरंतर कटता रहा हूँ——मित्रों से, सहयोगियों से, पड़ोसियों से, परिवार के सदस्यों से। यह कटना भी बहुत कुछ मनोजगत में ही होता है, क्योंकि मित्र, सहयोगी, पड़ोसी और परिवार वही बने रहते हैं, नये नहीं बनते। केवल उनके साथ मेरे संबंध झूठे पड़ते जाते हैं। अगर कहीं कभी किसी से जुड़ना चाहूँ, तो उसका कोई मूर्त रूप नहीं होता, संवेदना के स्तर पर नहीं होता। मैंने भील युवकों को नाचते हुए देखा है। एक मकान में मैं कुछ वर्षों तक रहा जिसके साथ के तालाब में धोबी दिन भर कपड़े धोते-सुखाते और गाते-हँसते, लड़ते-झगड़ते थे। लेकिन कोई भील या जुलाहा कभी मेरा मित्र नहीं रहा, कोई धोबिन या रंगरेजिन कभी मेरी प्रेमिका नहीं रही। कभी किसी से कोई रागात्मक या संवेदनात्मक संबंध नहीं रहा। पश्चिम का लेखक या कवि शायद मेरी समस्या को, मेरी यातना को, मेरे अकेलेपन को समझ ही नहीं पायगा। 'आधुनिक संवेदना' का हिंदी कवि भी समझ पायगा या नहीं, यह मैं नहीं जानता।

बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है कि मैं एक कोठरी में बंद हूँ और बाहर खुली दुनिया है। दिक़्क़त यह है कि हम सब कोठरियों में बंद हैं, और निकल कर बाहर सिर्फ़ अकेलेपन में जा सकते हैं। ये कोठरियाँ इतनी वास्तविक हैं कि इनमें से निकलने वालों के लिए भी, आपस में जुड़ना तो क्या, एक-दूसरे के बारे में जानना भी मुश्किल होता है। और पूरी तरह निकल भी कौन पाता है? पूर्ण एकांत में कौन रह सकता है?

द्वंद्व और द्विविधाएँ

लेकिन आधुनिक हिंदुस्तानी संवेदना है तो क्या है, इसकी बहस भी मुझे यहाँ नहीं चलानी। मेरी कठिनाई यह है कि मैं विचार और संवेदना को एक दूसरे से पूर्णतः असंबद्ध नहीं कर सकता, ज़िंदगी के द्वंद्व से इनकार नहीं कर सकता। और यह मजबूरी मुझे वापस अपनी द्विविधा पर ले आती है जिसमें विचार अपर्याप्त होते हैं, संवेद्य अनुभव की व्याख्या नहीं कर पाते, और संवेदना निःशक्त होती है, किसी विचार-व्यवस्था को या जीवन-प्रक्रिया को जन्म नहीं दे पाती, जो पर्याप्त हो, या कम से कम पर्याप्त प्रतीत हो। यही मजबूरी मुझे आज यहाँ तक ले आयी है कि मैं कुछ परीक्षणात्मक स्थापनाएँ प्रस्तुत करूँ, इसलिए नहीं कि इनमें समस्या का बना-बनाया हल मौजूद है, इसलिए कि शायद इनसे विचार और विमर्श की कुछ नयी दिशाएँ खुलें, जिससे आगे चल कर इस द्विविधा का अंत हो। यक़ीनन इसके बाद नयी द्विविधाएँ आयेंगी, नयी समस्याएँ उठेंगी। लेकिन यह तो हर पीढ़ी के साथ, या कम से कम हर छोटे या बड़े काल-खंड

के साथ होता है। हर छोटे या बड़े युग की अपनी द्विविधाएँ, समस्याएँ होती हैं। उसकी चिंता करना हमारे लिए न आवश्यक है, न वांछनीय।

यहाँ कोई दार्शनिक विवेचन करना मुझे इष्ट नहीं है। लेकिन मनुष्य-जाति के सारे वैचारिक इतिहास में मुझे दृष्टि का एक ऐंचापन नज़र आता है, और मुझे लगता है कि इस ऐंचेपन को दूर किये बिना हम कभी उस तरह की द्विविधा से निकल नहीं पायेंगे, जिसमें हम आज अपने को फँसा हुआ पाते हैं। सारी ही मानवी सभ्यताएँ अब तक संवेद्य-जगत को (जो सौंदर्य-जगत भी है) आम तौर पर भ्रम की ही संज्ञा देती आयी हैं, और उन्होंने संज्ञान-जगत (अर्थात् यथार्थ की खोज और उपलब्धि) को ही सत्य माना है। यह बात आधुनिक वैज्ञानिक के लिए उतनी ही सच है, जितनी पुरातन ब्रह्मज्ञानी के लिए थी, बल्कि शायद ज़्यादा सच है।

मिसाल के लिए, समांतर रेखाओं का क्षितिज पर मिलना एक ऐसी बात है जिसे कोई मामूली जानकारी रखने वाला व्यक्ति भी तत्काल 'भ्रम' कह देगा। और उसके साथ कोई झगड़ा भी नहीं किया जा सकता। वह बेचारा सच ही कहता है। लेकिन इस मामूली सी सचाई को इसकी तार्किक परिणति तक ले जाएँ तो संपूर्ण सौंदर्य-जगत भ्रममात्र रह जाता है। मैं इसकी एक बड़ी मामूली सी मिसाल दूंगा। ताजमहल के द्वारों के साथ काले पत्थरों की दोहरी गोट-सी बनी हुई है, और उसकी रेखाएँ नीचे से ऊपर तक समांतर नज़र आती हैं। रेखागणित का कोई भी विद्यार्थी बता देगा कि यह एक भ्रम है। इसी प्रकार ताज के चबूतरे के चारों कोनों पर बनी हुई मीनारें कुछ तिरछी बनी हैं, ताकि देखने में सीधी लगें। ज़ाहिर है कि विज्ञान की दृष्टि में ताज-महल का सारा सौंदर्य एक भ्रम है। इससे एक क़दम और आगे बढ़ें, तो न केवल ट्रॉय की हेलेन और महाभारत की सत्यवती और द्रौपदी का सौंदर्य——ऐतिहासिक व्यक्ति लेना चाहें तो पद्मिनी का——भ्रममात्र था (दार्शनिक ही नहीं, वैज्ञानिक दृष्टि से भी), वरन् वीनस की मूर्ति और मोना-लिसा का चित्र, खजुराहो और महाबलिपुरम, एलोरा और अजंता, सब का सौंदर्य केवल भ्रम है, यथार्थ नहीं, केवल यथार्थ का भ्रम है। अब हम बड़ी आसानी से नतीजा निकाल सकते हैं कि भ्रम ही अनश्वर है, भ्रम ही शाश्वत है, क्योंकि केवल भ्रम ही जीवित रहता है।

संवेद्य और संज्ञान-जगत् की भाषाएँ

बात बिल्कुल अनर्गल प्रतीत होती है। लेकिन इसमें कहीं कोई तर्क-दोष नहीं है। कठि-नाई यह है कि हम संज्ञान-जगत की भाषा में संवेद्य-जगत की बात कर रहे हैं, जबकि संवेद्य-जगत का यथार्थ, सौंदर्य का यथार्थ, संज्ञान-जगत के यथार्थ से, वैज्ञानिक या दार्शनिक यथार्थ से बिल्कुल भिन्न कोटि का होता है।

संज्ञानात्मक अनुभव के कितने ही विभाजन-उपविभाजन हैं, और हर-एक के अलग-अलग विवरण, विज्ञान या दर्शन हैं। इसके विपरीत सौंदर्यात्मक अनुभव की चर्चा अगर होती है तो भ्रम के रूप में (दर्शन और मनोविज्ञान में) या गौण रूप में (कला के एक अंग और उसकी एक सामग्री के रूप में)। इसका कारण क्या है? माया या जीवन में महत्व की दृष्टि से सौंदर्या-त्मक अनुभव का स्थान किसी प्रकार संज्ञानात्मक अनुभव से कम नहीं है। फिर सौंदर्यात्मक

अनुभव को समझने की ओर इतना कम ध्यान क्यों दिया गया है? क्या इसका एक कारण यह भी रहा है कि अब तक की सारी सभ्यताएँ पुरुष-प्रमुत्व की सभ्यताएँ रही हैं? कुछ दिन पहले एक आधुनिक पश्चिमी दार्शनिक की व्याख्या मैंने पढ़ी थी कि अठारहवीं शताब्दी तक मनुष्य के विचारों का केंद्र ईश्वर था। उसके बाद मनुष्य स्वयं हो गया (या पुरुष स्वयं? पश्चिमी शब्दावली में तो मान लिया जाता है कि पुरुष में स्त्री भी शामिल है!)। जो भी हो—और इस संबंध में कोई 'दुस्साहस' करने की क्षमता भी मुझमें नहीं है—इसमें कोई शक नहीं कि सौंदर्यात्मक अनुभव को समझने का प्रयास बहुत कम हुआ है।

ऐसा कहा जा सकता है कि सौंदर्यात्मक अनुभव का क्षेत्र कला है, और वहाँ उसके साथ पूरा न्याय हुआ है। लेकिन एक तो सृजनात्मक क्रिया समझने की क्रिया से बिल्कुल भिन्न होती है (मैंने कोशिश की है कि विश्लेषण और विवेचना जैसे संज्ञानात्मक संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग यथासंभव न करूँ। किंतु सौंदर्यात्मक संदर्भ की शब्दावली के अभाव में प्रचलित शब्दों से काम चलाना पड़ रहा है। यूँ मैं समझता हूँ कि सौंदर्यात्मक अनुभव को समझने की प्रक्रिया विकसित होने पर संभवतः उसकी आधार-सामग्री ही नहीं उसकी पद्धतियाँ भी संज्ञानात्मक विज्ञानों से भिन्न होंगी) दूसरे, ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर आसानी से कहा जा सकता है कि कला में संज्ञानात्मक अनुभव का स्थान सौंदर्यात्मक अनुभव से किसी प्रकार कम नहीं रहा। बल्कि संज्ञानात्मक अनुभव का ही पल्ला कुछ भारी रहा है। यह बात साहित्य ही नहीं, चित्रों और मूर्तियों में और संगीत जैसी अमूर्त कला में भी सच है।

कलागत द्विविधाएँ

अब हम कला की कुछ समस्याओं पर भी नज़र डाल सकते हैं। कला की समस्याएँ भी कुछ द्विविधाओं के रूप में हमारे सामने आती रही हैं—सत्य और सौंदर्य, अभिव्यक्ति और संप्रेषण, कथ्य और शिल्प, तलाश और उपलब्धि। इनमें से पहली द्विविधा को, जो कुछ मैं ऊपर कह चुका हूँ उसकी दृष्टि में पुनः निरूपित करना चाहूँगा। द्विविधा दरअस्ल सत्य और सौंदर्य की नहीं, संज्ञानात्मक सत्य और सौंदर्यात्मक सत्य की है। 'शिव' के प्रश्न को मैं इसमें नहीं जोड़ना चाहूँगा। 'शिव' की खोज हर युग को, हर पीढ़ी को, और कुछ अर्थों में हर व्यक्ति को अपने लिए स्वयं करनी पड़ती है। क्या होना या करना चाहिए, इस संबंध में मेरे अपने विचार चाहे जितने भी दृढ़ हों, मैं उन्हें अटल नियमों के रूप में भविष्य के लिए नहीं छोड़ जाना चाहूँगा, क्योंकि आज वे विचार चाहे बिल्कुल सही हों, भिन्न स्थिति में निश्चय ही ग़लत या अपर्याप्त या अप्रासंगिक होंगे। इसके विपरीत, क्या है, या होता है, इस संबंध में अगर कोई बात आज सही है तो हमेशा सही रहेगी, आज ग़लत है, तो हमेशा ग़लत रहेगी। उसके सही या ग़लत होने को कब समझा जाता है, या नहीं समझा जाता, यह अलग बात है।

कला का जन्म इस कारण होता है कि मनुष्य निरंतर संज्ञानात्मक अनुभव में सौंदर्य की और सौंदर्यात्मक अनुभव में ज्ञान की तलाश करता रहता है। कला इस खोज की एक उत्पत्ति है—वह स्थिति जिसमें सत्य के ये दोनों रूप न्यूनाधिक समन्वित और समरस होते हैं। तलाश

और उपलब्धि की यह प्रक्रिया अनंत है, और इस कारण जहाँ हम कह सकते हैं कि यह समरसता जितनी पूर्ण होगी, कला उतनी ही श्रेष्ठ होगी, वहीं हम अपनी चौथी द्विविधा को भी हल कर सकते हैं——कला तलाश भी है, और उपलब्धि भी।

मैं कह चुका कि कला हमारी तलाश की एक उत्पत्ति है। वस्तुतः, विभिन्न स्तरों पर, सामान्य क्रियात्मक सत्यों से ले कर सत्य के उस व्यापक रूप की खोज तक, जिसमें सत्य के उक्त दोनों रूप समाविष्ट हों (उसकी पूर्णता या परिवर्तनीयता से हमें बहस नहीं), हमारी बहुसंख्यक मानसिक क्रियाएँ इसी तलाश का फल होती हैं। संज्ञानात्मक सत्य की तलाश इससे अलग प्रतीत होती है। लेकिन उसे भी क्या इसकी एक शाखा के रूप में देखना अधिक उपयुक्त न होगा, एक दिशा जिसमें मनुष्य दूसरे पक्ष की उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ता गया? उसी तरह जैसे, सौंदर्यात्मक सत्य की तलाश अगर अलग से विकसित हुई, तो वह उस तलाश की एक शाखा होगी? लेकिन हम कला की समस्याओं पर वापस आयें, जहाँ सत्य के दोनों रूप मिलते हैं।

संज्ञान और संवदेना का सामरस्य

संज्ञान और संवेदना की समरसता कला का प्रतिमान है, किंतु हर कलाकार अपना संतुलन स्वयं स्थिर और प्राप्त करता है, जिसमें पल्ला कभी इधर झुक जाता है, कभी उधर। कला-समीक्षकों की दृष्टि भी कभी एक ओर झुकती है, कभी दूसरी ओर। तॉल्स्तॉय और दास्तोएव्स्की में कौन बड़ा है? या, ज़्यादा लंबी छलाँग लगाएँ, कालिदास और शेक्सपियर में कौन बड़ा है? सब मिला कर, अभी तक संज्ञानात्मक सत्य का पल्ला कुछ भारी रहा है। लेकिन श्रेष्ठ कला वही रही है जिसमें किसी प्रकार का संतुलन ही नहीं, समरसता भी हो, अनुपात चाहे जो भी हो।

यहाँ इस प्रश्न के मनोवैज्ञानिक पहलुओं में जाने की आवश्यकता नहीं है। किंतु आधुनिक (या आधुनिकतावादी कहना शायद अधिक उपयुक्त होगा) पश्चिमी कला ने जिस रीति से इस द्विविधा का सामना करना चाहा है, उस पर एक नज़र डाल लेना शायद अनुपयुक्त न होगा। आधुनिक पश्चिमी कला मूलतः संवेदना की कला है। लेकिन उसकी प्रक्रिया उलटी है। उसका प्रस्थान-बिंदु सौंदर्य नहीं, सौंदर्य का अभाव है, जो संज्ञान-जगत के प्रभुत्व ने उत्पन्न किया है। अतः उसकी संवेदना बौद्धिकता को सौंदर्य प्रदान करने की चेष्टा करती है। इसे हम एक प्रकार का प्रत्याक्रमण कह सकते हैं। यह कला-संवेदना को उसके अपने जगत से निकाल कर संज्ञान-जगत में ले जाती है, उसे बौद्धिक बनाती है। स्पष्टतः अपने प्रयास में यह एक सीमा से आगे नहीं जा सकती, क्योंकि संवेद्य-अनुभव को 'भ्रम' मानने की ग़लती बनी रहती है। अपनी कठिनाई के निराकरण के लिए यह 'भ्रम' के पीछे छिपे यथार्थ में सौंदर्य की खोज करती है, और उसके लिए बहुधा अवचेतन का सहारा लेती है। सौंदर्यात्मक सत्य को समझने में इसके प्रयासों और उपलब्धियों-असफलताओं से बड़ी मदद मिलेगी, लेकिन अपने-आप में इसकी सीमाएँ इसके स्वरूप में ही निहित हैं। यह कला को या तो दर्शन की ओर ले जाती है, या फिर विचार और संवेदना की असंबद्धता की ओर।

आम तौर पर ऐसा रहा है कि संज्ञानात्मक सत्य के पक्षधर सत्य की उपलब्धि को कला का लक्ष्य मानते रहे हैं, और सौंदर्यात्मक सत्य के पक्षधर, सौंदर्य के माध्यम से सत्य की तलाश को। कला कभी भी केवल उपलब्धि या केवल तलाश नहीं हो सकती। यही नहीं, इनमें से किसी एक को ही कला का लक्ष्य मानना भी कला को भ्रष्ट और विकृत करता है। उपलब्धि को लक्ष्य मानने पर कला उपदेशात्मक, जड़, नीरस हो जाती है, और केवल तलाश को लक्ष्य मानने पर मात्र चौंकाने वाली या खुजली उत्पन्न करने वाली, और अक्सर बचकानी। जीवन में उपदेश का भी महत्व हो सकता है, और चौंकाने का भी, लेकिन इन्हें कला का लक्ष्य मानना भूल होगी। श्रेष्ठ कला जिस तरह सत्य की किसी झलक को व्यक्त रूप देती है, उसी तरह सत्य की तलाश को भी (यहाँ सत्य में उसके संज्ञानात्मक और सौंदर्यात्मक दोनों ही रूप सम्मिलित हैं)।

कला--अभिव्यक्ति या संप्रेषण ?

इसके बाद भी यह सवाल रह जाता है कि कला अभिव्यक्ति है या संप्रेषण, या दोनों ही। मैं इसमें बहस की बहुत ज़्यादा गुंजाइश नहीं देखता कि कला दोनों ही है। लेकिन इस लेख की अन्य स्थापनाओं की स्वीकृति या अस्वीकृति से लाज़मी तौर पर यह नतीजा नहीं निकलता कि आप इस प्रश्न पर भी मुझसे सहमत या असहमत हों। लेकिन लाज़मी न होने पर भी, यह प्रश्न अन्य प्रश्नों से जुड़ा हुआ है। मिसाल के लिए, कला को मात्र अभिव्यक्ति मानने वालों की दृष्टि में कभी-कभी एक बड़ा कारण यह भी रहा है कि कला को संप्रेषण मानने वालों ने बहुधा यह चेष्टा की है कि कला की शाश्वत तलाश को न केवल कला संबंधी रूढ़ियों में, वरन् किसी संस्थापित सामाजिक संगठन की रूढ़ियों में भी बाँध दें। संज्ञानात्मक सत्य और सौंदर्यात्मक सत्य की सम-रसता को कला का लक्ष्य मानने वाला कभी ऐसी ग़लती नहीं करेगा। दूसरे, कला कितनी भी अमूर्त क्यों न हो, संप्रेषण तो होता ही है, चाहे केवल सौंदर्यानुभूति का ही हो। मैं डरता हूँ कि ये मित्र कहीं मुझे भी अपना दुश्मन न मान लें कि मैं सौंदर्य-जगत के सत्य को 'समझना' भी चाहता हूँ, जब कि इनकी राय में वह केवल 'ग्रहण' करने की वस्तु है। दरअस्ल, इनकी दृष्टि किसी कला-कार को स्वयं भले ही संतोष प्रदान करे, कला को ज़िंदगी से काट कर 'भ्रम' को शाश्वत बनाती है।

कुछ लोग इस अनर्गलता को स्वीकार कर सकते हैं। ज़िंदगी ही अनर्गल है, अर्थहीन है, इसलिए कला भी अर्थहीन है, अनर्गल है, और कला संबंधी सारी विवेचना भी। दरअस्ल भ्रम ही शाश्वत है। ऐसे मित्रों से मैं यहाँ केवल इतना ही निवेदन करूँगा कि मैंने अभी हार नहीं मानी है, और मैं उम्मीद करता हूँ कि मनुष्य कभी हार नहीं मानेगा। मैं जानता हूँ कि मनुष्य अपूर्ण है, हमेशा अपूर्ण रहेगा। इसके साथ ही मैं जोड़ देना चाहूँगा कि अपनी अपूर्णता के एहसास ने ही मनुष्य में पूर्णता की तलाश जगायी है, और यह तलाश भी तब तक चलेगी, जब तक अपूर्णता का एहसास रहेगा।

इस बात को इस असहमति पर ही छोड़ दूं। ज़िंदगी को ही अनर्गल मानने के अतिरिक्त अन्य किसी दृष्टि से देखने पर इसमें बहस की जगह नहीं रहती कि कला अभिव्यक्ति भी है और

संप्रेषण भी। यहाँ भी अब तक संप्रेषण का पलड़ा भारी रहा है, विशेषतः साहित्य में जिसका माध्यम, भाषा, नित्यप्रति के जीवन में ही व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त होने वाला सामाजिक संप्रेषण का माध्यम है, गो यह बात संगीत जैसी अमूर्त कला के लिए भी सच रही है। संस्थापित सामाजिक संगठन की रूढ़ियों में कला को बाँधने की बात भी साहित्य के लिए सब से अधिक सच रही है। अकलात्मक कसौटियों और प्रतिबंधों का शिकार जितना साहित्य रहा है, उतना अन्य कोई कला नहीं, यद्यपि कोई भी कला इससे मुक्त नहीं रही। मुझे एक संगीतकार ने बताया कि एक विशिष्ट प्रकार का वासनात्मक संगीत गिरजाघरों के लिए निषिद्ध है, लेकिन संगीत पर रोक केवल गिरजाघरों में है। चित्रकला के संबंध में भी अब दृष्टि काफ़ी उदार हो गयी है। लेकिन साहित्य और नाटक जैसी कलाएँ अभी सामाजिक, राजनीतिक और क़ानूनी प्रतिबंधों के दायरे में ही चल पाती हैं।

प्रासंगिक रूप में यहाँ कहा जा सकता है कि कला का संघर्ष जीवन के संघर्ष से जुड़ा हुआ है। कला अभी कहीं भी सचमुच स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि मनुष्य अभी कहीं भी सचमुच स्वतंत्र नहीं है।

कथ्य और शिल्प का द्वन्द्व

हमारी अंतिम द्विविधा जो रह जाती है, वह कला की अंतर्वस्तु की, कथ्य और शिल्प की है। कला मात्र कथ्य है, ऐसा तो नहीं कहा जाता है, लेकिन कला मात्र शिल्प है, ऐसा कभी-कभी कुछ लोग कहते हैं। कथ्य के पक्षधरों को 'कला मात्र कथ्य है' ऐसा कहने की ज़रूरत भी नहीं पड़ती क्योंकि अभी तक कला कथ्य-प्रधान ही रही है। इसकी प्रतिक्रिया शिल्प के पक्षधरों को कुछ बचकानी स्थापनाओं तक ले जाती है। काफ़ी दिन हुए मैंने आधुनिक कहे जाने वाले एक भारतीय चित्रकार श्री रामचंद्र शुक्ल का एक लेख पढ़ा था कि आधुनिक कला मूलतः वैसी ही है जैसी किसी क़ालीन पर कढ़ी हुई ज्यामितीय आकृति। उस आकृति में हम कोई अर्थ नहीं खोजते, उसके सौंदर्य से संतुष्ट हो जाते हैं। फिर कला में ही अर्थ क्यों खोजें? इस प्रकार की व्याख्या आधुनिक कला को उसकी बौद्धिकता से भी वंचित कर के उसे मात्र कारीगरी बना देती है। मैं समझता हूँ कि अधिकांश आधुनिक कलाकार भी इस व्याख्या से सहमत न होंगे। लेकिन यह व्याख्या, और आधुनिक कला की अन्य व्याख्याएँ भी इस भ्रम पर आधारित हैं कि सौंदर्य केवल यथार्थ का भ्रम है। वे अर्थमयता के प्रश्न को भी अप्रासंगिक मान लेते हैं, क्योंकि भ्रम अर्थमय कैसे हो सकता है? संवेद्य सत्य को, सौंदर्यात्मक सत्य को संज्ञानात्मक सत्य से भिन्न कोटि का सत्य मान कर देखें, तो यह समझने में विशेष कठिनाई नहीं होगी कि सौंदर्य की अपनी अर्थमयता होती है, क़ालीन पर बनी हुई ज्यामितीय आकृति की भी।

मात्र शिल्प, अगर उस दिशा में, उस ढंग से विकसित किया जाए, तो सौंदर्य का विज्ञान बन सकता है। सामान्यतः वह केवल किसी सौंदर्यात्मक सत्य (या तथ्य ?) को व्यक्त करता है। उसी तरह, जैसे मात्र कथ्य केवल किसी संज्ञानात्मक तथ्य को व्यक्त करेगा। लेकिन, जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, कला का जन्म इस कारण होता है कि मनुष्य निरंतर ज्ञान में सौंदर्य की और

सौंदर्य में ज्ञान की तलाश करता रहता है। और जब कहीं दोनों की मिली-जुली झलक उसे मिलती है, तो उसके अंदर का कलाकार उसे व्यक्त करने और सार्विक अनुभव का एक अंग्र बनाने को व्याकुल हो उठता है। यह झलक या अनुभूति मात्र कथ्य नहीं है, वरन कला का ही भ्रूण रूप है। कला के क्षेत्र में भ्रूणपात बहुत होते हैं। विकलांग शिशु भी बहुत होते हैं। लेकिन इसे अभी छोड़ें। कला के इस भ्रूण का उदय होने के बाद उसके कथ्य और शिल्प का अंगांगि-विकास होता है।

मोटे तौर पर, इस अंगांगि-विकास में शिल्प का संबंध सौंदर्यात्मक सत्य से होता है, लेकिन मात्र उसी से नहीं, और कथ्य का संज्ञानात्मक सत्य से, लेकिन मात्र उसी से नहीं। कुछ उसी तरह, जैसे स्त्रीत्व और पुरुषत्व के गुणों को अलग-अलग निरूपित किया जा सकता है, लेकिन किसी भी जीवित स्त्री में केवल स्त्री के ही नहीं, कुछ (कम या ज़्यादा) पुरुषत्वपरक गुण भी होते हैं, और हर जीवित पुरुष में कुछ स्त्रीत्वपरक गुण भी होते हैं। बल्कि, तलाश और उपलब्धि की बात को भी शामिल करके ऐसा कहा जा सकता है शिल्प में संवेद्य-सत्य की उपलब्धि प्रमुख रहती है, तलाश गौण; संज्ञानात्मक सत्य की तलाश प्रमुख रहती है, उपलब्धि गौण। दूसरी ओर कथ्य में संज्ञानात्मक सत्य की उपलब्धि प्रमुख रहती है और तलाश गौण ; संवेद्य-सत्य की तलाश प्रमुख रहती है, उपलब्धि गौण। जहाँ इन चारों तत्वों का विकास संतुलित और समरस नहीं हो पाता, वहाँ गर्भपात होता है, या शिशु विकलांग होता है।

शिल्प-पक्ष अविवेचित

यहाँ एक और प्रश्न बड़ा ही महत्वपूर्ण है। अनुभूति के कथ्य-पक्ष का निरूपण अपेक्षतया आसान होता है। मनुष्य की तमाम संज्ञानात्मक उपलब्धियाँ इसमें सहायक होती हैं। किंतु शिल्प-पक्ष का विकास बहुत कुछ आकस्मिक होता है, क्योंकि मनुष्य की सौंदर्यात्मक उपलब्धियाँ सृजनात्मक हैं, विवेचनात्मक नहीं। अभी तक उन्हें केवल ग्रहण किया जाता रहा है, समझा नहीं गया। फलस्वरूप, किसी विशिष्ट अनुभूति का सौंदर्य-पक्ष किस माध्यम की माँग करता है, उस माध्यम की किस विधा की माँग करता है, उस विधा में किस प्रकार के शिल्प की माँग करता है, ये प्रश्न सामान्य न हो कर बहुत-कुछ वैयक्तिक ही रह जाते हैं। और कलाकार के पास भी स्वयं अपनी प्रतिभा, अपने अनुभव और अपने प्रशिक्षण के अतिरिक्त कोई सामान्य मार्ग-दर्शक प्रतिमान नहीं होते। यह सही है कि विभिन्न कलाओं के बीच, उनके माध्यमों, विधाओं और शिल्प के बीच कोई अनुल्लंघनीय सीमाएँ नहीं हैं। व्यवहार में, ऐसी कोई सीमाएँ संज्ञानात्मक यथार्थ के क्षेत्र में भी नहीं हैं। किंतु हमारी समझ को बढ़ाने के लिए जिस प्रकार संज्ञानात्मक यथार्थ के अध्ययन को विभाजित करना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक होता है, उसी प्रकार संवेद्य सत्य को समझने के लिए भी, अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग अध्ययन आवश्यक होगा।

इस दिशा में अगर पर्याप्त विकास हो, तो मानवी सभ्यता और संस्कृति के लिए इसके बड़े गंभीर और दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। सामान्य विज्ञान और सामाजिक विज्ञान जिस

प्रकार आज किशोर विद्यार्थियों को संज्ञानात्मक उपलब्धियों और भौतिक यथार्थ के कुछ आधारभूत नियमों से परिचित कराते हैं उसी तरह किसी दिन शायद ऐसा हो सके कि सामान्य सौंदर्य-बोध हमारे किशोरों को सौंदर्यात्मक उपलब्धियों का और संवेद्य-सत्य के कुछ आधारभूत नियमों का परिचय दे। आज यह काम बच्चों को गिलास और सुराही की आकृतियाँ खींचना और मिट्टी या कागज़ के खिलौने बनाना सिखा कर करने की चेष्टा की जाती है। बच्चे के मानसिक विकास के संदर्भ में भी इसका मूल्य संदेहास्पद ही है। सौंदर्य-बोध के विकास के लिए यह न केवल सर्वथा अपर्याप्त है, वरन् यह विकास 'कला और शिल्प' के नाम पर दी गयी इस शिक्षा से होता ही नहीं है। ऐसा नहीं है कि सामान्य सौंदर्य-बोध की शिक्षा हर बच्चे को कलाकार बना देगी, लेकिन सारे समाज की कलात्मक रुचि में न केवल मात्रा का, वरन् गुणात्मक विकास भी इससे हो सकेगा। कला की उपलब्धियाँ आज की भाँति कुछ लोगों तक ही सीमित न रहेंगी, वरन् जन-सामान्य में भी रस-ग्रहण की क्षमता आयगी और बढ़ेगी। कलाकारों की संख्या भी बढ़ेगी, उनकी उपलब्धियों में उत्तरोत्तर विकास भी होगा।

सैद्धांतिक पराकाष्ठाएँ

अभी इस क्षेत्र में कुछ सैद्धांतिक पराकाष्ठाएँ मान्य हैं। एक ओर यह दृष्टि है कि सौंदर्य-बोध के कोई नियम नहीं हो सकते। हर व्यक्ति को अपने सौंदर्य-बोध का स्वयं ही विकास करना पड़ेगा। यह स्थिति कुछ वैसी ही है जैसे कोई वैज्ञानिक अब तक की वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए कहे कि मैं उन्हें स्वयं प्रयोगशाला में परख लेने के बाद ही स्वीकार करूँगा। बल्कि, वैज्ञानिक रीति-विधान को भी अस्वीकार कर के ऐसी सारी ग़लतियाँ करना मंज़ूर करे जो समझी जा चुकी हैं। ज़ाहिर है कि किसी एक आदमी की ज़िंदगी इसके लिए सर्वथा अपर्याप्त होगी। सौंदर्य-बोध के साथ भी ऐसा नहीं है कि हर व्यक्ति नये सिरे से सब कुछ सीखता हो। सौंदर्य संबंधी कुछ धारणाएँ हमें परंपरा से प्राप्त होती हैं, लेकिन सौंदर्य-बोध का कोई रीति-विधान न होने से ये धारणाएँ बहुधा भ्रामक और ग़लत होती हैं—जैसे यह धारणा कि मनुष्य की चमड़ी का गोरा रंग सबसे सुंदर होता है, और काला सबसे कम। संज्ञान-जगत के संबंध में भी ऐसी बहुतेरी भ्रामक धारणाएँ प्रचलित होती हैं, लेकिन उन्हीं लोगों के बीच जो वैज्ञानिक उपलब्धियों से अपरिचित होते हैं—दुनिया में अब भी ऐसे बहुतेरे लोग होंगे जो यही समझते हैं कि सूरज और चाँद पृथ्वी का चक्कर लगाते हैं, या कि एक गिलास पानी और एक गिलास दूध का भार एक ही होगा।

दूसरी पराकाष्ठा पर सौंदर्य संबंधी कुछ व्यावहारिक नियम रूढ़ हो गये हैं। वस्तुतः सौंदर्य-बोध के सैद्धांतिक नियमों के अभाव में व्यावहारिक नियमों की रूढ़ि का कोई औचित्य नहीं है। ऐसे नियम मार्ग-दर्शन करने के बजाय केवल बाँधते हैं, और सौंदर्य-बोध जड़, निष्प्राण और बहुत-कुछ यांत्रिक हो जाता है। हिंदुस्तान में हम बड़ी हद तक इसके शिकार हुए हैं। कला के संदर्भ में, शिल्प संबंधी विस्तृत नियमों से कलाकार को जकड़ दिया गया है। उससे अगर वह निकलता है, तो पहली पराकाष्ठा की अव्यवस्था में।

सौंदर्य-बोध का उपयुक्त रीति-विधान वह होगा जो हमें सौंदर्य संबंधी कुछ सामान्य मार्ग-दर्शक सिद्धांत प्रदान करे, जिनका व्यावहारिक उपयोग करते समय ही व्यक्ति स्वेच्छा से शिल्प संबंधी प्रयोग करने को स्वतंत्र रहे। ऐसे सामान्य सौंदर्य-बोध की शिक्षा हर व्यक्ति को कलाकार नहीं बनायेगी, हर व्यक्ति को सौंदर्य-शिल्पी भी नहीं बनायेगी (गो उनकी संख्या निस्संदेह बहुत बढ़ जायगी), किंतु हर व्यक्ति की सौंदर्य-चेतना को अवश्य विकसित करेगी। हर व्यक्ति को सौंदर्य के प्रति जागरूक बना कर, उसमें रस-ग्रहण की क्षमता को विकसित कर के, समूचे समाज के सांस्कृतिक प्रतिमानों को निस्संदेह बहुत आगे ले जायगी।

क्या इसके बाद यह कहने की आवश्यकता रह जाती है कि कला मात्र शिल्प या मात्र कथ्य नहीं है, दोनों में से कोई एक प्रमुख और दूसरा गौण भी नहीं है? दोनों अन्योन्याश्रित हैं। श्रेष्ठ कला के ये दोनों पक्ष अविच्छिन्न होते हैं। आदमी के दिल और दिमाग़ का अलग-अलग अध्ययन किया जा सकता है, लेकिन क्या कोई कह सकता है कि स्नायु-तंत्र और रक्त-संचार में एक प्रमुख और दूसरा गौण है?

—८७४४ शोदीपुरा, करौल बाग़,
नयी दिल्ली-५।
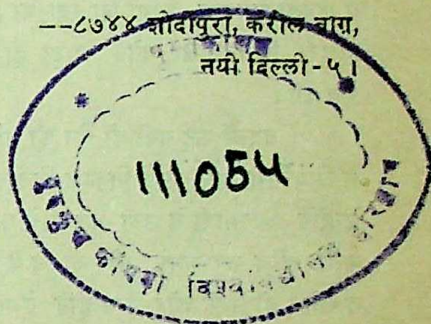
तीन कविताएँ

श्रीराम वर्मा

शुक्र

नीलिमावलयित नदी
संध्यामुखी क्यों?
एक चुंबन अंकुरित होते न होते
क्वाँरपन बुझ जायगा क्या?

ग्रहण

पलक पुलकित पलक को मूँदे हुए
है। ज्योतियाँ खोयी हुई हैं कल्प-वन में।
संपुटित जग। जागता है भँवर-गीतों-सा अँधेरा।

अंतरिम गुंजन

कली उपवनवती तो चुन ली गयी।
पर अधर में बंद भँवरा गुनगुनाता है अभी भी।

—१७ महाजनी टोला, जीरो रोड,
इलाहाबाद।

कहानी

क्लाइमेक्स

मलयज

बूढ़े बाबू बारजे पर आ कर नीचे झाँकने लगे। पर नीचे सड़क पर कोई न था। एक खौरहा कुत्ता अपनी दुम को बला समझ कर उसे नोच डालने की कोशिश में गली की दीवालों से लड़ता-झगड़ता भागा जा रहा था। फिर इसके बाद गली ऐसी सन्नाटी हो गयी मानो वह इस्तरी किया हुआ कोई कपड़ा हो जिसे चौपरता कर के बूढ़े बाबू अपने टीन के संदूक में रख देंगे।

बदली फट गयी तो चैन की साँस लेते हुए धूप दीवालों पर पड़ने लगी। बूढ़े बाबू बरसात से सिमसिमा गये कपड़े निकाल-निकाल कर तार की अरगनी पर टाँगने लगे। टीन का संदूक उन्होंने आलमारी से उठा कर नीचे फ़र्श पर रख दिया ताकि वह भी धूप में गर्म हो ले। फिर कुर्सी खींच कर कमरे और बारजे के बीच में ऐसे रखी कि बैठने पर धूप आँखों और मुँह पर न लगे। धोती के छोर से उन्होंने ऐनक का शीशा पोंछा, बालों और मूँछों पर एक बार हाथ फेरा, इधर-उधर नजर फेंकी और सुबह आया हुआ अंग्रेज़ी अख़बार ज़ोर-ज़ोर से उचारते हुए पढ़ने लगे।

कमरे की व्यवस्था में कहीं गड़बड़ी है, कुछ देर बाद उन्हें लगा तो चौंक कर उठे और भीतर गये तथा आलमारी की किसी चीज़ को उठा कर हाथों में घुमा-घुमा कर थोड़ी देर ग़ौर से देखते रहे। फिर यथास्थान उसे रख दिया और कोने में जा कर कैलेंडर के सामने मुँह कर के खड़े हो गये। रह-रह कर उनकी गर्दन हिल जाती थी। चूँकि उन्होंने इतनी सुबह स्नान कर लिया था और बाल सूखे न थे, अतः गर्दन हिलने से सिर से पानी की दो-एक बूँद फ़र्श पर टपक पड़ती, जिसे वे अचकचा कर देखने लगते। कुछ देर बाद एकाएक उन्हें याद आ गया कि वे तो अख़बार पढ़ रहे थे। वे झपट कर राइट-अबाउट-टर्न वाले अंदाज़ में मुड़े और कुर्सी पर आ बैठे। पर इसके पहले उन्होंने अरगनी पर पड़े कपड़ों की क्रीज़ पर एक बार हाथ फेर लिया था।

कुर्सी पर झुक कर बैठते-बैठते, चूँकि बारजा वहाँ से समीप था, बूढ़े बाबू ने नीचे झाँका। कोई नहीं था। उन्होंने अख़बार समेट कर पास ही पड़े स्टूल पर रखा जहाँ पहले ही चाय की प्याली रखी हुई थी। एकाएक उनके मस्तिष्क में कोई विचार आया और उन्होंने अंग्रेज़ी के उल्टे 'वी' अक्षर की तरह अख़बार को मोड़ कर चाय की प्याली के दोनों ओर खड़ा कर दिया।

पैरों पर धूप कुछ कड़ी लगने लगी तो उन्होंने पैर सिकोड़ने के बजाय मुंह पर हाथ से 'वा, वा' बजाते हुए एक जम्हाई ली और स्टूल पर रखा बीड़ी का बंडल उठाया! बंडल पर चिपके लेबिल पर एक व्यक्ति की आकृति बनी हुई थी और नीचे लिखा था—'पहेलवान छाप'। बूढ़े बाबू की नज़र पहलवान की खूब ऐंठी हुई मूँछों पर थी। उनका एक हाथ खुद-ब-खुद अपनी मूँछों की तरफ़ बढ़ा जिसमें गिनती के बाल थे। पर इसके पहले उन्हें किसी और चीज़ की आवश्यकता का अनुभव हुआ। वे उठ कर भीतर गये और आल्मारी से एक छोटा-सा आईना निकाल कर ले आये। कुर्सी पर बैठे। पहलवान छाप बीड़ी का बंडल स्टूल पर ही रख दिया क्योंकि तब तक उन्होंने देख लिया था कि वहाँ माचिस नहीं है। इससे एक संतोष का-सा अनुभव वे कर रहे थे, अतः आईने को पकड़े हुए और मूँछों को बेतरह मरोड़ते हुए उनके हाथ पूर्ण निश्चिन्त हो कर अपना-अपना कार्य कर रहे थे।

धूप उनके पैरों से ऊपर चढ़ते-चढ़ते मुँह तक जा लगी थी। उनकी आँख उसमें ऐसे चमकने लगी गोया कमरे की हलक़ में कोई शीशा अटक गया हो।

धूप और उनकी आँखों की चमक का संबंध बना ही हुआ था कि बूढ़े बाबू के दोनों हाथों ने अपना-अपना कार्य बंद कर दिया, और वे मुँह थोड़ा ऊपर उठाये कुछ सुनने-से लगे। न कोई तिनका हिल रहा था, न कहीं से हथौड़ा पीटने की आवाज़ ही आ रही थी। सब आवाज़ें शांति के खोल में बंद थीं। तब पहली बार आगे बढ़ी हुई चाल को दूसरी बार पीछे हटाते हुए बूढ़े बाबू का मुँह नीचे उतर आया, पर अब तक उन्होंने निश्चय कर लिया था कि उन्हें क्या करना है। तपाक से कुर्सी और स्टूल खिसका कर उन्होंने कमरे के एक कोने डाल दिया। फिर कैलेंडर वाली दीवाल की तरफ़ से होते हुए आल्मारी के पास गये और दोनों हाथ डाल कर जैसे छूछे कनस्टर में रंग घोल रहे हों, कुछ ढूँढ़ने लगे।

जब कमरे के बीच में खड़े हुए, तब उनके हाथ में चुटकुलों की किताब का कोई पाकेट संस्करण था। क़रीब पंद्रह मिनट तक उन्होंने अपने समय का अच्छा उपयोग किया। उसका क्रम इस प्रकार रहा : साढ़े सात मिनट तक पहले वे मन में कोई चुटकुला पढ़ते और ठठा कर हँसते, हर बार पढ़ते और हर बार उतने ही ज़ोर से ठठा कर हँसते। फिर साढ़े सात मिनट तक चुटकुला उचार कर पढ़ते और मन में हँसते। इस बीच वे कमरे में उसी जगह पर अडिग खड़े रहे, केवल उनके शरीर का ऊपरी हिस्सा रह-रह कर ज़ोर-ज़ोर से हिलने लगता। पंद्रह मिनट बाद उन्होंने जम्हाई ली, पर इस बार 'वा, वा' नहीं किया।

बूढ़े बाबू पुनः बारजे और कमरे के बीच वाले स्थान पर आ गये और बैठने का उपक्रम करने लगे, पर पाया कि अरे, कुर्सी तो कोने में है। चेहरे पर यह भाव लिये उधर जाने को हुए कि उन्हें एक ताख़ पर रखी टेबिल-घड़ी दिखायी पड़ गयी। वे रुक गये। उठा कर उसमें चाबी देने लगे, पर वह फ़ुल थी।

धूप फ़र्श पर रेंग-रेंग कर सामने वाली दीवाल तक जा पहुँची थी। इससे दीवाल पर टँगा हुआ कैलेंडर और कोने में खड़ी की हुई छड़ी एक साथ प्रकाशित हो गये, जैसे कमरे ने एकाएक खीसें काढ़ कर अपने दो पीले दाँत आगे कर दिये हों।

कैलेंडर में सूर्यास्त हो रहा था। चिड़ियाँ उड़ रही थीं। नदी का पानी नीला था। बूढ़े बाबू ने बायें हाथ से तौलते हुए छड़ी उठा ली और दाहिने हाथ को पकड़ा दी, और फ़र्श पर टकटक की सधी हुई आवाज़ निकालते इधर से उधर टहलने लगे। अब कमरे में दो प्रकार की आवाज़ें थीं—घड़ी की टिक-टिक और छड़ी की टक-टक। बूढ़े बाबू दोनों में एक निश्चित ताल-क्रम बनाये रखने के लिए कभी जल्दी-जल्दी चलने लगते और कभी खुद धीमे हो कर छड़ी को फ़र्श पर जल्दी-जल्दी पटक कर टक-टक करते। पर घड़ी की तेज़ भागती हुई टिक-टिक के आगे उनका बस नहीं चल रहा था।

वे रुक गये और छड़ी को बायें हाथ में ले कर दाहिना हाथ ख़ाली किया और उसे मुँह पर फेरा, जैसे पसीना पोंछ रहे हों। उन्होंने कैलेंडर की तरफ़ दृष्टि घुमायी। अस्त होता हुआ सूर्य उतने ही डिग्री कोण पर था, चिड़ियाँ भी उतनी ही ऊँचाई पर थीं, नदी का पानी पूर्ववत नीला था। वे आश्वस्त हो गये। तब इत्मीनान से उन्होंने छड़ी को दीवाल से टिका दिया। उस वक़्त धूप भी कैलेंडर के ऊपर जा चुकी थी।

बूढ़े बाबू कमरे और बारजे के बीच वाली जगह पर आ गये। उनके मुँह पर एक चमक थी जिसका संबंध उस इत्मीनान से था। धूप जा चुकी थी। भला कहाँ, किसकी छत-मुँडेर पर गयी है, देखें—इसे अपना उद्देश्य बना कर बूढ़े बाबू शरीर को झटका देते हुए बारजे पर पूरी तरह निकल आये।

अब भी कोई नहीं था।

थोड़ी देर बाद कमरे के भीतर भोजन के समय की सूचना देने वाला बारह बजे का अलार्म बजने लगा।

—१४७ मोहतशिमगंज,
इलाहाबाद।

आधुनिक बोध और साहित्य

रामदरश मिश्र

इस विषय के संदर्भ में सहज ही दो प्रश्न उठते हैं——आधुनिक बोध क्या है तथा साहित्य की सापेक्षता में उसकी क्या महत्ता है? प्रायः ही आधुनिक कृतियों की समीक्षा करते हुए यह कह दिया जाता है कि अमुक कृति संवेदनात्मक गहराई के कारण बड़ी ही प्रभावकारी है परन्तु आधुनिक बोध का उसमें अभाव है। और यह कह कर समीक्षक कृति को कुछ घटिया सिद्ध करना चाहता है। तो पहला प्रश्न है, आधुनिक बोध क्या है? आधुनिक बोध युगीन चेतना का बोध है या केवल आधुनिक काल की कोई मौलिक उपलब्धि? हर सच्चे सर्जन के मूल में नवीनता होती है। यह नवीनता चेतन-अचेतन दोनों रूपों में सर्जन में प्रतिफलित होती है। हर प्रबुद्ध सर्जक अपने युग का प्रबुद्ध चेता होता है। उसकी संवेदना अपने में नवीन तत्वों को समेटती रहती है अतः जब वह सर्जन करता है तब उसके व्यक्तित्व में आत्मसात सारी परम्परागत और नवीन चेतना अपने आप व्यक्त होती रहती है। दूसरे, वह अपने सर्जन के समय जागरूक भी रहता है——युगीन चेतना के प्रति भी और कला के प्रति भी। युगीन चेतना फ़ैशनवश ओढ़ी हुई कोई चीज़ नहीं है। वह ऐतिहासिक संदर्भ में पूरे समाज के जीवन के मूल्य और प्रणाली को प्रभावित करने वाली नवीन शक्ति है। अतः युग चेतना को छोड़ कर हम किसी जीवंत समाज को सही रूप में अंकित नहीं कर सकते। युग चेतना को छोड़ कर समाज को प्रस्तुत करने से दो खतरे सामने आते हैं——एक तो यह कि यह समाज अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाता, दूसरे यह कि सर्जक का यह कार्य निर्माण-कार्य न होकर बीते हुए समाज का स्थूल प्रस्तुतीकरण हो जाता है। हर सर्जन के पीछे एक दृष्टि होती है। वह दृष्टि सहज ही नहीं मिल जाती, युगीन परिस्थितियों और चेतनाओं के परिवेश में जीवन-सत्यों को पहचानने की शक्ति प्राप्त करने से प्राप्त होती है। अतः इस नवीन दृष्टि से संपन्न व्यक्ति ही अपने समाज के नये प्रश्नों, भाव-सौंदर्य के नये आयामों, नये मूल्यों, नये सामाजिक सम्बन्धों को समँझ सकता है, वही सर्जन कर सकता है। अतः मैं युगीन चेतना के बोध को सर्जन के लिए अनिवार्य आवश्यकता मानता हूँ। यह ज़ाहिर है कि यह युगीन चेतना हर नये युग की अपनी ही होती है। उसकी कुछ अपनी विशिष्टताएँ होती हैं, कुछ परम्परागत धाराएँ। अतः हर सच्चा कवि पिष्टपेषित को पेषित नहीं करता, युग-चेतना की सापेक्षता में नया सर्जन करता है। इस प्रकार पिछले युगों की सापेक्षता में हर नये युग का सर्जक कवि आधुनिक बोध-वाला होता है। तुलसी, सूर, कबीर, प्रसाद, पंत, निराला, सभी इस अर्थ में आधुनिक बोध संपन्न कवि हैं।

आधुनिक बोध का दूसरा अर्थ है वह बोध जिसे आधुनिक युग ने दिया है। आधुनिक काल अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति के कारण सारे पिछले युगों से भिन्न है। सारे पिछले युग एक दूसरे से भिन्न दीखते हुए भी आत्मा के एक सूत्र से बँधे हैं। हम कह सकते हैं कि सारे पिछले युगों की मूल चेतना आध्यात्मिक या धार्मिक रही है। मूल सत्य ब्रह्म माना गया है, उसी की अभिव्यक्ति यह जगत है। सृष्टि के समस्त व्यापारों और व्यवस्थाओं में उसी की इच्छा अभिव्यक्त है। जगत में जहाँ जो कुछ हो रहा है, ईश्वरी संकेत पर हो रहा है। मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्मों का फल भोगता है, अतः सामाजिक व्यवस्था के मूल में ईश्वरी न्याय है। जो विषमता दिखाई दे रही है यह स्वयं मनुष्य के कर्मफल का परिणाम है, इसमें ईश्वरी न्याय है। अतः सामाजिक विषमता के प्रति असंतोष, विद्रोह जैसी वृत्तियाँ इन युगों में पनप ही नहीं सकतीं थीं। करुणा, दया की याचना अवश्य होती थी। आधुनिक काल ने पिछले युगों की धर्म-चेतना या अध्यात्म-चेतना को तोड़ कर फेंक दिया और घोषित किया कि संसार ही सत्य है; इसी संसार में (परलोक में नहीं) सुखी और तृप्त होना है। डारविन के विकासवादी सिद्धांत ने आध्यात्मवादी दृष्टिकोण (जो यह मानता है कि जीव ब्रह्म का अंश है, अतः वह मूलतः शुद्ध, पवित्र, ज्योतिर्मान है किन्तु माया के आवरण में पड़ जाने के कारण क्षुद्र, लघु दिखायी दे रहा है, यानी कि वह ऊपर से नीचे की ओर अवतरित हुआ है) के विरुद्ध यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य का विकास अन्य प्राणियों की तरह जीवाणुओं से हुआ है। मनुष्य के पूर्वज बन्दर थे अतः मनुष्य मूलतः पशुवृत्ति वाला है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन जैसी प्राथमिक वृत्तियाँ अन्य पशुओं की भाँति मनुष्य में भी बलवान हैं किन्तु वह अन्य पशुओं की तरह ठहरा नहीं है। उसके जीवाणु में ही अदम्य जिजीविषा मौजूद थी। उसी जिजीविषा के कारण मनुष्य अपनी पशु-सुलभ वृत्तियों से लड़ता हुआ निर्माण करता चला है; सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, नैतिकता का विकास करता चला है। आधुनिक काल की समग्र दृष्टि भौतिकवादी है। विज्ञान का विकास इस काल की प्रमुख घटना है। विज्ञान के आविष्कार और विकास ने ही आधुनिक युग के समस्त मूल्यों का निर्माण और विकास किया है। धर्म का स्थान अर्थ ने ले लिया है, कल्पना का प्रयोग ने, नैतिकता का यथार्थ ने, भावुकता का बौद्धिकता ने। इस तरह पूरा का पूरा आधुनिक युग विश्वास, आस्था, श्रद्धा के स्थान पर संदेह, वितर्क, अनास्था और प्रयोग को ले कर चला है। टाइप की जगह व्यक्तित्व को स्वीकारता है और साथ ही साथ व्यक्ति की साधना का सही रूप उसे मानता है जो सामाजिक हित में नियोजित हो। इसीलिए आज के युग में एक ओर समाजवाद, राष्ट्रवाद का स्वर बुलन्द है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, प्रजातांत्रिक अधिकार है। स्वतंत्र व्यक्तित्व और उसका सामाजिक दायित्व, दोनों का एकीकरण आज के युग की विशेषता है।

जब यह मान लिया गया कि यह संसार ही सत्य है, इसका निर्माण, विकास और अंत किसी अदृष्ट सत्ता के हाथों नहीं होता वरन् प्रकृति की शक्तियों द्वारा होता है, तो प्रकृति की शक्तियों को पहचानने के लिए, उनकी व्याख्या करने के लिए विज्ञान प्रयत्नशील होता गया। आधुनिक काल में हम देखते हैं कि हर क्षेत्र में भावात्मक मान्यता, आप्त श्रद्धा और धार्मिक प्रतीति के स्थान पर बौद्धिक प्रयोग हो रहे हैं। प्रकृति हमारे सौंदर्य-बोध को तृप्त करने का उपादान मात्र

नहीं रही वरन् वह हमारे जीवन को शक्ति देने का मूल स्रोत बन गयी और उसके पास केवल सौंदर्य-दृष्टि और भावुकता ले कर नहीं पहुँचा जा सकता। उसके रहस्यों, शक्ति-स्रोतों को जानने के लिए बौद्धिक प्रयोग हो रहे हैं। जिन वस्तुओं को हम कल्पना और भावुकता द्वारा एक कल्पित रूप देते आये थे वे वस्तुएँ आज विज्ञान के प्रयोग द्वारा कुछ और ही प्रतीत होने लगी हैं। प्रकृति के रहस्यों को जानने के लिए विज्ञान की अनेक शाखाएँ अलग-अलग ढंग से कार्य कर रही हैं। रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, शरीरशास्त्र आदि विज्ञान की धाराएँ प्रयोग द्वारा नये-नये सत्य उद्घाटित कर रही हैं। इनके अतिरिक्त, मनोविज्ञान मन के भीतर स्थित रहस्यों का और समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि मानव-समाज की शक्तियों, संभावनाओं और प्रकृतियों का बौद्धिक विश्लेषण कर रहे हैं। इस प्रकार विज्ञान व्यक्ति-मानव और समूह-मानव की आंतरिक और बाह्य, व्यक्तिगत और सामूहिक वृत्तियों और प्रकृतियों का वस्तुगत विवेचन करने में संलग्न है।

आधुनिक काल के इस वैज्ञानिक अन्वेषण और उपलब्धि के संबंध में कोई मतभेद नहीं, किन्तु जीवन के सत्यों और मूल्यों की खोज और स्थापना के विषय में विभिन्न मत दिखायी पड़ते हैं। यानी जो स्थूल तत्व हैं, जो प्रयोग सापेक्ष हैं, वे विवाद के विषय नहीं हैं; विवाद के विषय हैं जीवित तत्व, जिन्हें स्थूल-तत्व-जगत प्रभावित करता रहता है। मानव-मन, सौंदर्य-बोध, समाज-सत्य, मानव-मूल्य, जीवन-मूल्य आदि जीवंत, गतिशील मानव समुदाय से संबंध रखने वाले प्रश्न और विषय विभिन्न विचारकों को विभिन्न प्रकार से सोचने के लिए प्रेरित करते हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ़्रॉयड की स्थापनाएँ बहुत प्रचलित हुईं किन्तु उन्हीं के शिष्यों द्वारा उनकी अपूर्णता का विरोध हुआ। समाजवाद के निर्माण के क्षेत्र में मार्क्स और एंजिल्स ने जो स्थापनाएँ कीं उनकी विभिन्न व्याख्याएँ हुईं और विभिन्न समाजवादी देश अपने-अपने ढंग से उनका निष्कर्ष निकालकर आपस में ही टकराने लगे हैं। इसके अतिरिक्त, सिद्धान्त रूप में भी यह बहुतों द्वारा अमान्य किया गया है। पूँजीवादी जनतांत्रिक देश इस समाजवादी व्यवस्था में आस्था नहीं रखते। उनके दृष्टिकोण से समाजवादी देशों में व्यक्तित्व, समाज के ढाँचे में ढलकर , उनकी यांत्रिक इकाई बन जाता है। तीसरी ओर तानाशाही है जो कभी पाकिस्तान की तरह सांप्रदायिक उन्माद पर आधारित है, कभी चीन की तरह साम्यवादी आतंक पर। जहाँ तक मानव-मूल्यों और जीवन-मूल्यों का प्रश्न है, मार्क्सवाद सामूहिक मानवता के भविष्य में आस्था रखता है। श्रमजीवियों के संघर्ष से निर्मित होने वाले सुंदर समाज की कल्पना उसके मन में है अतः सामाजिक जीवन उसकी दृष्टि में सहयोग और प्रेम का जीवन है। लड़ाई है परन्तु शोषक तत्वों से। इस प्रकार शोषक, जर्जर मूल्यों और शक्तियों को तोड़ कर सामूहिक मानवता ऐसे समाज का निर्माण करती है जहाँ मनुष्य मनुष्य के लिए पूरक बनता है, अनियंत्रित स्वच्छन्दता यहाँ जीवन-मूल्य नहीं जीवन-घातक मानी जाती है। दूसरी ओर अस्तित्ववाद है जो मानव-जीवन को कोई मूल्य नहीं देता, उसे निरर्थक और जीने को एक मजबूरी मानता है। हम सब एक दूसरे के लिए अजनबी हैं, एक दूसरे के लिए नरक हैं। मृत्यु हमारी सबसे बड़ी विवशता है। हमारी स्वतंत्रता ही कुछ अंशों में हमें सार्थक कर सकती है, किन्तु हम स्वतंत्र नहीं हैं। हम देखते हैं कि हमें वरण करने की स्वच्छंदता नहीं है। अस्तित्व-

वादी दर्शन निश्चय ही व्यक्तिवादी, अनास्थावादी और जीवन के मूल्यों को नकारने वाला दर्शन है। यह मानव को निरुद्देश्यता के मैदान में भटकने के लिए छोड़ देता है। यह अवश्य है कि अस्तित्ववाद में भी कई प्रकार की चिंतन-धाराएँ दिखायी पड़ती हैं। कुछ निरीश्वरवादी धारा है तो कुछ ईश्वरवादी। कुछ लेखकों का संबंध राजनीति के ऐसे वर्गों से है जो विश्वासों में सामाजिक हैं। ऐसे लेखकों की कृतियों में जीवन की निरर्थकतावादी मान्यता के बीच से सामाजिक विश्वास और जीवन-शक्ति के स्वर अवश्य मुखर हो जाते हैं।

इतना सब कहने का अर्थ यह है कि इन सारे आधुनिक विचारों की विभिन्नता के जंगल में कोई कहीं भटकता है कोई कहीं, कोई किसी मत को स्वीकार करता है, कोई किसी मत को। यदि आधुनिक युग की चेतना के बोध को आधुनिक बोध कहा जाय तो प्रश्न यह है कि इनमें से कौन सी जीवन-चेतना आधुनिक है ?

दूसरा प्रश्न है, साहित्य के संदर्भ में आधुनिक बोध की क्या महत्ता है ? आधुनिक बोध अपने आप में अलग चर्चा का विषय हो सकता है, किंतु जब हम साहित्य के संदर्भ में आधुनिक बोध का ज़िक्र करते हैं तो उसे साहित्य-सर्जन के मौलिक प्रश्नों के साथ जुड़ कर चलना होता है। और जब बहुत से आलोचक साहित्य में साहित्यिकता का ध्यान न रख कर अलग से आधुनिक बोध खोजने लगते हैं तो भ्रांति के शिकार होते हैं। यह बहुत स्पष्ट बात है कि अन्य क्षेत्रों में जानकारी का जितना महत्व होता है उतना साहित्य में नहीं। अन्य क्षेत्रों में जिस गति से परिवर्तन और विकास होता है उस गति से साहित्य में नहीं होता। साहित्य-सर्जन की प्रक्रिया इतनी जटिल और भीतरी होती है कि वह बाहर की घटनाओं, आविष्कारों और तथ्यों से एकाएक प्रभावित नहीं होता। वह जीवन से प्रभावित होता है; जीवन बाह्य घटनाओं, तथ्यों और परिस्थितियों से प्रभावित होता है। साहित्य का संबंध मूलतः मानवीय संवेदना और अंतःसत्यों से होता है। जब तथ्यजगत् मानव के अन्तर्जगत से जुड़ जाता है तब कविता का विषय बनता है। तथ्य-जगत के बीच हम जीते हैं; तथ्य-जगत हमारे साथ रागात्मक संबंध जोड़ते रहते हैं। ये केवल हमारे राग-बोध और सौंदर्य-दृष्टि को ही प्रभावित नहीं करते, नये मूल्यों की भी सृष्टि करते हैं। नये-नये तथ्य-जगत सामने आते रहते हैं। वे तथ्य धीरे-धीरे हमारे जीवन के संबंधों में घुलते जाते हैं और मन को तथा जीवन-मूल्यों को प्रभावित करते रहते हैं। अतः यह सत्य है कि तथ्य-जगत के परिवर्तन के साथ हमारा अंतर्जगत बदलता है, किंतु बदलने की प्रक्रिया बड़ी ही मंद और भीतरी होती है। किसी तथ्य के सामने आने पर राजनीति के, विज्ञान के या अन्य ज्ञानात्मक साहित्य के सिद्धांत एकाएक बदल सकते हैं और पुराने सिद्धान्त निकम्मे सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु मन को बदलने के लिए वर्षों की अवधि उपेक्षित होती है। हमारी संवेदनाएँ साहित्य में उभरती हैं। ये संवेदनाएँ नयी होकर भी पुरानी संवेदनाओं से विभिन्न नहीं होतीं। इन संवेदनाओं के पीछे सदियों का संस्कार लगा होता है और नवयुग की नयी आँच से नयी ऊष्मा और प्रकाश ग्रहण करती हैं। संवेदनाएँ संश्लिष्ट और गहन होती हैं। ये भौतिक पदार्थों के ज्ञान की तरह स्पष्टतः यह या वह नहीं होतीं। अतः आधुनिक बोध का अर्थ साहित्य में वही नहीं होता जो ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में होता है।

एक उदाहरण से हम इसे समझें। पहले-पहल जब कल-कारख़ाने क़ायम हुए तो हमारे सामंती संस्कारग्रस्त मन को ये बाँध नहीं सके। ये हमारे लिए बड़े ही अजनबी और भयावह थे। एक वैज्ञानिक के लिए, एक इंजीनियर के लिए कारख़ानों के यंत्र-कौशल का बोध तो श्रेयस्कर हो सकता था, वह बोध उसके लिए अपने क्षेत्र का आधुनिक बोध भी कहा जा सकता था। किंतु आप कल्पना कीजिए कि कल-कारखानों के क़ायम होते ही कोई कवि इन पर कविताएँ लिखने लगता तो उसका विषय-बोध आधुनिक तो ज़रूर होता परंतु कविता नहीं बन पाती, क्योंकि कल-कारख़ाने हमारे जीवन के साथ तब तक घुल-मिल नहीं सके थे, रागात्मक संबंध नहीं स्थापित कर सके थे। साहित्यकार को समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी। आज ये कल-कारख़ाने हमारे जीवन के साथ रागात्मक सूत्रों में वैसे ही जुड़ गये हैं जैसे हमारे खेत-खलिहान। कलों, कारख़ानों के प्रत्येक अंग पर मानव के हाथों की ही नहीं मन की भी छाप है। मज़दूरों के अनेक सपने इनके बीच बने-बिगड़े हैं, उनकी शक्तियाँ और विवशताएँ इनके बीच रेंगती हैं, उनका समय मशीन की गति के साथ धड़कता भागता है। यानी कि ये कल-कारख़ाने उनके जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। जब कोई कलाकार मज़दूरों का चित्र खींचता है तो उनके साथ कल-कारख़ानों का परिवेश अपने आप खिचा चला आता है। इसी प्रकार कल-कारख़ानों का चित्र केवल यंत्रों और दीवारों का चित्र नहीं होता, वह अनंत मानवों की ज़िंदगी का चित्र होता है। इसी प्रकार रेलें, मोटरें, सड़कें, टेलीफ़ोन, पोस्ट-आफ़िस नव प्रतिष्ठित स्थूल जगहें नहीं हैं वरन् ये अपने-अपने ढंग से आज के मानव-समुदाय की संवेदनाओं से जुड़े हुए हैं। अतएव जब आज का कवि आज की ज़िंदगी को चित्रित करना चाहता है तो इन तमाम उपकरणों को परिवेश और बिंब के रूप में चुनता है। बिंब हमारी अनुभूतियों के चित्र होते हैं। ये उपकरण अपने-अपने भीतर हमारे जीवन की अनुभूतियाँ कसे होते हैं, अतः जब ये बिंब रूप में प्रयुक्त होते हैं तो इनके भीतर सन्निहित अनुभूतियाँ उभर आती हैं। लोग आधुनिक बोध और साहित्य के इस संबंध को न समझ कर हर नये विचार, हर नये ज्ञान, हर नये दर्शन को साहित्यबद्ध कर देने को ही आधुनिक बोध मानने लगते हैं। किंतु यह द्रष्टव्य है कि जब किसी सामयिक, राजनीतिक, दार्शनिक, सामाजिक, वैज्ञानिक आंदोलन को उपजीव्य बना कर साहित्य रचा गया है तो वह स्थायित्व और गहराई नहीं प्राप्त कर सका है; वह सामयिक बोध का घोषणापत्र बन गया है। ऐसा इसलिए हुआ कि इन नवीनतम सत्यों को जन-जीवन में और स्वयं अपने जीवन में घुल जाने देने के पहले कवि उनका प्रवक्ता बन गया है। ये सत्य हमारे जीवन से रागात्मक संबंध यानी मानसिक संबंध जोड़ने के पहले साहित्य के विषय बन गये। या यह भी कह सकते हैं कि जीवन के साथ जुड़े इनके गहरे संबंधों को उद्घाटित करने के स्थान पर साहित्य में इन आधुनिक तथ्यों के ऊपरी फेन को ही प्रस्तुत कर दिया है। इससे इस बात का पता तो चलता है कि साहित्यकार को आधुनिक बोध तो है, परंतु साहित्य-बोध नहीं है।

आधुनिक काल में जीवन संबंधी इतने दृष्टिकोण हैं, प्रश्नों को समझने की इतनी अलग-अलग दृष्टियाँ हैं कि यही निर्णय कर पाना मुश्किल होता है कि किसे आधुनिक माना जाय? कुछ लोग यह मानते हैं कि आज के जीवन का सबसे बड़ा प्रश्न है—आर्थिक विषमता। इस विष-

मता की तीव्र चेतना और मार्क्सवादी ढंग से उसको पाटने में विश्वास रखने वाली दृष्टि आधुनिक है। ये लोग पूँजीवाद के साथ संघर्ष आवश्यक मानते हैं। अब तो सहअस्तित्व की भी बात उठने लगी है। अभी उस दिन बनारस में मेरे एक बनारसी कम्युनिस्ट मित्र ललकार कर कह रहे थे कि पूँजीवाद के विरुद्ध साम्यवादी चेतना के बोध के अतिरिक्त और कोई बोध आधुनिक नहीं है। हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या है आर्थिक विषमता; और उसका सबसे बड़ा समाधान है साम्यवादी समाज की स्थापना। दूसरे लोग ऐसा मानते हैं कि व्यक्तित्व की स्वतंत्रता का बोध ही आधुनिक बोध है। व्यक्ति की स्वाधीनता आज ख़तरे में है; इस ख़तरे का बोध ही आधुनिक बोध है। इसलिए पश्चिम में; और कुछ दिनों पूर्व हिंदी में भी, बड़े ज़ोर-शोर से लेखक की स्वाधीनता का, और उसके बहाने व्यक्ति की स्वाधीनता का, प्रश्न उठाया गया था। व्यक्तित्व के चेतन आयाम की अपेक्षा अचेतन आयाम का महत्व मनोविज्ञान ने प्रतिपादित किया है। चेतन स्तर पर हम समाज के दायित्व का बोध रखते हैं; नीति, क़ानून, भय, लज्जा आदि की धारणा चेतन स्तर पर होती है। इन सारी धारणाओं के प्रबल होने पर अवचेतन स्थित हमारी वासनाएँ दमित होती हैं, हमारी निजी स्वतंत्रता दायित्व के नीचे दब कर हमारे व्यक्तित्व का विघटन करती है। मनोविश्लेषणवाद ने अवचेतन के गहन अंतराल में स्थित हमारे जीवन की शक्तियों, व्यापारों, आचार-विचारों के स्रोतों का विवेचन कर यह सिद्ध किया कि चेतन का अंश हमारे व्यक्तित्व में बहुत थोड़ा होता है और हमारा व्यक्तित्व चेतना की शृंखला में बँधा हुआ सुनियोजित एकदिशोन्मुख प्रवाह नहीं है, यह तो विक्षुब्ध जल-कुंड है। यानी हमारी व्यक्तित्व-चेतना क्षणों में बँटी हुई है—बिखरी हुई, एक दूसरे से असंबद्ध, कभी कुछ, कभी कुछ लक्षित होने वाली। इस प्रकार व्यक्ति के स्वतंत्र होने का अर्थ है उसके अवचेतन में स्थित उसकी वासनाओं की तृप्ति का उसे अधिकार प्राप्त होना। बीट कवियों की स्वतंत्रता की माँग में इस प्रकार की इच्छा निहित है। मनोविश्लेषणवादी, अतियथार्थवादी, अस्तित्ववादी, सभी अपने-अपने ढंग से व्यक्तित्व की इस अवचेतनवादी धारणा को स्वीकार करते हैं, और व्यक्ति की स्वतंत्रता की माँग इसी अवचेतन स्तर पर करते हैं। सबकी प्रक्रियाओं में अंतर अवश्य है; किसके बोध को आधुनिक माना जाय? किंतु यदि आज की इन तमाम विभिन्न दीखने वाली प्रवृत्तियों और दृष्टियों में कोई समानता लक्षित होती है तो वह है प्रश्नाकुल बुद्धिवादी प्रवृत्ति और यथार्थवादी दृष्टि। काल्पनिक रोमांस, विह्वल भावुकता, आदर्शवादिता, अलौकिकता, आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिक यथार्थवादिता और बौद्धिकता की प्रधानता दिखायी पड़ती है। इसलिए सारी पिछली मान्यताएँ आज खोखली दिखायी पड़ती हैं और नयी मान्यताओं की खोज में आज का संसार आकुल है; उसकी प्रश्नाकुल बुद्धिवादी दृष्टि उसे कहीं ठहरने नहीं देती। यथार्थवाद की कोई सीमा निश्चित नहीं। आधुनिक काल के प्रारंभ से ही वह विभिन्न छायाएँ ग्रहण करता आ रहा है। हिंदी साहित्य को ही लें तो ज्ञात होगा कि भारतेंदु काल, द्विवेदी काल, छायावाद काल, प्रगतिवाद काल, प्रयोगवाद काल तथा नयी कविता के कवियों ने अपने-अपने ढंग से यथार्थ को पकड़ने का प्रयत्न किया है। यानी यथार्थ के नये-नये आयाम इन कविताओं में उभरे हैं। प्रसाद जी ने यथार्थवाद की एक प्रमुख विशेषता बतायी है, लघुता की ओर दृष्टिपात। लघुता वह है जो संसार का व्यापक यथार्थ

है परंतु जिसे महत् निरूपण के चक्कर में छोड़ दिया गया था। कवियों ने मानव श्रेणियों में, जीवन-प्रसंगों में, व्यापारों और समयों में वर्गभेद किया था; कुछ को महत् मान लिया था, कुछ को लघु। आधुनिक काल के यथार्थोन्मुख दृष्टि वाले कवियों का ध्यान जीवन-जगत् के इन्हीं उपेक्षित तत्वों की ओर गया। यह यथार्थवादी दृष्टि एक नया मानवतावाद ले कर उभरी। भारतेंदु काल में भुखमरी, अकाल, चुंगी, टैक्स, ग़रीबी आदि सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले परंतु साहित्य में अब तक उपेक्षित विषय, कविता के विषय बने। द्विवेदी काल के कवियों ने महिमामय अतीत के परिवेश में आधुनिक युग की चरित्र-चेतना को व्यंजित किया, उपेक्षित पात्रों के मानवीय संवेदन को व्यक्त किया तथा उन्हें आधुनिक चेतना के धरातल पर प्रतिष्ठित किया। प्रिय प्रवास की राधा, यशोधरा की यशोधरा, साकेत की उर्मिला आदि को देखने से इस बात का अंदाज़ मिल जाता है। इतना ही नहीं, रामनरेश त्रिपाठी ने दीनों, दुखियों की आहों और आँसुओं में भगवान का दर्शन किया है। छायावाद में व्यक्तिगत जीवन की सारी संवेदना रूप पाने के लिए तड़प उठी। महादेवी जी के शब्दों में, कवियों ने प्रत्येक साँस का इतिहास लिखना चाहा। प्रगतिवाद ने युग-युग से उपेक्षित ग़रीब शोषित मानवता को स्वर दिया। प्रयोगवाद ने अवचेतन स्थित गंदी, जंगली, उपेक्षित मानी जाने वाली व्यक्ति-चेतना की शक्ति की खोज की और उसे स्वर दिया। नयी कविता में आज के युग के सभी स्वर कवि के व्यक्तित्व और दृष्टि के अनुसार व्यक्त हो रहे हैं। ज्यों-ज्यों हमारा समाज बदलता जा रहा है और उसे देखने की दृष्टियों का विकास होता जा रहा है त्यों-त्यों साहित्य का स्वर भी बदलता जा रहा है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जिस साहित्य का बोध जितना ही नवीनतम हो गया वह उतना ही उच्च कोटि का होगा। इस दृष्टि से तो शमशेर, श्रीकांत वर्मा, कुँवर नारायण आदि सूर, तुलसी, प्रसाद, निराला से बड़े कवि मान लिये जायँगे। इसलिए यहाँ मैं फिर इस बात पर ज़ोर दूँगा कि आधुनिक बोध एक चीज़ है, और उसे साहित्यिक संदर्भ में देखना दूसरी चीज़। साहित्य का उपजीव्य जीवन है। जीवंत और सर्जनात्मक जीवन सदैव अपने युग की चेतना से संपृक्त रहता है। यदि युग चेतना से जीवन संपृक्त नहीं रहता तो पुरानी बातों का पिष्टपेषण करता है। ऐसे जीवन पर आधारित साहित्य में परंपराबद्ध रसमयता तो हो सकती है परंतु उसमें रचनात्मकता नहीं होती, अपने काल की प्रश्नाकुलता नहीं होती, युगीन परिस्थितियों में विकसित संवेदना नहीं होती, शुद्ध परंपरागत रसज्ञता और रूपचारुता होती है। किंतु दूसरी ओर भी एक ख़तरा है। आधुनिक बोध को जीवन के भीतर से नहीं बल्कि ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों से लेने पर प्रश्नाकुलता तो आती है किंतु लगता है यह प्रश्नाकुलता किसी निर्जीव प्रतिमा के ऊपर ओढ़ा दी गयी है, लगता है वह ऊपर का आवरण मात्र है जो कहीं बाहर से मँगाया गया है और अपने यहाँ की ज़िंदगी पर डाल दिया गया है। जब तक नयी चेतना जीवन में आत्मसात नहीं हो जाती और कवि उस लोकचेतना को आत्मसात नहीं कर लेता तब तक वह जीवंत साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। आज विज्ञान अन्वेषण और परीक्षण द्वारा अनेक तथ्यों का पता लगा रहा है। वे अपनी-अपनी जगह पर सत्य हैं किंतु वे साहित्य के सत्य नहीं बन पाते जब तक वे हमारे जीवन से जुड़ नहीं जाते। अंतरिक्ष यात्रा ने ज्ञान का नया आयाम उद्घाटित किया है। अभी और भी आयाम उद्घाटित होंगे, किंतु अंतरिक्ष

यात्रा जन-जीवन के साथ राग-संबंध नहीं जोड़ सकी है इसीलिए हमारे जीवन-सत्य अभी उससे प्रभावित नहीं हुए हैं। दो-चार यात्री घूम-घाम आये हों, या कुछ वैज्ञानिक उसकी तकनीकी बातों से परिचित हों, यह बात दूसरी है। अतः मैं मानता हूँ कि आधुनिक बोध का अर्थ है जीवन की नवीन चेतना का बोध। तब एक प्रश्न उठता है—कहाँ की जीवन-चेतना का बोध? सभी जगहों की जीवन-चेतना एक सी नहीं होती। हम लाख हल्ला-गुल्ला करें कि आज पूरा संसार एक हो गया है, पूरे संसार की समस्याएँ और संवेदनाएँ एक हो गयी हैं, जीवन-मूल्यों में समान रूप से विघटन पैदा हो गया है, मगर यह पूरा-पूरा सत्य नहीं है। आज भी जीवन-संस्कारों और मूल्य-आस्थाओं की दृष्टि से पूरब-पश्चिम में भेद है। इस भेद का कारण उनकी ऐतिहासिक परंपराएँ और समसामयिक परिस्थितियाँ दोनों हैं। पश्चिम के देश दो-दो विश्व-युद्धों की विभीषिकाओं से गुज़रे हैं। युद्धों के हाथों मानव-मूल्यों, जीवन-आस्थाओं और छवियों की टूटती हुई प्रतिमाएँ वे देख चुके हैं। उनकी भौतिकवादी सभ्यता मानव-मूल्यों की प्रतिमा के खंडित हो जाने पर एक भटकती हुई प्यास, अदम्य लालसा, अगाध अतृप्ति, संदेह, भय के सिवा कुछ शेष नहीं बचती। पश्चिम भौतिक दृष्टि से सुखी है परंतु एक अनवरत बेचैनी, एक भटकाव, एक बिखराव उसे पीड़ित कर रहा है। सामूहिक रूप से, यानी राष्ट्र के रूप से, पश्चिम के देश पूरब के देशों में भले ही सबल हों, समृद्ध हों, किंतु वहाँ के व्यक्ति अलग-अलग रूप से जैसे मृत्यु की तलाश में हैं। इसलिए अस्तित्ववाद, व्यक्तिवाद, अतियथार्थवाद जैसे दर्शन वहाँ पनपे हैं। ये दर्शन वहाँ के लिए सहज हो सकते हैं, इनमें पश्चिम का जीवन-बोध ध्वनित हो सकता है परंतु भारत में जीवन के प्रति यह अनास्था, तीखी मृत्यु-चेतना, टूटने की अनुभूति, प्रधान सत्य के रूप में नहीं दिखायी पड़ती। सच बात तो यह है कि पूरब में विज्ञान का वह युग भी नहीं आया जो पश्चिम के देशों में आ चुका है, इसलिए विज्ञान का जीवन-मूल्यों और पद्धतियों पर पड़ता हुआ भला या बुरा प्रभाव यहाँ आत्यंतिक रूप में लक्षित नहीं होता। भारत को ही लें। कुछ बड़े-बड़े शहरों को छोड़ कर शेष शहरों, क़स्बों में विज्ञान का उग्र रूप लक्षित नहीं होता। गाँवों की तो बात ही छोड़ दीजिए जहाँ बहुत हुआ तो ट्यूब-वेल पहुँच गया है, किसी धनी-मानी के यहाँ ट्रैक्टर पहुँच गया है या साइकिलें दिखायी पड़ती हैं। यानी यहाँ विज्ञान के नाम पर अभी साइकिल युग है। अतः विज्ञान का सारा परिवेश, उसका सारा प्रभाव, उससे निर्मित दृष्टि, अभी भारत में वैसी नहीं दिखायी पड़ती जैसी विज्ञान-समृद्ध पश्चिमी देशों में। बंबई, दिल्ली, कलकत्ता जैसे बड़े-बड़े शहर ही वैज्ञानिक यांत्रिकता से अधिक आक्रांत हैं। अतः इन बड़े-बड़े शहरों में बसने वाले मानव-जीवन के मूल्यों और संबंधों पर वैज्ञानिक सभ्यता का पर्याप्त असर है। शेष क़स्बों और गाँवों के जीवन में यह असर असत्य है। दूसरी बात यह है कि भारत जैसे अनेक एशियाई और अफ़्रीक़ी देश सदियों की पराधीनता से मुक्त हुए हैं, या हो रहे हैं। वे अभी-अभी निर्माण में रत हुए हैं। वे जीवन का नव उन्मेष अनुभव करने के स्थान पर स्तब्धता, जड़ता कैसे अनुभव करेंगे? उनकी आंतरिक कठिनाइयाँ हैं, सफलताएँ हैं, व्यक्तियों की विशेषताएँ हैं, प्रशासनिक अयोग्यताएँ हैं, अन्याय हैं, अत्याचार हैं, किंतु कुल मिला कर इनकी प्रकृति मरण-धर्मा नहीं है। अन्याय, विवशता, असफलता को अपरिहार्य स्थिति मान कर निराशावादी, अनास्थावादी मरणोपासिका दृष्टि का विकास यहाँ नहीं हुआ है बल्कि

इन स्थितियों से लड़ने की अदम्य लालसा जन-मानस में कसमसाती रहती है। लोक-जीवन से अलग कट कर व्यक्ति-जीवन की विवशताओं को ही सत्य मान लेने से यह मृत्यून्मुखी दृष्टि उगती है। मैं कहना चाहूँगा कि भारत में अभी इस पराजित जीवन का स्वर प्रधान नहीं होने पाया है। अमरीका आदि समृद्ध देशों में समृद्धि के बीच रिक्तता, व्यर्थता, सूनापन अनुभव करना आत्मिक शक्ति के अभाव का सूचक है। भारत में आत्मिक शक्ति की कमी नहीं है। हमने सदियों से इसी संस्कार में जीना सीखा है। यहाँ आर्थिक रिक्तता सबसे बड़ी मुसीबत बन कर आती है और इस आर्थिक रिक्तता की स्थिति में भी हम वह अशांति, असंतोष और व्यर्थता महसूस नहीं करते जो पश्चिम के लोग आर्थिक समृद्धि के बीच महसूस करते हैं। संदेह, घृणा, अकेलेपन की वैसी अनुभूति यहाँ नहीं होती जैसी पश्चिम में होती है। यहाँ-वहाँ के इतिहासों में अंतर है, परंपरागत संस्कारों का अंतर है और विज्ञान के विकास के परिवेश में परिवर्तित परिस्थितियों का अंतर है। इन अंतरों को ध्यान में लाये बिना जो लोग पश्चिमी विचारकों और कवियों के बोधों को आज का भारतीय जीवन बोध भी मान लेते हैं, वे ग़लती करते हैं। आज जब कि पश्चिम वाले युद्धों की विभीषिकाओं से ध्वस्त हो कर वैज्ञानिक सभ्यता की ओर आशा से देख रहे हैं, उस समय पश्चिम वालों की यथार्थ-संवेदना को अपने ऊपर आरोपित करने के लिए हम तुले हुए हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि एक विश्वजनीन आधुनिक बोध के चक्कर में हम अपने पाँव के नीचे की ज़मीन को भूले जा रहे हैं, आसपास के वातावरण को भूले जा रहे हैं। हम विश्वनागरिक होने का सपना तो देख रहे हैं किंतु अपने देश के परिवेश से कटे जा रहे हैं। यही कारण है कि आज की नयी कविता में ही आदमी बिखराव, टूटन, दर्द, कुंठा, सूनेपन की बात करता नज़र आता है। ऐसा नहीं कि ये चीज़ें यहाँ नहीं हैं, हैं। विशेषत: शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन में यह अकेलापन, सूनापन, टूटन अधिक है, किंतु यहाँ और भी चीज़ें हैं। सामूहिक रूप से भारतीय जीवन अभी जीवन-मूल्यों में आस्था रखता है। समस्त सन्नाटे के बावजूद इसमें सामूहिक आशा और आस्था के स्वर मुखर हैं। वर्तमान विवशता को एक सामयिक स्थिति मान कर इससे उबरने की सक्रिय लालसा है और अनागत की सुंदरता और शक्ति के प्रति अदम्य विश्वास है। विश्वास है कि वह आ रहा है। इन सारे स्वरों को अपने से बाहर निकल कर सुनने की आवश्यकता है और तभी यहाँ की ज़िंदगी की सच्ची तसवीर उतारी जा सकती है। मगर दुर्भाग्य से शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति-जीवन की जड़ता, ठहराव, स्तब्धता, टूटन, कुंठा को ही आधुनिक बोध मान लिया जाता है और इन्हें व्यक्त करने वाली कविताओं को आधुनिक-बोध-संपन्न कविताएँ कह कर महत्व दिया जाता है। इस सारी जड़ता, ठहराव, कुंठा का तीव्र बोध कवि को होना चाहिए किंतु इन्हें इनके व्यापक परिवेश में देखने की आवश्यकता है। इन्हें तोड़ने की चेष्टा करने वाली अव्यक्त आकुलता भी आधुनिक बोध है। यदि युद्ध और अशांति का बोध आधुनिक बोध है, अपने-अपने स्वार्थों के लिए टकराने वाले राष्ट्रों की टकराहट और उस टकराहट से पैदा होने वाली चिनगारियों और धुएँ को समझना आधुनिक बोध है तो शांति के लिए प्रयत्नशील भारत और अन्य तटस्थ राष्ट्रों की आवाज़ को समझना भी आधुनिक बोध है, चक्कर काटती हुई युद्ध और शांति की काली छाया के बीच ज्योति की बाहें उठाये दौड़ती शांति को समझना भी आधुनिक बोध है। यदि मानव-मूल्यों को कुचल कर

स्वार्थ-संकीर्ण राष्ट्र भावना, रंग भेद, धर्म भेद, आदि से प्रेरित हो कर जीने वाले साम्राज्यवादी देशों की क्रूरता और उनकी दिशाहीन, असंगतिपूर्ण , आत्मपराजित, आंतरिक जीवनधारा को समझना आधुनिक बोध है तो स्वतंत्रता, भेदहीन मानवता, न्याय और जीवन-मूल्यों के लिए लड़ने वाले तथा उन्हें नैतिक शक्ति और सहयोग प्रदान करने वाले देशों की चेतना को जानना भी आधुनिक बोध है।

कहा गया है कि जीवन की यथार्थ युग-चेतना को समझना ही आधुनिक बोध है। जीवन किसका ? स्वयं कलाकर का, या कलाकार से इतर जगत का ? यह सत्य है कि कलाकार अपनी अनुभूतियों के माध्यम से जगत की अनुभूतियों और चेतना को व्यक्त करता है। वह स्वयं जगत नहीं है, उसे जगत को समझना होता है। और जगत जीवन का कोई एक स्तर नहीं है। भारत में ही बड़े शहर हैं, छोटे शहर हैं, क़स्बे हैं, गाँव हैं—गाँवों में भी पहाड़ी गाँव हैं, जंगली गाँव हैं, समुद्रतटीय गाँव हैं, मैदानी गाँव हैं। जब सर्जक इन शहरों , क़स्बों या गाँवों को साहित्य का विषय बनाता है तो किसके बोध को व्यक्त करता है; अपने बोध को, या इन नगरों और गाँवों के जीवन-बोध को ? स्पष्ट है कि सच्चा यथार्थवादी सर्जक उस जीवन के बोध को प्रधानता देगा जिसे वह अंकित करना चाहता है। शहरी जीवन के रचनाकार आंचलिक कथाकारों पर पिछड़ेपन का आरोप लगाते हैं, जैसे कि आंचलिक कथाकार उपन्यास में अपना ही बोध व्यक्त कर रहा है। चाहे शहरी जीवन का चित्रकार हो चाहे देहाती जीवन का, उसकी कलात्मक ईमानदारी इस बात में है कि वह उस जीवन के बोध को समझे, यह आवश्यक नहीं कि वह अपने व्यक्तित्व में उसी बोध तक सीमित हो। हाँ आत्मपरक कृतियों में—जैसे व्यक्ति-व्यंजक निबंधों में, गीतों में, निजी संवेदनाएँ व्यक्त करने वाली कविताओं में—वह सीधे अपना बोध व्यक्त करता है; यानी इनमें सीधे वह होता है अपनी संवेदना, दृष्टि और मूल्य-चेतना के साथ। किंतु प्रबंध काव्यों में, नाटकों में, कथा साहित्य में गृहीत जीवन को उसकी समग्र चेतना के साथ मूर्तिमान कर देना ही सर्जक की ईमानदारी और शक्ति का द्योतक है। यह अवश्य है कि सर्जक की अपनी रचनात्मक इच्छा सारे कथानक को इस ढंग से नियोजित करती है कि उसमें प्रच्छन्न रूप से उसकी दृष्टि झलक उठती है। वही दृष्टि सारी रचना को एक विशेष प्रभाव में अन्वित करती है। गाँव और शहर की ज़िंदगी में क़ाफ़ी फ़र्क़ है, यद्यपि आधुनिक युग ने दोनों को अपने ढंग से काफ़ी प्रभावित किया है। भौतिक सभ्यता की स्वार्थपरता, अर्थ-स्पर्द्धा, अधिकार-लिप्सा आदि का शिकार गाँव भी हुआ है। गाँवों के लोग शहरों से जुड़े हैं और उन लोगों के ज़रिये शहर का हवा-पानी देहात में आता रहता है इसलिए जीवन की पुरानी मान्यताओं में फ़र्क़ आता जा रहा है। पंचायत ने राजनीति का पाठ पढ़ा दिया है, कहीं सही ढंग से, कहीं ग़लत ढंग से। फिर भी गाँव और शहर की जीवन-प्रक्रियाओं और मूल्य-चेतनाओं में मौलिक अंतर है। शहर का व्यक्ति चाहे तो अकेला रह सकता है—घर से दफ़्तर, दफ़्तर से घर। घर में बंद हो कर वह अपनी दुनिया को समेट सकता है। काम-काज के लिए और मनोरंजन के लिए बाहर निकलता है, वह भी चारों ओर से बंद-बृंद सा। इसलिए शहर में प्रकृति का विशेष महत्व नहीं। शहर का यांत्रिक व्यक्ति प्रकृति की ओर से सूखता जा रहा है। प्रकृति शहरी जीवन के जीविकोपार्जन में सहयोग नहीं देती; वह तो वहाँ गमलों में, अहातों में

शोभा के लिए बंद होती है। तिथि-त्योहार कैलेंडर की तारीखों में लटके रहते हैं। मगर गाँव में प्रकृति जीविका का साधन है। ज़मीन, हवा, पानी, सूरज, मौसम, सुबह, शाम, खेत-खलिहान, बागीचे, ये सब गाँवों की जीविका उगाते हैं; ये उनके जीवन हैं, मात्र शोभा नहीं। चूँकि उनके जीवन हैं, अतः शोभा भी हैं। किसान इन सबको जानता है, इनसे उसका रागात्मक संबंध है। किसान की सारी संपत्ति घर से बाहर फैली होती है। सबके खेत-खलिहान, बर-बागीचे, ताल-पोखरे आपस में मिले होते हैं, इसलिए सबको घर से बाहर एक दूसरे से मिलना ही पड़ता है। एक अनिवार्य सामूहिकता का भाव उन्हें बाँधता रहता है। आपके अनचाहे भी कोई आपके खेत उखाड़ सकता है, खलिहान में आग लगा सकता है, इसलिए मेल के रूप में या संघर्ष के रूप में सामूहिक भावना गाँव की प्रकृति बन जाती है। गाँव के जीवन पर लिखे गये साहित्य—विशेषतया कथा साहित्य—में प्रकृति का व्यापक चित्रण होना स्वाभाविक है। इसकी अनिवार्यता को समझे बिना आलोचक प्रायः कह दिया करते हैं कि आंचलिक उपन्यासों में प्रकृति का फ़ालतू चित्रण है और शहर पर लिखे गये उपन्यासों में यह फ़ालतू चित्रण नहीं है, संयम है। शहरी वातावरण में लिखे गये कथा साहित्य का वातावरण और ही होगा। वहाँ कमरे के भीतर की चीज़ों को—सितार को, वायलिन को, गुलदस्ते को, सोफ़ासेट को, परदे को हम पायेंगे, या शहर की दूकानों को, मकानों को, सड़कों को, नाच-गृहों को पायेंगे। अब इसी को आप आधुनिक बोध कह लें और आंचलिक उपन्यासों के बोध को पुराना बोध कह लें तो कौन रोकता है? कलाकार का आधुनिक बोध आधुनिकतम क़िस्म के लोगों की सृष्टि करने में है या जो वास्तविक जीवन हमारे सामने है उसके समग्र परिवेश में उसकी आधुनिक चेतना को व्यक्त करने में है? उदाहरण-स्वरूप 'गोदान' को लिया जाय। 'गोदान' आधुनिक काल की श्रेष्ठ कथा कृतियों में से है। वह आधुनिक क्यों है, क्या इसलिए कि आधुनिकतम सभ्यता के प्रतीक मालती और मेहता उसमें हैं, मिल-मालिक खन्ना उसमें हैं? नहीं, 'गोदान' इसलिए न तो श्रेष्ठ है, न आधुनिक। 'गोदान' की श्रेष्ठता और आधुनिकता का कारण यह है कि उसमें आधुनिक परिवेश में किसान-जीवन की समस्त पीड़ा, संघर्ष, राग-विराग, बेबसी और शक्ति का मार्मिक चित्रण हुआ है। शोषण के सारे सूत्रों से सूत्रित कर किसान-जीवन की समस्त आकांक्षाओं, बोधों और मूल्यों को रूपायित किया गया है। कहाँ बेचारा पिछड़े ग्रामीण संस्कारों से ग्रस्त आस्थावादी, ईश्वरवादी भोला-भाला होरी और आधुनिकतम व्यक्ति-चेतना के प्रतीक मेहता और तितली मालती! परंतु यह सत्य है कि 'गोदान' की श्रेष्ठता और आधुनिकता होरी और गोबर तथा अन्य संबद्ध ग्रामीण पात्रों के कारण है। यहाँ तुलना के लिए 'अपने अपने अजनबी' को ले सकते हैं। यह उपन्यास अस्तित्व-वादी दर्शन से प्रभावित उपन्यास है जिसमें एक विशेष स्थिति में भौतिकवादी, अनीश्वरवादी और जीवनास्थावादी, ईश्वरवादी दृष्टियों का संघर्ष दिखाया गया है; मृत्यु की अनुभूति की सूक्ष्म विवेचना की गयी है। शिल्प में, दृष्टि में, बोध में, यह कृति आधुनिकतम कही जा सकती है, किंतु उसमें 'गोदान' की सी आँच क्यों नहीं है, जीवन का ताप क्यों नहीं है? इसलिए कि इसमें लेखक ने अपने आधुनिकतम विचारों को व्यक्त करने के लिए दो पात्रों को गढ़ा है, जब कि गोदान में एक विराट परिवेश में जीते हुए व्यक्तियों को उनकी समस्त जीवंतता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ बोध आरोपित नहीं है, जीवन में से लपट की तरह उभरा है। यह नहीं कि लेखक का अपना कोई बोध नहीं होता। होता है, युगीन संदर्भों में जीवन के सत्यों और मूल्यों के प्रति उसकी अपनी दृष्टि होती है, उस दृष्टि से वह अपने सर्जन को एक अभिप्रेत दिशा और व्यक्तित्व देता है, परंतु उसका सबसे बड़ा बोध होना चाहिए, औरों के बोध को समझना।

साहित्य का मूल संबंध मानव की संवेदना से है। संवेदना के बिना साहित्य नहीं बनता चाहे उसमें बुद्धिवाद का कितना भी ऊहापोह क्यों न हो, दर्शन की नयी-नयी भंगिमा क्यों न हो। बुद्धि, दर्शन, चिंतन, ज्ञान, विज्ञान, सबको पहले जीवन में आत्मसात होना पड़ता है, तभी शक्तिशाली साहित्य की सृष्टि होती है। साहित्य-सृष्टि एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें सौंदर्य-चेतना, भाव-बोध, मूल्य-बोध, जीवन-चिंतन सभी संश्लिष्ट रूप से प्रस्तुत होते हैं। मूल्यों का बोध सर्जक को तत्कालीन जीवन-संदर्भों से प्राप्त होता है। बहुत सी मर्यादाएँ, मूल्य-मान्यताएँ किसी युग में आ कर पुरानी पड़ जाती हैं, सारहीन सिद्ध हो जाती हैं। युग नये मूल्यों की खोज करता है, नये जीवन-दर्शन बनते हैं। जाग्रत संवेदना और विश्लेषण-शक्ति-संपन्न बुद्धि इन मूल्यों की संक्रांतियों की चेतना का अनुभव करती है, नये मूल्यों की खोज करती है। कुंद संवेदनाशील और बुद्धिहीन लोग पुराने मूल्यों को ही ओढ़ कर चलते रहते हैं। दर्शन, मूल्य-बोध आदि की नवीनता साहित्य में उभरती रहती है किंतु साहित्य संवेदना के मांध्यम से प्राचीन और नवीन को एक शृंखला में बाँधे रहता है। हमारी सौंदर्य-चेतना और संवेदनाओं में युग-परिस्थितियों और जीवन-दर्शन के कारण नयी छायाएँ उगती रहती हैं किंतु कुल मिला कर मानव-संवेदना और सौंदर्य-भावना मानव की आदिम संपत्ति हैं। ये हमें एक दूसरे से जोड़ती हैं, अतीत को वर्तमान से जोड़ती हैं, एक देश को दूसरे देश से जोड़ती हैं। हम यह देखते हैं कि आज अनेक प्रकार के वादों से हमारा मतभेद है। हम उन्हें स्वीकार नहीं कर पाते, किंतु जब हम उनका अच्छा साहित्य पढ़ते हैं तो हमें अच्छा लगता है क्योंकि वे सारे मतभेदों के बावजूद मूलतः मानव-संवेदना को चित्रित करते हैं, उसे गहराई से उभारते हैं, और वहाँ हम सभी समान रूप से आस्वाद लेते नजर आते हैं। किंतु जो साहित्य मानव-संवेदना को मूल आधार न बना कर अपने दर्शन और बोध को चित्रित करने लगता है, उसे दूसरी दृष्टि वाले लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। उसमें मानव-मानव को जोड़ने वाली एकत्व-विधायक संवेदना नहीं होती, विकल्प-विधायनी बुद्धि मात्र होती है। अक्सर हम लोग बहस के दौरान कह दिया करते हैं कि बहस तो बहुत हुई, अब कविता सुनाइए, और हम देखते हैं कि जिस व्यक्ति की बातों से हम सहमत नहीं थे, उसकी कविताओं को खूब पसंद कर रहे हैं। कारण यही है कि कविताओं में मानव-संवेदना का चित्र मुख्य होता है, अन्य चीजों का चित्रण गौण। संवेदनाओं के ही कारण हम समय की दूरियाँ पार कर आदिकाल के कवियों की कविताओं का आस्वाद ले लेते हैं, मध्यकालीन कविता में तन्मय हो जाते हैं। सुख-दुख, राग-विराग, सौंदर्य-असौंदर्य की संवेदना प्राचीन है और चिर नवीन है। इन संवेदनाओं को जाग्रत रखने वाले उपादान बदलते रहते हैं और सामाजिक संबंधों की जटिलता के अनुसार संवेदनाओं में जटिलता आती रहती है, एक का दूसरे में संक्रमण होता रहता है। आज की संवेदनाएँ उलझी हुई हैं क्योंकि सामाजिक संबंध उलझे हुए हैं, मूल्य उलझे हुए हैं। इन संवेदनाओं को उनकी समस्त गहनता, सचाई

और तीव्रता में पकड़ कर उन्हें चित्रित करना सर्जक का मूल धर्म है। इसी से कृति में शक्ति और मर्मस्पर्शिता आती है। आज की बहुत-सी नयी कविताएँ संवेदना का, सौंदर्य का कुशल अंकन करने में ही सार्थक हैं, और बहुत सी कविताएँ आधुनिक कहे जाने वाले किसी बोध को व्यक्त करने के चक्कर में संवेदना से छूट गयी हैं। संवेदना को उसके आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समझना और अंकित करना भी आधुनिक बोध ही कहा जाना चाहिए, कम से कम साहित्य के क्षेत्र में। प्रकृति संबंधी बहुत सी ताजी कविताएँ, प्रेम-सौंदर्य के बहुत से ताज़ा चित्र, क्षणों की अनुभूतियों और विभिन्न मानसिक अवस्थाओं को बिंबों के माध्यम से उभारने वाली कविताएँ, नयी कविता में बहुतायत से मिलेंगी। इन सारी कविताओं की संवेदनात्मक गहराई के भीतर व्यर्थ ही आधुनिक युग का कोई दर्शन संबंधी ज्ञान, विज्ञान संबंधी कोई बोध खोजने लगें तो आप यही कहेंगे कि ये कविताएँ कविता की दृष्टि से मर्मस्पर्शी हैं परंतु इनमें आधुनिक बोध नहीं है। और कई बार तो आधुनिक बोध वह होता है जिसे आलोचक आधुनिक बोध समझ लेता है और उसका वह बोध आलोच्य कवियों के साथ उसके संबंधों के अनुसार बदलता रहता है।

—९१ समस्त ब्रह्म क्षत्रिय सोसाइटी,
अहमदाबाद-७।

मित्र

वीर राजा

अपने में संतुष्ट
दूसरों को विचारते
सोचते—
फिर भी दूसरों से अपरिचित
दूसरों से बात करते
लेकिन दूसरों की सुनते नहीं
किसी दिशा के
दायित्व में फँसे।

(अब तुम्हारी बात
नहीं सुनूँगा—
ऐसा न हो
हम दोनों की बातें एक ही हों)

●

बंटूज़ रेस्तराँ,
हज़रतगंज,
लखनऊ।

तीन कविताएँ

●

कांता

: एक :

एक जंगल टेसू दहकते
एक जंगल वीरानी :
यह तो
जंगल-जंगल की बात।

उधर केवल ठंडी धूप होगी,
या केवल हँसी, या केवल आकाश ; —
मेरे मन
दिन और रात—
साथ-साथ।

और
वह भी जीवन
यह भी जीवन :
दोनों निरर्थ, दोनों सार्थ।

: दो :

अधसोये, अधजागे
बीत जाए रात,
सपने
शाम की मानिंद
सिमटने लगे पंख,

बढ़ने लगे
दिन के साथ-साथ
ऊब :
कुहरा : मन में।
किंतु यह भी सुख ही—
किंतु यह भी सुख ही—
स्वीकार, और पाँव
जमीन पर।
आसमान

केवल नीलिमा,—शून्य—
जीवन : खालीपन से खाली,
विशद
अपनी अगमता में—समूचा
निरवसाद—

बढ़ने को बढ़े
दिन के साथ-साथ
ऊब।

सिमटें
शाम की मानिंद
पंख,
अधसोये, अधजागे
बीतने को बीते
रात।

: तीन :

डूब गयी डूबन :
सरयू की लहरों पर तैरे नहीं,
चले पाँव।

अपनी अंतिम नियति को पीछे ढकेलता
अजाने-अजाने
अजीब
एकांत से लगाव।
देखता रहा
किनारों पर हुजूम
मेरा यह
नीलम लेता छाँव
नाव पर बसा गाँव।
सोचता रहा कौतूहल से,
नादान :
मौत का चाव? !

●

—२७।२६ ईस्ट पटेल नगर,
नयी दिल्ली-१२।

समकालीन आलोचना, नयी कविता और उसका मूल्यांकन

अशोक वाजपेयी

नयी कविता के मूल्यांकन की समस्या पर विचार करने से पहले हिंदी आलोचना की स्थिति पर विचार करना ज़रूरी है। यह एक अजीब विसंगति है कि पिछले बीस बरसों में हिंदी आलोचना ग़ैर-साहित्यिक दबावों से इतनी आक्रांत रही है कि उसका अधिकांश अपने को वास्तविक कृतियों से निरंतर और उत्कट रूप से संबद्ध करने के बजाय एक तो ऐसे सामान्यीकरणों में फँस गया है जिनका वास्तविक आलोचना के काम में कोई उपयोग नहीं किया जा सकता, या फिर रचना को उसकी तद्रूपता और अद्वितीयता में देखने, पहचानने और परखने के बजाय उसका राजनीतिक, सामाजिक या समाजशास्त्रीय , मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक या नैतिक अभिप्रायों में अनुवाद कर इन अभिप्रायों का विचार करता है। यह प्रक्रिया साहित्य की स्वतंत्र सत्ता की उपेक्षा करती है और काव्य में कथ्य और शिल्प या फ़ार्म के कृत्रिम और घातक विभाजन को मान्यता देती है। यह नहीं है कि कविता का मनोवैज्ञानिक या सामाजिक या नैतिक आधार नहीं होता पर इन आधारों की परीक्षा या खोज का महत्व या उपयोगिता उस कविता को समझने भर के लिए है, उसे मूल्यांकन का आधार बनाना ग़लत है। बल्कि इस तरह की खोज-बीन आलोचना नहीं, उसके लिए आरंभिक ढंग की तैयारी है—अगर आलोचना का धर्म प्राथमिक रूप से रचना के संपूर्ण विविध अर्थस्तरों का उनकी पूरी जटिलता के साथ एक रचनात्मक उत्कटता से उद्घाटन करना है। कोई भी रचना किसी जीवन-दर्शन या राजनीतिक मत या आंतरिक संकट की शाब्दिक अभिव्यक्ति भर नहीं है। सच्ची कविता कभी भी किसी तरह का सरलीकरण नहीं होती और सच्चा कवि अपने को मानव-स्थितियों से, उनमें विहित तनावों और विरोधाभासों या अंतर्विरोधों के साथ प्रतिबद्ध करता है। इसलिए साहित्य में प्रगतिवादी या प्रतिक्रियावादी, अहंवादी या कुंठावादी जैसे विशेषणों का प्रयोग एक ख़तरनाक काम है क्योंकि इन शब्दों की रचना के मौलिक तत्वों को विवेचित करने की क्षमता एकदम संदिग्ध है। कविता को राजनीति या नीति या मनोविज्ञान से जोड़ना एक सीमा तक लाभदायक हो सकता है, पर समकालीन आलोचना में अक्सर यह संबंध इतना गहरा हो गया है कि एक बिलकुल भिन्न अनुशासन के प्रतिमान दूसरे पर बेखटके लागू किये जाते हैं। इस गड़बड़ का एक नतीजा यह है कि हमारे आलोचकों के पास अब तक

ऐसे उपकरण नहीं विकसित हो पाये हैं जिससे वे किसी रचना के सभी अर्थ-स्तरों का, उनकी पूरी संकुलता के साथ, उद्घाटन और विवेचन कर सकें। और किसी भी आलोचनात्मक मूल्यांकन की तब तक कोई प्रामाणिकता नहीं हो सकती है जब तक कि इस तरह के उद्घाटन और विवेचन में से नहीं किया गया और संप्रेषित हुआ है। इसके साथ ही साथ, एक और भ्रामक धारणा से हमारी आलोचना की परंपरा आक्रांत है, और वह है कथ्य और शिल्प के विभाजन की धारणा। जहाँ सिद्धांततः यह मान भी लिया गया है कि कथ्य और शिल्प दरअस्ल अविभाज्य हैं, वहाँ भी व्यवहार में इस प्रारंभिक विभाजन के बाद (यानी रचना के कथ्य-पक्ष और शिल्प-पक्ष के विचार के बाद) रचना को आलोचनात्मक ढंग से उसकी पूर्णता में उपलब्ध कर पाना बहुत कठिन और अक्सर असंभव हो जाता है।

संक्षेप में, नयी कविता के मूल्यांकन के लिए हिंदी में एक अपेक्षाकृत नये क़िस्म के आलोचनात्मक चिंतन और व्यवहार की आवश्यकता है। एक तो साहित्य को—कम से कम कविता को—देखने, पहचानने और परखने में अन्य हर क्षेत्र द्वारा दी गयी दृष्टि से सहायता लेते हुए प्राथमिक और अंतिम रूप से साहित्यिक आधारों का ही आश्रय लेना चाहिए। किसी भी तरह की राजनीतिक दृष्टि या सामाजिक मत तभी आलोचना के लिए उपयोगी है जब वह उसके विवेचनात्मक उपकरण का अवयव बन जाय। जब तक हमारी आलोचना में सामान्यीकरणों की भरमार रहेगी और ठोसपन नहीं आयगा, नयी कविता के मूल्यांकन की बात सोचना बेकार है। दूसरे, कविता के बारे में हमें एक 'आर्गेनिक थ्योरी' स्वीकार करने की ज़रूरत है। रचना-प्रक्रिया को ले कर जो कुछ पिछले दिनों लिखा गया है उससे कम से कम अब बिलकुल साफ़ हो जाना चाहिए कि कविता में भाषा और अनुभव या भावना या संवेग अविभाज्य हैं—रचना -प्रक्रिया और उपलब्ध रचना दोनों में। अनुभूति या भावना या संवेग भाषा से स्वतंत्र या अलग नहीं होते। यह एक मूल्यवान विरोधाभास है कि भाषा के माध्यम से कवि अनुभव की खोज और पुनर्रचना करता है और भाषा स्वयं अनुभव का एक अंग है। आलोचनात्मक क्रियाविधि के लिए सिर्फ़ कविता—भाषा का एक अत्यंत नाटकीय रूप—उपलब्ध है और इसलिए आलोचना को उसकी गहरी पड़ताल कर सकने के लिए पूरी तरह से लैस होना चाहिए। नयी कविता पर शिल्पवादी होने का जो आरोप है उसका यही उत्तर है कि यह एक अप्रासंगिक आरोप है क्योंकि कविता में कथ्य और शिल्प एकमेक होते हैं और नयी कविता जैसी संकुल अर्थ-स्तरों वाली कविता में उनमें से किसी एक की प्रमुखता दिखाना या मानना अगर दृष्टिहीन होना नहीं तो अधूरा देखना ज़रूर है।

यह तो हुई समकालीन आलोचना की स्थिति की बात। अब एक दूसरी समस्या उठती है नयी कविता के अपने स्वरूप को ले कर। वह किसी एक स्पष्ट परिभाषित प्रवृत्ति का नाम नहीं है बल्कि एक प्रवृत्ति-समुच्चय का नाम है जिसमें एक ओर आधुनिक नागरिक जीवन की विषम स्थितियों और उनसे उत्पन्न संशय या बेचारगी या यांत्रिकता आदि की कविताएँ हैं तो दूसरी ओर जीवन की आत्मीय मुद्राएँ और प्रकृति-साहचर्य की लोकधर्मी कविताएँ हैं और तीसरी ओर धार्मिक या आध्यात्मिक संवेदना की कविताएं। यह नहीं है कि इस विविधता के बीच एकता या समानता का कोई मूल-सूत्र न खोजा जा सके, पर ऐसा करना काफ़ी मुश्किल काम है—कभी -कभी तो असंभव

भी लग सकता है। नयी कविता की विविध जटिलता निश्चय ही उसका मूल्यांकन करने वाले के लिये एक बुनियादी समस्या है। मुझे लगता है कि नयी कविता को पिछली सारी कविता से एकदम विविक्त या स्वतंत्र मानने-मनवाने या उसे किन्हीं पूर्ववर्ती तत्वों मात्र का विकास समझने के प्रयत्न, दोनों ही भ्रांतिमूलक हैं। उसमें मूलतः दो प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं जिनमें से एक हमारे काव्य-इतिहास में एक नयी घटना है और उसे मैं मानवीय साक्षात्कार की प्रवृत्ति कहना चाहूँगा, और दूसरी छायावादी प्रवृत्ति का ही एक विकास है। कुछेक कवियों में दोनों प्रवृत्तियाँ एक द्वंद्वात्मक तनाव के रूप में हैं और उनके काव्य को एक मूल्यवान अर्थसंदर्भ और उत्तेजना देती हैं।

छायावादी कवि का संवेदनात्मक उपकरण कुछ ऐसा था कि वह हर मानवीय अभिप्राय को प्राकृतिक चित्रों, बिंबों या प्रतीक-व्यवस्थाओं में बुन लेता था ––उनकी बुनियादी जिज्ञासा या लगाव का विषय मनुष्य और मनुष्य के बीच का संबंध न हो कर मनुष्य और प्रकृति का संबंध था और उसकी मूल्य-धारणा इस लगाव से नियमित होती थी। इसके विपरीत, 'तार सप्तक' से ले कर अब तक अगर नयी कविता के विकास को हम दिखाना चाहें तो यह कह कर दिखा सकते हैं कि नयी कविता एक ऐसी भाषा उपलब्ध करने की विकलता से आरंभ हुई थी जिसमें समकालीन मानवीय वास्तविकता का यथासंभव सीधा सामना या साक्षात्कार किया जा सके, और अब काव्य-भाषा ऐसी स्थिति में पहुँच गयी है जहाँ यह साक्षात्कार संभव है—अगर कवियों में ऐसे साक्षात्कार के लिए लगाव और नैतिक साहस हो। इस तरह नयी कविता का एक बड़ा अंश मानवीय साक्षात्कार के प्रयत्न और इस प्रयत्न की सफलता-विफलता की कहानी है। वास्तव को काव्य में अवतरित करने का ऐसा सीधा प्रयत्न इतने प्रबल आग्रह के रूप में कभी नहीं था, और इसका प्रमाण यह है कि संभवतः नयी कविता के पहले कभी मानवीय संबंधों को इतना गौरव नहीं मिला था और न ही उनमें निहित करुणा, तनाव, अकेलापन, आतंक, सुख और आह्लाद—संक्षेप में मानवीय संबंधों की ट्रेजेडी और कामेडी दोनों ही इतने सीधे ढंग से काव्य में अवतरित हुए थे जितने कि नयी कविता में हुए हैं। चूंकि साक्षात्कार से हमेशा सुख ही नहीं मिलता—बल्कि अक्सर परेशानी, विचलन या भय-संशय होता है, इस तरह का काव्य प्रसन्न या तृप्त करने के बजाय प्रायः विचलित करता है। पुरानी कविता की तुलना में यह याद रखना जरूरी है कि प्रायः नयी कविता पूर्वस्वीकृत आस्था या विश्वासों से उत्पन्न कविता नहीं है। वह पाठक की आस्था या विश्वासों का, जिन्हें अक्सर उनके जीवंत न रह जाने के बावजूद भी वह किसी मोहवश छोड़ नहीं पाता, समर्थन नहीं करती बल्कि उनके आगे प्रश्नचिन्ह लगाती है और उसे उनकी अप्रासंगिकता या व्यर्थता का तीव्र बोध कराती है। खोज की भाषा में कहें तो नयी कविता में आस्था या विश्वासों से कविता नहीं पैदा हुई है बल्कि कविता उनकी खोज है। आस्था कविता से पैदा हो सके, इसकी भी एक विकलता नये कवियों में देखी जा सकती है। जो कवि किसी विचारधारा विशेष से प्रभावित हैं उनकी कविता में भी उनकी आस्था मोटे ढंग से व्यक्त नहीं होती। एक उदाहरण मुक्तिबोध की कविता है। उनकी कविता अपनी आस्था न तो बढ़-चढ़ कर बखान करती है और न ही धूम मचाती है: वह अपने अर्थ को सच्ची कविता की प्रकृति के अनुकूल चरितार्थ करती है।

फिर एक दूसरी प्रवृत्ति भी नयी कविता में मौजूद है: वह एक तरह का नया रोमांटिसिज़्म है जिसमें छायावाद की दार्शनिक मान्यताएँ या उसका अंतर्लोक भले ही अस्वीकृत हो गया हो, उसकी संवेदनात्मक स्थितियाँ और काव्य-मुद्राएँ अभी भी स्वीकार्य हैं; यद्यपि उनका मूल स्रोत अब छायावादियों की तरह कालिदास या अन्य संस्कृत कवियों का सौंदर्यबोध नहीं बल्कि लोक-गीत या लोक-काव्य है। छायावादी कविता की तरह इस ढंग की नयी कविता पैस्टोरल ढंग की कविता है—बल्कि आदिम ढंग की। प्रकृति और जीवन के प्रति एक तरह का बाल-विस्मय या मुग्धता का भाव ऐसे कवियों में है और रहस्यात्मकता भी—यह आकस्मिक नहीं है कि इस प्रवृत्ति के कवियों में 'अनजान, अनदेखा, अनाम' जैसे शब्दों का बार-बार प्रयोग हुआ है—वैसे यह ऊपर ही कहा जा चुका है कि ज़्यादातर कवियों में दोनों प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। इस विपर्यय का बोध सभी कवियों को उतनी तीव्रता से नहीं है जितना कि उसे काव्य के लिए एक मूल्यवान तत्व बनाने के लिए ज़रूरी है।

इस तरह कुल मिला कर नयी कविता जहाँ एक ओर परंपरा में एक नया तत्व—मानवीय साक्षात्कार को—जोड़ती है वहाँ उसी के कुछ तत्वों को—रोमांटिसिज़्म को—विकसित भी करती है। इस तरह परंपरा का तात्पर्य अगर व्यापक जीवन-परंपरा न हो कर सिर्फ़ साहित्य-परंपरा हो तो नयी कविता के मूल्यांकन की समस्या परंपरा के पुनर्मूल्यांकन या विन्यास की समस्या भी है। नयी कविता की तात्कालिक परंपरा के संदर्भ में मानवीय साक्षात्कार नया तत्व हो किंतु, व्यापक परंपरा में अवश्य ऐसे कवि मिल सकेंगे जिनमें यह तत्व रहा है, भले ही पहले कभी एक प्रवृत्ति और एक प्रबल आग्रह के रूप में वह प्रतिष्ठित न रहा हो। पानी बिच मीन पियासी देख कर जिसे हँसी आती थी उस कबीर को उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है, भले ही उसके लिए नये कवि से भिन्न मानवीय साक्षात्कार का प्रतिफल रहस्य-दृष्टि या निर्गुण भक्ति हो।

यहीं पर एक नयी बात भी उठ खड़ी होती है। हमारे यहाँ हर चीज़ के बारे में आंदोलन या प्रवृत्ति की भाषा में सोचने की कुछ ऐसी आदत पड़ गयी है कि कवि की अद्वितीयता की बात या तो भूल ही जाते हैं या नज़र-अंदाज़ करते हैं। नयी कविता पर अब तक जो लिखा गया है उसका अधिकांश कवियों को इस या उस प्रवृत्ति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता रहा है—जैसे किसी का नया कवि होना एक मूल्य-निर्णायक तथ्य भी हो। उसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि अलग-अलग कवियों की स्वतंत्र रचनाशीलता की परीक्षा नहीं के बराबर हुई है और यह बात धूमिल हो गयी है कि किसी भी धारा का कवि उस धारा का कवि होते हुए भी अपनी अद्वितीय प्रतिभा के कारण उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करके ही अपनी काव्योपलब्धियाँ करता है। किसी भी युग या धारा-विशेष की पूरी पड़ताल के बावजूद भी कुछ कवियों को समझना असंभव होता है, जैसे विक्टोरियनिज़्म की किसी भी तरह की व्याख्या हापकिंस के जन्म या विकास को पूरी तरह नहीं समझा सकती। इसलिए यह समझ लेना बहुत ज़रूरी है कि नयी कविता के मूल्यांकन का अर्थ नये कवियों का उनकी स्वतंत्र अद्वितीयता के पूरे स्वीकार के साथ मूल्यांकन होना चाहिए न कि एक प्रवृत्ति-समुच्चय के अंतर्गत परिगणित हो सकने वाले कृतित्व मात्र का। जो सामान्य है उसे जानते-खोजते जो विशेष है उस तक पहुँचे बिना पूरे कृतित्व का सच्चा साक्षात्कार नहीं हो सकता।

एक रोचक उदाहरण अज्ञेय हैं। अगर आप नयी कविता संबंधी सामान्य दृष्टि से देखें तो 'आँगन के पार द्वार' की धार्मिक संवेदना और क्लासिकल लोक को, जो निर्वैयक्तिक प्यार, पारमिता करुणा, संपूर्ण तादात्म्य आदि भावों और धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त और निर्मित हुए हैं, समझना-समझाना मुश्किल है। पर अज्ञेय के अपने विकास-क्रम में वह अच्छी तरह समझा जा सकता है। आरंभ से ही आत्मदान और मुक्ति अज्ञेय की प्रमुख और प्रायः हमेशा परस्पर-संबद्ध थीमें रही हैं और अपनी अंतिम कविताओं में लगभग एक स्वाभाविक परिणति के रूप में वे इन्हीं थीमों को एक नये बोध-स्तर पर उपलब्ध करते हैं। दूसरे शब्दों में, नये कवियों का मूल्यांकन करते हुए समकालीन या आधुनिक मूल्य-बोध और व्यक्तिगत अद्वितीयता दोनों का गहरा विचार होना चाहिए। 'नयी कविता' एक व्यापक पद है, नाम भर है; उसके महत्व या उपयोगिता को मूल्यांकन करते समय अतिरंजित नहीं किया जा सकता। किसी भी नये कवि का मूल्यांकन न्यायपूर्वक तभी किया जा सकता है जब आलोचक उसके बुनियादी लगावों को ठीक से पहचान कर उसके काव्य में उनके अवतरण या उपलब्धि की परख कर सके। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अधिकांश नये कवियों में मानवीय साक्षात्कार के या एक नये रोमांटिसिज़्म के प्रति एक उत्कट कोटि का लगाव या दोनों पाये जाते हैं, इसलिए इनका विचार मूल्यांकन में सहायक हो सकता है। पर इनके साथ-साथ अलग-अलग कवियों में दूसरे लगाव भी हैं और उनकी पूरी पहचान और पड़ताल अनिवार्य है। दरअस्ल लगावों के ये स्वतंत्र और नये-नये संयोग ही किसी भी काव्य की—और इसलिए नयी कविता की गहराई, विविधता और समृद्धि के लिए उत्तरदायी हैं।

अंत में, एक बात और ध्यान देने की है। जब हम किसी धारा या युग के मूल्यांकन की बात करते हैं तो उसे हमेशा उस युग या धारा के श्रेष्ठ काव्य के मूल्यांकन की बात होना चाहिए। श्रेष्ठ काव्य हमेशा ढेर सारे घटिया या अप्रामाणिक काव्य से घिरा होता है। आलोचक का एक प्रमुख कर्तव्य ही यह है कि वह श्रेष्ठ को पहचाने और दूसरों को पहचान करने में सहायता दे। इसलिए नयी कविता के नाम पर अगर बहुत सा कूड़ा-कर्कट भी बाज़ार में आ गया है तो इस बात से मूल्यांकन में कोई बाधा नहीं पड़नी चाहिए। प्रामाणिक आलोचना की सिद्धि इस बात में है कि वह सच्ची रचना को स्पष्ट पहचान कर उससे एक उत्कट रचनात्मक संबंध स्थापित करती है। रचना की पहचान आलोचना का बुनियादी धर्म है जिससे किसी भी तर्क का आश्रय ले कर कतराना आलोचना-कर्म से ही कतराना है। अगर यह पहचान करना आज बड़ा कठिन है तो इसे आलोचना की आवश्यकता और गौरव का ही आख्यान मानना चाहिए।

—बी।२५ निजामुद्दीन पश्चिम,
नयी दिल्ली-१४।

लघुकथा

शेष-अशेष

रावी

एक कुम्हार ने अपना कारोबार अपने पुत्र को सौंपते हुए मिट्टी का वह टीला भी उसे दे दिया जो उसकी सबसे बड़ी जायदाद थी। इस टीले से ही मिट्टी काट-काट कर वह गाँव भर के लिए बर्तन बनाया करता था।

कुम्हार देस-परदेस के तीर्थाटन के लिए चला गया। कुछ वर्षों बाद जब वह लौटा तो देखा कि टीले के स्थान पर समतल खेत था। उसके पुत्र ने इतने समय में पूरा टीला काट कर सारी मिट्टी के बर्तन बना डाले थे—बड़ी-बड़ी बुखारियाँ, घड़े, सुराहियाँ, मर्तबान, कुल्हड़, सकोरे आदि-आदि जितने भी बर्तन उसने अपने पिता के हाथों बनते देखे और सीखे थे।

"इन बर्तनों से गाँव का काम तो इस पीढ़ी भर का चल जायगा, लेकिन मुझे कुछ नये रूप और नये उपयोग के बर्तन गाँववालों को देने थे—ऐसे जो उनकी अगली सुविधाओं के लिए बहुत आवश्यक थे। तुमने अपनी जल्दबाज़ी में चार बासनों के लिए भी मिट्टी शेष नहीं छोड़ी!" बूढ़े कुम्हार ने दुखी स्वर में कहा और माथा पकड़ कर बैठ गया। वह चिंताग्रस्त बैठा सोचने लगा।

●

ऐसी ही एक घटना इस सृष्टि-कल्प के आरंभ में भी हुई।

ब्रह्मा ने अपने एक पुत्र को सृष्टि-सृजन का भार सौंप कर किसी आवश्यक कार्य से समाधि ले ली। सृष्टि का उपादान—भौतिक तत्व की एक विशाल समूची राशि—उन्होंने अपने उस पुत्र 'कल्प मनु' को सौंप दी। 'कल्प मनु' ने कुछ युगों के भीतर उस समस्त तत्व से एक सहस्र नीहारिकाओं का सृजन कर डाला। इन नीहारिकाओं में से कुछ के भीतर सौर-मंडलों, ग्रहों-नक्षत्रों और सप्राण देहियों से युक्त जीते-जागते संसारों का सृजन भी 'कल्प-मनु' ने जैसा-जितना अपने पिता को करते देखा था, कर डाला।

ब्रह्मा की समाधि टूटी तो वे 'कल्प मनु' की इस कृति को देख कर बहुत दुखी हुए। "इस तत्व-राशि से मुझे जीवन के अगले विकास के लिए कुछ भिन्न प्रकार की नीहारिकाओं और उनके अंतर्गत नये प्रकार के सूर्यों और संसारों का सृजन करना था। किंतु मूल तत्व की राशि का एक कण भी तुमने शेष नहीं छोड़ा!" ब्रह्मा ने कहा और चिंता मग्न हो गये।

●

तीसरी घटना अपेक्षाकृत नयी, इस पृथ्वी पर जीवन की प्रस्तुत चौथी परिक्रमा के प्रारंभ की है, जबकि मानवों के आदि मनु वैवस्वत ने मानव जाति के विकास के लिए अपने संकल्प से

'कल्पना 'नाम की एक विस्तृत तत्व-राशि का सृजन किया। कहते हैं, मानव-मन के द्वंद्वों के साथ कहानी का आरंभ भी तभी से हुआ।

मनु वैवस्वत अपनी समस्त कल्पना की राशि मानव-चेतना के आवश्यक निर्माण के लिए अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप कर कार्य-वश अन्यत्र चले गये। लौट कर उन्होंने देखा कि उनके उत्तराधिकारी पुत्र ने उस समस्त कल्पना-तत्व को अपने कारीगरों में वितरित कर दिया था और उन्होंने उसे अगणित रूप और रूपक दे कर शास्त्रीं-पुराणों और विविध लिखित एवं अलिखित ग्रंथों में भर दिया था—उस कल्पना-राशि का एक भी सूत्र ऐसा नहीं बचा था जो किसी प्रकट या गुप्त रूप में इन टीपनों में न आ गया हो।

"मानवजाति के विकास के लिए मुझे इस कल्पना-तत्व से कुछ और भी नयी कल्पनाओं और रूपों का सृजन करना था. . . ." मनु वैवस्वत ने भी वैसी ही कुछ बात कही और चिंतित हो, विचारों में डूब गये।

●

कुम्हार, ब्रह्मा और मनु—तीनों की ही समस्या एक थी। तीनों एकत्र हुए। ब्रह्मा इन सबमें बुजुर्ग थे और कुम्हार तो आखिर मनु का ही एक पुत्र था। ब्रह्मा ने समाधान खोज लिया था। उन्होंने कहा, "सृष्टि के उपादान, भौतिक तत्व, की और भी राशियाँ अभी शेष हैं जिनसे भिन्न प्रकार की असंख्य नीहारिकाओं और संसारों का सृजन हो सकता है; कुम्हार के गाँव-बाहर, उसके प्रदेश में ही, और भी बहुत-से टीले विद्यमान हैं जिनकी मिट्टी से नये प्रकार के बर्तनों का निर्माण हो सकता है; और कल्पना के अगणित अक्षय-अछूते भंडार अभी आकाश के गर्भ में सुरक्षित हैं, जिनसे मानव की चेतना को नया आहार मिल सकता है" कहते-कहते ब्रह्मा कुछ रुके और फिर बोले, "किंतु अभी उन नये भंडारों तक हमारी पहुँच नहीं हो सकती और न उनकी हमें अभी आवश्यकता ही है। पूर्व निर्मित को ही तोड़ कर, गला कर हम उसी सामग्री से अभी इतने नये रूपों को जन्म दे सकते हैं जो हमारी इस युग की नयी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त होंगे।"

●

भौतिक तत्व से निर्मित विशाल नीहारिकाओं का तो हम उतना सविस्तार निरीक्षण नहीं कर सके, और न ही मानव-मन की अब तक की कल्पनाओं के विस्तार का ही ठीक लेखा-जोखा निकाल पाये; अलबत्ता यह अवश्य देखा जा सका कि कुम्हार के बाड़े में निर्मित, पकाये हुए बर्तनों का वह आवश्यकता से अधिक संग्रह एक छोटी-सी शताब्दी के भीतर ही गल-घुल कर कच्ची मिट्टी का एक छोटा-सा नया टीला बन गया और उससे नये प्रकार के बर्तनों के निर्माण के लिए उपयुक्त मिट्टी सुलभ हो गयी।

—पोस्ट कैलास (आगरा)।

दूध-पूत

गंगा प्रसाद मिश्र

श्यामनाथ हलवाई का लड़का दूध के कढ़ाव में गिर कर मर गया—शहर भर में खबर फैल गयी। जिसने सुना उसी की आँखें डबडबा गयीं, कलेजा मुँह को आ गया। हाय कैसा अनरथ हुआ, बेचारे का एकलौता लड़का था! लड़का तो मर कर चला गया, जो रह गये उनकी और भी दुर्गत है। माँ-बाप दोनों जैसे पागल हो गये हैं। माँ ने न जाने कितनी बार पटक-पटक कर अपना सिर फोड़ लिया। चार औरतें पकड़े बैठी हैं फिर भी सम्हाले नहीं सम्हल रही है। श्यामनाथ कुएँ में फाँदने जा रहा था, लोगों ने बड़ी मुश्किल से पकड़ पाया। अंदर कोठरी में घुस कर फाँसी लगा लेना चाहता था, वह भी लोगों ने न होने दिया। बुलाने से, यत्न करने से मौत भी नहीं आती; अपने समय पर ही आयगी। उस समय कोई लाख चाहे कि रुक जाय तो रुकेगी भी नहीं। अपने अंश के छिन जाने, नष्ट हो जाने की वह पीड़ा कितनी असहनीय होती है। ऐसा लगता है जैसे किसी ने अंतरतम में एक जलती हुई सलाख़ धँसा रखी है। उस पीड़ा को सहन करने से ज़्यादा आसान किसी भी युक्ति से अपने प्राण दे देना होता है।

कैसा प्यारा बच्चा था रम्मू! ख़ूब गोरा-चिट्टा, गुलगोथना सा। अपने प्रिय जलपान दूध-जलेबी की सारी मिठास, सारा रस उसकी ज़बान में आ गया था। बोलता था तो फूल झड़ते थे। दूकान के सामने से गुज़रने वाले हर परिचित व्यक्ति से—पंडित जी पायलागी, बाबू जी नमस्ते, काका राम-राम, कह कर मन मोह लेता था। उसकी मृत्यु का समाचार सुन कर हर उस व्यक्ति को बेहद तकलीफ़ हुई थी जिसने एक बार भी उस बच्चे को देखा था। तब उस माँ के दुःख की बात कहाँ तक कही जा सकती है जिसने नौ महीने उसे पेट में रखा था, वर्षों उसे अपना ख़ून पिला कर पाला था। और उस बाप के दुःख को ही कौन जान सकता था जिसने रम्मू को आँख की पुतली की तरह सँजो कर रखा था, उसको ले कर सपने देखे थे कि उसे ख़ूब पढ़ायेगा और आला अफ़सर बनायेगा। वे सब सपने आज ऐसे नष्ट हो गये थे जैसे मिट्टी के घरौंदे को कोई लात मार कर बर्बाद कर दे।

हुआ यह कि श्यामनाथ की दूकान में भट्ठी पर कढ़ाव में चढ़ा दूध उबल रहा था। श्यामनाथ कहीं गया हुआ था और कारीगर पड़ोसिन के दरवाज़े बैठा गप मार रहा था। रम्मू आया और वहीं खेलने लगा। वह अक्सर ही वहाँ खेला करता था। उछलते-कूदते न जाने कैसे उसका पैर डगमगाया कि वह सीधा कढ़ाव में जा कर गिरा। एक हृदय को बेधने वाली चीख उस बेचारे

के मुँह से निकली। पड़ोस से कारीगर भागा, अंदर से माँ प्राण छोड़ कर भागी लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। बच्चे का सारा बदन झुलस गया था। उसकी ओर आँख उठा कर देखते न बनता था। कुछ ही देर में उसने दम तोड़ दिया।

कढ़ाव का दूध बहुत देर तक तो उपेक्षित पड़ा रहा पर जब कारीगर को उसका ख्याल आया तो उसका मन एक विचित्र आक्रोश से भर उठा। न जाने किस सायत में आया था यह दूध जो उस ग़रीब बच्चे के प्राण ही ले डाले। "हत्यारा!" कह कर उसने उस दूध को नाली में ढरका दिया।

●

उस दूध की भी एक कथा थी, एक व्यथा थी।

रमज़ानी घोसी के पास एक पछाहीं श्यामा गाय थी। कुछ ही दिन हुए वह पहली बार ब्याई थी और एक अत्यंत सुंदर स्वस्थ बछड़े को उसने जन्म दिया था। सात-आठ सेर दूध वह दे रही थी। कोई भला आदमी होता तो आधा दूध बछड़े को पिलाता और आधा ख़ुद लेता, लेकिन रमज़ानी को भलमंसी से क्या मतलब। वह बछड़े को उतनी ही देर गाय के थन में मुँह लगाने देता जितनी देर में गाय के दूध उतरता। जैसे ही दूध थनों में आना शुरू हो जाता वह बछड़े की रस्सी पकड़ कर खींच लेता और उसे अलग बाँध देता। मुश्किल से दो-चार घूँट दूध बछड़े के मुँह में जा पाता। वह बड़ी देर तक अपनी लाल-लाल जीभ निकाल कर नथुनों के पास तक चाटने की कोशिश किया करता कि शायद दूध की एक-आध बूंद बह कर उधर निकल गयी हो। बछड़े के इस बेदर्दी से हटाये जाने पर गाय का मन रो पड़ता—उसके अपने दूध के लिए उसका निज का अंश इस तरह तरस जाय! उसे क्रोध आ जाता और कभी-कभी बछड़ा हटाये जाने पर वह दूध ऊपर चढ़ा लेती। लेकिन यह कहाँ तक चल सकता था। सवेरे का बचा दूध उसे शाम को देना पड़ता। एक दिन जब इसी तरह चढ़ाया हुआ दूध उसे कष्ट दे रहा था, उसने रस्सी तुड़ा ली थी और बछड़े को जी भर कर दूध पिलाया था। उस दिन रमज़ानी ने डंडे से उसे ख़ूब ही पीटा था। फिर वह बाज़ार से एक मोटी रस्सी और जंजीर ले आया था और उसी से श्यामा को बाँधने लगा था। इस प्रकार चोरी-छुपे बछड़े को दूध पिला सकने की संभावना भी समाप्त हो गयी थी। बछड़ा अभी घास-भूसा खाने लायक़ नहीं हुआ था। उसके सामने ये चीज़ें रख दी जातीं, वह उनमें मुँह भी लगाता, लेकिन उसे कुछ रुचता नहीं। दूध उसे नाममात्र को ही मिल पाता था। धीरे-धीरे वह कमज़ोर होता गया और एक दिन मर गया। श्यामा को कितनी परेशानी हुई, कितनी वह व्याकुल हुई, इसे पुत्र-शोक से व्यथित कोई माँ ही समझ सकती है। उसने दूध देना बंद कर दिया।

रमज़ानी घोसी ने एक जाल गाय के साथ किया। उसने उस बछड़े की खाल में भूसा भरवा कर गाय के सामने ला कर रखा। श्यामा इस जाल-बट्टे को कुछ समझ न पायी। उसका बछड़ा कहाँ चला गया था और कैसे लौट आया, वह इस तरह चुपचाप पड़ा क्यों है, उछलता-कूदता क्यों नहीं, उसके थनों में मुँह लगा कर जो दो-चार घूँट दूध रमज़ानी उसे पी लेने दिया

करता था वह भी नहीं पीता—यह कुछ उसकी समझ में न आया। सामने पड़े हुए बछड़े की खाल को श्यामा ने चाटना शुरू किया तो उसका स्नेह उमड़ आया और वह दूध के रूप में उसके थनों से प्रवाहित होने लगा। रमजानी ने अपनी बाल्टी भर ली। इस बाल्टी में वह दूध था जिसकी एक-एक बूंद के लिए श्यामा का बछड़ा तरस-तरस कर मर गया था।

वही दूध श्यामनाथ हलवाई के यहाँ कढ़ाव में चढ़ा हुआ उबल रहा था। श्यामनाथ दूकान पर बैठा था। इतने में अपने बच्चे को गोद में लिए हुए आ गयी नजरिया। नजरिया एक भिखारिन थी जिसके माँ-बाप उसे बचपन में ही छोड़ कर मर गये थे। मेरे-तेरे दरवाज़े माँगे हुए टुकड़ों को खा कर वह बढ़ी थी, जवान हुई थी। ईश्वर ने और सब-कुछ देने में जो कसर रखी थी वह जवानी देने में पूरी कर दी। जिसकी ओर भी वह नज़र उठा कर देख देती, वह उसे भूल न पाता। शुरू में ही धोखा खा कर वह यह जान गयी कि लोग काहे के ग्राहक हैं और होशियार रहने लगी। लेकिन एक दिन वह भूख से विवश हो गयी और उसी कारण एक बच्चे की माँ बन गयी।

नजरिया यों देखने में तंदुरुस्त मालूम होती थी लेकिन वक़्त से भरपेट रोटी भी न मिलने के कारण उसके दूध न होता था। कभी कोई दयालु माँ कुछ दे देती तो वह थोड़ा-बहुत बच्चे को पिला पाती, अन्यथा बच्चा रोता-बिलखता रहता, झुंझला-झुंझला कर उसके स्तनों को चूसता और कुछ न मिलने पर अपने नन्हें-नन्हें दाँतों से ऐसा काटता कि वह बिलबिला जाती। कभी-कभी वह गुस्से में बच्चे को मार बैठती पर जब वह चीखता तो उसे गले लगा कर रोने लगती।

इधर दो-तीन दिन से उसके दूध बिल्कुल नहीं हो रहा था। बच्चा भूख के मारे बिलख-बिलख कर परेशान था, बिल्कुल कमज़ोर और निढाल हो गया था। नजरिया ने सोचा कि कहीं मिल जाय तो वह बच्चे को ऊपर का दूध पिला दे। इसी तलाश में वह निकली थी। श्यामनाथ की दूकान पर उसने कढ़ाव में उबलता हुआ दूध देखा तो उसकी आँखों में आशा की एक चमक आ गयी। बहुत गिड़गिड़ा कर उसने दूकान पर बैठे श्यामनाथ से, जो बड़े मौज से 'दानवीर कर्ण' नौटंकी पढ़ रहा था, कहा, "भैया ! मेरा बच्चा तीन दिन से भूखा मर रहा है, एक बूँद दूध इसे नहीं मिला। ज़रा-सा दूध इसके लिए दे दो। भगवान तुम्हारे खज़ाने में बरक्कत करेगा, बच्चे राज करेंगे।" और फिर अपना टीन का डिब्बा उसके आगे बढ़ा दिया।

श्यामनाथ के आनंद में बाधा पड़ी, उसने घूर कर नजरिया की ओर देखा और बोला, "पिलाती क्यों नहीं, हट्टी-कट्टी तो है।"

"होता नहीं है भैया !" उसने ज़मीन की ओर देखते हुए कहा," दे दो ज़रा सा !"

"उस बदमाश से क्यों नहीं माँगती जिसने इसको पैदा किया है ?"

इसका कोई जवाब नजरिया के पास नहीं था क्योंकि बच्चे का बाप तो उसी रात को उसे सोती छोड़ कर खिसक गया था, और फिर कभी उसने अपनी शक्ल न दिखलायी थी। नजरिया के मन में उस मतलबी आदमी के लिए अत्यंत कटुता तो थी ही, दाता की दया पाने के विचार से उसने कहा, "वह तो कभी का मर गया भैया, दे दो ज़रा-सा दूध !"

श्यामनाथ कड़क कर बोला, "भाग जा यहाँ से !"

नजरिया ने फिर भी आशा न छोड़ी, बड़ी दीनता से गिड़गिड़ा कर रोती हुई बोली, "बच्चे पर दया करो भैया, भूखा मर रहा है। ज़रा सा देने में तुम्हारा घटेगा नहीं भैया !"

"जाती है कि नहीं कुलटा !" कह कर श्यामनाथ ने पास में रखा हुआ डंडा उसे मारने को उठाया।

नजरिया रोती हुई वहाँ से टल गयी। नल के पास जा कर उसने दो घूँट पानी पिया और बच्चे के गले को सींचने के लिए दो बूँद पानी उसके मुँह में डालना चाहा तो देखा कि उसकी साँस उलटी चल रही है। कुछ ही देर बाद भूख से तड़पती हुई उस नन्हीं-सी जान ने अपनी असहाय माँ की गोद में दम तोड़ दिया। बेचारी नजरिया एक चीख़ मार कर बेहोश हो गयी।

श्यामनाथ दूकान से उठ कर तगादे पर चला गया और दूकान नौकर पर छोड़ गया। नौकर ने पड़ोसिन को बाहर बैठी देखा तो उससे बातें करने चला गया।

उसी के बाद श्यामनाथ का एकलौता बेटा रम्मू आया और दूध के उबाल का शिकार हो गया। कोई भी न जान पाया कि दूध जैसी पालन करने वाली वस्तु ऐसी जघन्य हत्या का कारण कैसे बन गयी।

—प्रधानाचार्य,
राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय,
सुल्तानपुर।

बँगला

बँगला भाषा और साहित्य

भारत भूषण अग्रवाल

हिंदी की सहवर्ती भाषाओं में बँगला का स्थान अन्यतम है। आधुनिक भारतीय साहित्य का प्रथम सूर्योदय उसी में हुआ था। बंकिमचंद्र और शरच्चंद्र आधुनिक बंगला साहित्य के ऐसे प्रख्यात लेखक हैं जिनका नाम हिंदी क्षेत्र में ही नहीं, देश भर में व्याप्त है। और रवींद्रनाथ का नाम तो विश्व साहित्य में भी बड़े आदर से लिया जाता है। यह निरा संयोग नहीं है कि स्वतंत्रता संग्राम का मंत्र-गान 'वंदे मातरम' और स्वतंत्र भारत का राष्ट्र-गान 'जन-गण-मन' दोनों बँगला की रचनाएँ हैं। राजा राममोहन राय से लेकर रवींद्रनाथ तक बँगला साहित्य का जो विकास हुआ उससे हिंदी और अन्य प्रतिवेशिनी भाषाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता रहा है। आधुनिक हिंदी के अनगिनती साहित्यकार बँगला के अध्येता रहे हैं। यद्यपि यही बात बँगला के साहित्यकारों के बारे में नहीं कही जा सकती।

बँगला भारोपीय परिवार की भाषा है और हिंदी आदि उत्तर भारत की भाषाओं के समान ही उसका उद्भव और विकास प्राकृत की ही पूर्वी शाखा से हुआ है। उसकी लिपि भी समान स्रोत से रूपायित हुई है, और देवनागरी से मिलती-जुलती है। उसके शब्द-कोष में संस्कृत शब्दों की बहुलता है। उच्चारण की दृष्टि से हिंदी-भाषी को बँगला सीखना शायद कुछ कठिन लगे, अन्यथा उसकी भाषा और लिपि सीखना काफ़ी सरल काम है। बँगला के अनेक शब्द हिंदी में रच-बैस गये हैं। इसका कारण यह भी है कि पूर्वी बिहार में कुछ स्थानों पर हिंदी और बँगला का भेद बहुत घट जाता है।

सन १९१६ में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल के राजकीय ग्रंथालय से प्राप्त कुछ चर्या-पद प्रकाशित किये थे। विद्वानों के अनुसार ये चर्या-पद ही बँगला की आदि रचनाएँ हैं। इनका रचना-काल १००० ईसवी के आस-पास माना गया है। वैसे ये रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—उनमें नाथ-पंथी सिद्धों की आचार-संहिता है—पर उनमें यत्र-तत्र काव्य-गुण भी झलक उठा है।

मध्य-युग में बँगला साहित्य के विकास की रूपरेखा बहुत-कुछ अन्य उत्तर भारतीय साहित्यों के ही अनुरूप चलती है। एक ओर संस्कृत की महान साहित्य-परंपरा को सर्वजन-सुलभ बनाने वाले ग्रंथ और दूसरी ओर लोक-गीतों और लोक-आख्यानों की पुष्ट परंपरा। पंद्रहवीं शताब्दी के आस-पास कृत्तिवास द्वारा रामायण की और काशीरामदास द्वारा महाभारत की रचना की गयी। मुकुंदराम चक्रवर्ती (कविकंकण) का 'चंडीमंगल' भी इसी काल की रचना है, जो मंगल-काव्य-परंपरा का विशिष्ट ग्रंथ है। इन्हीं के समानांतर वैष्णव गीतों और भक्ति-पदों की अविराम धारा प्रवाहित होती रही जिसे विद्यापति, चंडीदास, ज्ञानदास और गोविंददास जैसे कवियों ने घर-घर पहुँचाया था। इसी काल में चैतन्य महाप्रभु की भगवद्भक्ति ने बँगला को भी परोक्ष रूप से भाव-विह्वल बनाया। चैतन्य के जीवन और दर्शन पर आधारित काव्यों में कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य-चरितामृत' मूर्धन्य माना जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी में बँगला में दो मुस्लिम कवियों का उदय हुआ––दौलत क़ाज़ी और सैयद अलाउल। ये अराकान (उत्तरी बर्मा) के मुस्लिम नरेश के कृपा-पात्रों में थे और इन्होंने बँगला में लौकिक प्रेमाख्यानों की रचना की जिनमें सूफ़ी मत का भी प्रभाव मिलता है और अपभ्रंश की काव्य-परंपरा का भी। अलाउल ने अवधी कवि जायसी के महाकाव्य से प्रभावित हो कर 'पद्मावत' की भी रचना की थी। अठारहवीं सदी के कवियों में भारतचंद्र और रामप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारत में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ें मज़बूत होने पर सन १८०० में कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से ही आधुनिक भारतीय साहित्य का प्रारंभ माना जाता है। विदेशी प्रशासन-कर्मचारियों की सुविधा के लिए स्थापित इस कालेज ने परोक्ष रूप से भारतीय भाषाओं को नये संस्कार देने में योग दिया। स्वभावतः आधुनिकता का सबसे प्रबल स्पर्श बँगला को ही मिला और देखते-देखते बँगला में साहित्य-सर्जना के अनेक नये पथ खुल गये। अनेक सुधारकों और देश-सेवियों ने भाषा और साहित्य के नवोत्थान के लिए कार्य किया। नव शिक्षा के क्रमशः प्रसार से शिक्षित मध्य-वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जिसने शीघ्र ही राष्ट्रोन्नयन के महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में साहित्य का व्रत लिया। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और केशवचंद्र सेन के नेतृत्व में बँगाल में नवजागरण की लहर दौड़ गयी। विस्मृत अतीत से नया संबंध जोड़ा गया, और शासकों का सामना करने के लिए हीनभावना का परित्याग कर समाज को अंधविश्वास, अज्ञान और रूढ़ियों से मुक्त करने के प्रयत्न होने लगे। गद्य इस जागृति का वाहन बना।

इस प्रकार बंगाल प्राचीन और नवीन (विदेशी) पद्धतियों की टकराहट का रंगस्थल बना। राजा राममोहन राय के कुछ दिनों बाद तरुण जनों का एक ऐसा दल प्रकट हुआ जो जल्दी से जल्दी पश्चिम के रंग में रँग जाने में ही अपना कल्याण समझता था। यह दल इतिहास में 'यंग बंगाल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस दल के प्रमुख सदस्यों में ही डेरोज़ियो थे जिन्होंने अल्पायु में ही साहित्य की महान सेवा की। इन्हीं में माइकेल मधुसूदन दत्त थे जिन्होंने ईसाई धर्म भी अपना लिया था और अंग्रेज़ी में साहित्य-रचना भी की थी। पर शीघ्र ही उन्होंने अपनी भूल सुधार कर बँगला में लिखना आरंभ कर दिया। उनके लिखे अनेक ग्रंथों में 'मेघनाद वध' महाकाव्य

सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह बँगला का पहला आधुनिक उत्कृष्ट ग्रंथ है और काव्यगुण की दृष्टि से उच्च कोटि का माना जाता है। हिंदी में इसका पद्यानुवाद राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त ने किया है। इसी दल के प्रभाव में वंकिमचंद्र चटर्जी ने भी अपना पहला उपन्यास अंग्रेज़ी में ही लिखा था। पर बंकिम बाबू ने शीघ्र ही एक स्वतंत्र पथ का निर्माण कर अपने सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा बँगला भाषा और साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान की। 'विष-वृक्ष', 'आनंद मठ' उनके अत्यंत प्रसिद्ध उपन्यास हैं जो हिंदी पाठकों को भी सहज सुलभ रहे हैं।

वंकिम के बाद रवींद्रनाथ आये। रवींद्रनाथ में विलक्षण प्रतिभा थी। उन्होंने प्राचीन और नवीन का, पूर्व और पश्चिम का अद्भुत समन्वय किया। यद्यपि थोथी राष्ट्रीयता और राजनीतिक नारेबाज़ी से उन्हें चिढ़ थी, पर उनकी रचनाओं में एक प्रबुद्ध, जाग्रत और आत्म-विश्वासी राष्ट्र का चित्र उभर उठा। गीत, काव्य, कहानी, उपन्यास और नाटक के क्षेत्रों में तो रवींद्रनाथ की देन अनुपम है ही, निबंध, संस्मरण और चारु-लेख में भी उन्होंने उत्कृष्ट योग दिया है। विराट मानव-भावना से प्रेरित, गहरी संवेदना से पूरित, सूक्ष्म कौशल से मंडित उनकी रचनाएँ बँगला की अमर निधियाँ हैं। रवींद्रनाथ ने लोक-साहित्य से प्रभावित हो कर बँगला भाषा को भी एक अभिनव सरलता और सहजता दी थी। उनके अद्वितीय साहित्य-सर्जन के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए उन्हें विश्व का सर्वोच्च सम्मान 'नोबेल पुरस्कार' सन १९१३ में प्रदान किया गया।

रवींद्रनाथ का अपने समकालीन साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, और बँगला में उनके अनेक अनुयायी हुए। उनकी देन के कारण ही बँगला साहित्य का वह काल रवींद्र-युग कहलाता है। पर रवींद्र-युग में कुछ ऐसे भी लेखक हुए जिन्होंने नितांत भिन्न सरणियों में प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनमें शरच्चंद्र चटर्जी अन्यतम हैं। उन्होंने बंगाल के ग्रामों का, और विशेषतः बंगाल की गृहिणी का ऐसा संवेदनमय अंकन किया है कि वह एक साथ ही स्वप्नशील भी है और यथार्थ भी। शरच्चंद्र कदाचित बँगला के सर्वाधिक लोकप्रिय लेखक हैं। भारतीय लेखकों में उन्हीं की रचनाओं के सबसे अधिक अनुवाद हुए हैं। शरच्चंद्र के अतिरिक्त प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने भी अपनी कहानियों में दैनिक जीवन के सहानुभूतिपूर्ण चित्र दिये। विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय ('पथेर पांचाली' के लेखक) बंग-जीवन की मार्मिक करुणा और वन-जीवन के सौंदर्य को अंकित करने में सिद्धहस्त थे। राजशेखर वसु (परशुराम) हास्य-व्यंग्य के अनूठे कथाकार थे। सत्येंद्र नाथ दत्त ने काव्य में छंद-प्रयोग और शब्द-प्रयोग की नवीनता द्वारा बँगला भाषा में नयी शक्ति का उद्घाटन किया था। क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम राष्ट्रीय और ओजस्वी काव्य-रचना में लोकप्रियता के एक अछूते शिखर पर पहुँचे। उनके संग्रह 'अग्निवीणा' और उनकी कविता 'हे विद्रोही वीर!' से हिंदी संसार भली भाँति परिचित है। उन्होंने बँगला में गीत-रचना भी की है और ग़ज़ल-रचना के भी प्रयोग किये हैं।

हिंदी में छायावादी काव्य पर रवींद्रनाथ का प्रभाव माना जाता है, और कुछ सीमा तक यह बात सही भी है। पर रवींद्रनाथ में वह करुण अश्रुपूर्ण भावुकता नहीं मिलती जिससे छाया-वाद का अधिकांश ग्रस्त है। रवींद्रनाथ में आदर्शोन्मुखी वृत्ति और आशावाद का ही प्राधान्य है।

इस आदर्शवाद के विरुद्ध बँगला साहित्य में शीघ्र ही बड़ी उग्र प्रतिक्रिया हुई थी और सन १९२३ में 'कल्लोल' पत्रिका के प्रकाशन से उसे ठोस रूप भी मिल गया था। 'कल्लोल निकाय' में ऐसे अनेक प्रतिभा-संपन्न तरुण युवक थे जो आगे चल कर प्रसिद्ध लेखक बने। प्रेमेंद्र मित्र, बुद्धदेव बसु, अचिंत्यकुमार सेनगुप्त, सुधींद्रनाथ दत्त--सब 'कल्लोल' से संबद्ध थे। पर शीघ्र ही इनमें से प्रत्येक ने अपना-अपना स्वतंत्र साहित्य-पथ निर्मित कर लिया। ये लेखक मोटे तौर पर अति-आधुनिकतावादी थे और टी० एस० इलियट, एज़रा पाउंड प्रभृति विदेशी सर्जकों के प्रभाव से मनोविश्लेषण और प्रयोग भी अपनाते थे। प्रारंभ में इनकी रचनाओं में चौंकनेवाले तत्वों की भी प्रधानता रहती थी।

'कल्लोल निकाय' के उपरांत बँगला में मार्क्सवाद का प्रभाव आया जिसके वाहकों में माणिक बंद्योपाध्याय, ताराशंकर बनर्जी, गोपाल हालदार, विष्णु दे, सुबोध घोष आदि प्रमुख थे। इनमें से ताराशंकर बनर्जी शीघ्र ही सिद्धांतवाद से मुक्त हो कर गहरे यथार्थ के प्रति निष्ठित हो गये। आज अन्य भाषाओं की भाँति बँगला में भी वादों की संकीर्णता लुप्त हो चुकी है, और जन-जीवन का उदार यथार्थवादी चित्रण प्रधान हो गया है। रूपगत वैविध्य और व्यक्तिगत विभेद के बावजूद व्यक्ति-मन की सच्ची भावनाएँ ही साहित्य का आधार हैं। प्रेमेंद्र मित्र, ताराशंकर बनर्जी, अन्नदाशंकर राय, बनफूल, शैलजानंद मुखर्जी, अमिय चक्रवर्ती, प्रमथनाथ बिशी, विमल मित्र ('साहब, बीबी, गुलाम' के लेखक), नारायण गंगोपाध्याय, सतीनाथ भादुड़ी आदि-आदि अनेक समर्थ लेखक बँगला साहित्य को निरंतर संपन्न कर रहे हैं।

इस स्तंभ के अंतर्गत रवींद्रनाथ ठाकुर (सन १८६१-१९४१) तथा प्रेमेंद्र मित्र (जन्म : सन १९०४) की रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

आधुनिक भारत के साहित्य-स्रष्टाओं में रवींद्रनाथ का स्थान अद्वितीय है। साहित्य-सर्जन का एक भी ऐसा अंग नहीं है जिसको उन्होंने अलंकृत और गौरवान्वित न किया हो। उनकी विश्व-व्याप्त निर्मल दृष्टि, भारतीय अध्यात्म दर्शन के प्रति अगाध श्रद्धा और उदार लोक-चेतना से अनुप्रेरित उनकी रचनाएँ बँगला की ही नहीं भारतीय साहित्य की भी अमर कृतियाँ हैं। सन १९१३ में उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित कर पश्चिम ने भी रवींद्रनाथ के दान को सराहा था। भारतीय साहित्यकारों ने एक स्वर से उन्हें 'गुरुदेव' कहा है।

प्रस्तुत रचना रवींद्रनाथ की सजग अंतर्राष्ट्रीय चेतना और आधुनिक विश्व-भावना का प्रमाण है।

रवींद्रोत्तर बँगला साहित्य में प्रेमेंद्र मित्र का विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाओं में कविता, कहानी, उपन्यास और निबंध--सभी अंग सम्मिलित हैं। पर विशेषतः वे कवि और कहानीकार के ही रूप में विख्यात हैं। उनके काव्य-संकलन 'सागर थेके फेरा' को सन १९५७ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिल चुका है।

अपने प्रारंभिक साहित्य-जीवन में प्रेमेंद्र मित्र श्री अचिंत्यकुमार सेनगुप्त और श्री बुद्ध-देव बसु के साथ मिल कर काम कर चुके हैं। वे ढाका से प्रकाशित बँगला पत्रिका 'प्रगति' में निय-मित रूप से लिखते थे। पर प्रेमेंद्र बाबू का प्रगतिवाद उग्र और राजनीतिक न हो कर मृदु और

मानवीय रहा है। उन्होंने जन-गण की भावनाओं को किसी नारेबाज़ी के अधीन साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं दी, अपितु जीवन के सच्चे और संपूर्ण आनंद की दृष्टि से ही उनका चित्रण किया।

अपने कथा-साहित्य में प्रेमेंद्र बाबू ने नगर के यंत्र-ग्रस्त जीवन और निम्नवर्गीय जनों की भावना का अंकन कर के विशिष्ट ख्याति अर्जित की है। उनका पहला लघु उपन्यास 'पंक' इसी पृष्ठभूमि पर रचा गया था, और उनका कहानी-संग्रह 'बेनामी बंदर' भी इसी परिवेश से संबद्ध है। प्रस्तुत कहानी में भी लेखक की यही दृष्टि निहित है।

उनका वर्तमान पता है: ५७, हरीश चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता-२६।

—आई २२ जंगपुरा एक्सटेंशन,
नयी दिल्ली—४।

अफ़्रीका

रवींद्रनाथ ठाकुर

रचना-काल : १९३७

●

उस उद्भ्रांत आदिम युग में
जब स्रष्टा ने अपने ऊपर झल्ला कर
नयी सृष्टि को बार-बार विध्वस्त किया
उस, उनके अधीर हो कर ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाने के दिन
रुद्र-समुद्र की बाँह
हे अफ़्रीका!
तुम्हें प्राची धरित्री की छाती से छीन ले गयी
और उसने तुम्हें वनस्पतियों के घोर पहरे में डाल कर
कृपण आलोक के कारागार में बंदी बना लिया।
वहाँ
उस निभृत आकाश में
तुम दुर्गम का रहस्य बटोरती रहीं

जल-थल-आकाश के दुर्बोध संकेत परखती रहीं,
दृष्टि के परे प्रकृति का जादू
तुम्हारे चेतनातीत मन में मंत्र फूंकता रहा,
विरूप के छद्म-वेश में
तुम भीषण का विद्रूप करती रहीं,
शंका से हार मनवाने की सोचती रहीं,
विभीषिका की प्रचंड महिमा से
तांडव के दुंदुभी-निनाद से
अपने-आप को उग्र बना कर।

हाय छायावृता !
श्याम घूंघट में छिपा तुम्हारा मानवी रूप
उपेक्षा की धुंधली दृष्टि में अपरिचित बना रहा,
और वे आये
लोहे की हथकड़ियाँ ले कर
वे, जिनके नाखून तुम्हारे बाघों से भी पैने थे,
आया नरों के उन बहेलियों का दल
जो अपने घमंड में
तुम्हारे सूर्य-वंचित अरण्यों से भी बढ़ कर अंधे थे,
और सभ्य के बर्बर लोभ ने
अपनी निर्लज्ज नृशंसता उघाड़ दी।
तुम्हारे भाषाहीन क्रंदन से
वाष्पाकुल वन-पथ की धूल
तुम्हारे रक्त और आँसुओं से मिल कर पंकिल हो गयी,
दस्यु-पदों के नालदार बूटों के तले की वीभत्स कीचड़
अमिट चिह्न आँक गयी
तुम्हारे अपमानित इतिहास पर।

उधर, समुद्र के पार उनकी गलियों में
रोज सुबह-शाम कृपालु देवता के नाम पर
मंदिर में आरती के घंटे बज रहे थे
माँओं की गोद में शिशु किलक रहे थे
कवि के संगीत में
सुंदर की आराधना मुखरित हो रही थी।

आज जब पश्चिम दिगंत में
तूफ़ान के मारे प्रदोष-वेला की साँस रुँध रही है
जब गुप्त गह्वर से निकल कर पशु बाहर आ गये हैं
और अपने अशुभ गर्जन से दिन के अवसान की घोषणा कर रहे हैं
हे युगांतर के कवि!
आओ
आसन्न संध्या की अंतिम किरणों में
इस मान-वंचिता मानवी के द्वार पर खड़े हो
कहो : 'क्षमा करो!'—
हिंस्र प्रलाप के बीच
तुम्हारी सभ्यता की यही अंतिम पुण्य-वाणी हो!

अनुवादक : भारत भूषण अग्रवाल

कहानी

महानगर

प्रेमेंद्र मित्र

मेरे साथ महानगर चलो। महानगर—जो आकाश के तले पृथ्वी के घाव की भाँति फैला हुआ है, जो चोटियों, मीनारों और गगनभेदी प्रासाद-शिखरों के रूप में सितारों की ओर तना हुआ है—मानवात्मा की प्रार्थना की भाँति।

आओ मेरे साथ महानगर के पथों पर—उस पथ पर जो जटिल है दुर्बल मनुष्य की जीवन-धारा की भाँति, उस पथ पर जो अँधेरा है मानव-मन के अरण्य की भाँति, और उस पथ पर जो प्रशस्त है, आलोक से उज्ज्वल है, मनुष्य के अदम्य उत्साह की भाँति।

इस महानगर के संगीत की रचना होनी चाहिए—एक भयावह विस्मयकर संगीत की।

उसकी पृष्ठभूमि में हो यंत्रों का निर्घोष, मशीनों का ऊर्ध्वमुख शंखनाद, सड़कों के पहियों की घरघराहट, ज़ंजीरों की झनझनाहट, घातु से धातु की टक्कर का आर्तनाद। शब्द की इस पृष्ठ-

भूमि से सर्पिल स्वर की पगडंडी उठे, महानगर की गोद में उसकी प्रिया की भाँति सोयी नदी की लहरों का स्वर, नगर की छाया-वीथियों में बहने वाली बयार का स्वर, निर्जन कक्ष में प्रेमी-युगल के अस्फुट संवाद का स्वर। इस संगीत के मध्य में हो उत्तेजित जनता की सम्मिलित पदध्वनि—आवाज़ की बाढ़ की भाँति, और उस राह चलते पथिक के घिसटते पैरों की आवाज़ जो आधी रात में अनजाने आश्रय की खोज में जा रहा हो।

कठोर धातु और ईंट के फ़्रेम में महानगर लाखों जीवन-सूत्रों से जो विशाल सूची-चित्र बुनता है, जहाँ छोर का नाम-निशान भी नहीं रहता, छोर––जो नये धागों में मिल कर अकस्मात झलक उठता है, फिर अचानक टूट जाता है––उस विशाल दुर्बोध चित्र का अनुवाद हो उस संगीत में।

इस संगीत की रचना करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं तो केवल इस महानगर की थोड़ी-सी कहानी सुना सकता हूँ, महानगर के महाकाव्य का छोटा-सा खंड, उसके कथा-सागर की मात्र दो-एक लहरें। जानता हूँ, उसमें महासंगीत का स्वाद नहीं मिलेगा––उससे प्यास नहीं बुझेगी।

सहमती-सकुचती नदी की जो शाखा नगर के भीतर चली गयी है उसी के उथले पानी के मंथर प्रवाह में खेते-खेते हम नड़ाल के पुल के तले फूले कदंब वृक्ष से चिह्नित पुराने पोणाघाट पर जा लगेंगे––टूटे-फूटे पुराने घाट, गंजे शिव का मंदिर, ईंटों का भट्ठा, चावल की आढ़त, लकड़ी की टाल और ईंट-सुर्ख़ी का गोला पार करके हम पोणा की नाव पर जा रहे हैं। हमारी नाव के खोल में घुटनों तक पानी भरा है जिसमें छोटी-मोटी मछलियाँ कुलबुल कर रही हैं। पोणा-घाट पर ये खेरी के भाव बेची जायँगी।

आषाढ़ की सुबह। वर्षा नहीं हो रही है लेकिन आकाश बादलों से ढँका है। सूरज शायद नगर-शिखरों की बाँकी रेखा के पीछे निकल चुका है। हमें तो सिर्फ़ बादलों से रिसती थोड़ी-सी स्तिमित रोशनी ही मिल रही है। उस रोशनी में इधर की ग़रीब शहर-तली मानो और भी जीर्ण दिखती है। टूटे घाट पर नहाने के लिए अभी इक्के-दुक्के लोग ही आये हैं। गोले सूने पड़े हैं, धान की आढ़त के किनारे सुनसान में ख़ाली नावें बँधी हुई हैं। चारों ओर सन्नाटा छाया है।

ज्वार के बहाव में नाव तैरती जा रही है। जब बड़ी धार में थे तो मल्लाह बराबर चप्पू चलाते आ रहे थे, अब उनमें से एक झपकी ले रहा है। नाव के सिरे पर सिर्फ़ मुकुंद बैठा हुआ है। और रतन न जाने कब चुपचाप आ कर उसके पास बैठ गया है। शायद पौ फटते समय जब नाव मँझधार में थी, तभी से।

बादल-भरी रात में आसमान में एक भी तारा न था। महानगर जब पास आने लगा तो रतन को लगा मानो सारे तारे पानी में उतर आये हैं। दोनों किनारों पर जहाज़, स्टीमर, लदान-बोट और बड़े-बड़े कारखानों की जेटियाँ लंगर डाले खड़ी हैं। अँधेरे में उनका आकार दिखायी नहीं देता। बस नदी पर पड़े रोशनी के छींटे दीखते हैं—अनगिनत छींटे, काले पानी के इस ओर से उस छोर तक। नदी पर बादल-भरे आकाश से तारे ही तो उतर आये हैं।

रतन डरता-डरता चुपचाप सिरे पर आ बैठा है। कहीं बापू डाँट न बैठें—या धमका कर फिर छई के भीतर न भेज दें। भला ऐसे में वह छई के भीतर कैसे रह सकता है—जब नाव महानगर के पास आ गयी है, जब आसमान के तारे पानी पर उतर आये हैं। न जाने कब से वह इसकी चाह करता रहा है, इसका स्वप्न देखता रहा है। रतन नगर के उजाले की छींटदार इस अँधेरे को विस्मय-भरी आँखों से पी रहा है। साँस तक लेते घबरा रहा है—कहीं बापू को पता न चल जाय, कहीं वे उसे धमका कर भीतर न भेज दें। क्या ठीक है! बापू तो उसे घर से लाने को ही तैयार न थे। लड़के भी कहीं शहर जाते हैं? क्या करोगे वहाँ जा कर? कितने रोने-धोने-गिड़गिड़ाने के बाद आखिरकार रतन बापू को थोड़ा-बहुत मना पाया था। फिर भी नाव पर चढ़ाते समय बापू ने उसे समझा दिया था, 'खबरदार, रास्ते में ऊधम किया तो तुम्हारी खैर नहीं।' नहीं, वह ऊधम नहीं करेगा, वह किसी को तंग नहीं करेगा, उससे जो कहा जायगा वही करने को राज़ी है। बस, वह एक बार शहर देखना चाहता है—परियों की कहानियों से भी ज़्यादा अद्भुत वह शहर। पर क्या रतन की यह व्याकुलता सिर्फ़ इसीलिए थी? खैर, अभी छोड़िए।

लेकिन रतन पर किसी की निगाह नहीं जाती, या जाती भी है तो कोई ध्यान नहीं देता। वह चुपचाप बैठा है। बस उसके रोम-रोम से उसकी व्यग्रता की प्रखरता फूट रही है।

धीरे-धीरे अँधेरा फीका पड़ गया। अब नदी की रूप-रेखा स्पष्ट होने लगी है। शुरू-शुरू में चारों ओर धुँधला-सा कोहरा था। प्रकृति के पट पर मानो रंगों की गडड्-मडड्—कहीं गहरी, कहीं हल्की। रंग के उस ढेर ने तब तक कोई निर्दिष्ट रूप नहीं लिया था। नीहारिका की भाँति आकारहीन इस अस्पष्ट धुँधली तरलता से अब मानो किसी ने रतन की आँखों के सामने एक नया संसार आँक दिया। आसमान के तन पर कूँची का एक छोटा-सा काला धब्बा देखते-देखते विशाल-काय जहाज बन गया। उसके तने हुए मस्तूलों की पिचपिच बादल-भरे आकाश में छोटे-से जंगल की तरह दीख रही है। उसके लंगर की ज़ंजीर किसी भारी-भरकम अजगर की तरह पानी में उतर गयी है। उस दानव की भृकुटि के तले से रतन की नाव एक छोटे से खिलौने की तरह डरते-डरते पार निकल जाती है। पानी के दूसरे छोर पर तरल गहरे रंग का थोड़ा-सा कुहरा बिछा हुआ था। वह कुहरा बदल कर लदान-बोटों का झुंड बन गया। एक जेटी के चारों ओर उनकी भीड़ लगी है। दूर से लगता है मानो वे किसी विशाल जलचर के शावक हों—माँ की गोद में दुबके नींद ले रहे हैं।

नदी के ऊपर का पर्दा कुछ और खिसका। दोनों किनारों पर कल-कारखानों के विशाल शरीर जाग उठे। उन्होंने मानो अपनी लौह-भुजाएँ पानी की ओर बढ़ा दी हैं। बँधी पाड़ों से बड़ी-बड़ी क्रेनें गर्दन उठा रही हैं। दोनों किनारों पर सौदागरी जहाजों के आसपास मछली पकड़ने की नावें और सवारी नावें हैं। स्टीमरों और लांचों की भीड़ लगी हुई है।

यही महानगर है। रतन ने भय, विस्मय और व्याकुलता से अभिभूत हो कर पहली बार उसका रूप देखा था। तभी उसकी नाव मोड़ पर आ कर इस शाखा में प्रविष्ट हुई और पुरानी

शहर-तली में हो कर चली जा रही है। बड़ी धार से महानगर का रूप देख कर रतन को सचमुच भय हुआ था। भय से भी ज़्यादा उसे निराशा हुई थी। पर यह पुरानी जीर्ण शहर-तली देख कर उसे मानो कुछ आशा हुई। क्यों आशा हुई? ख़ैर, इसे अभी छोड़ें।

नदी का अगला मोड़ पार करते ही नड़ाल का पुल दिखायी पड़ जाता है। पोणाघाट पर पहले से ही पोणा (एक प्रकार की छोटी मछली) की नावें आ जुटी हैं। मुकुंद सबको आवाज़ लगा कर उठा देता है। लक्ष्मण उठ कर अपनी नपनी ठीक करता है। मल्लाह देह तोड़ते उठते हैं। रतन अब भी उत्तेजना से उदग्रीव हो कर बैठा रहता है। उसके छोटे-पतले बंद होठों के नीचे कौन-सा संकल्प है——कौन जाने? उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में किसकी व्यग्रता है? क्या यह सिर्फ़ शहर देखने का कौतूहल है? पर यह बात अभी छोड़ें।

नाव पोणाघाट पर आ कर लगती है। घाट पर खड़े होने की भी जगह कहाँ है? इसी बीच बहँगियों के सिरे पर हाँड़ियाँ लटकाये बोझे वाले दूर-दूरांतर से पोणा का चारा लेने आ पहुँचे हैं। इसी भीड़ में, किनारे के कीचड़ पर, कोई-कोई दुकान लगा बैठे हैं——पान-बीड़ी और तेल की पकौड़ियों की। सरकारी कारिंदे चुंगी वसूल करते फिरते रहे हैं। दलाल आवाज़ लगाते घूम रहे हैं।

किनारे पर अब जगह नहीं है। फिर भी मुकुंददास की ख़ास नाव को लंगर डालने के लिए थोड़ा-सा ठौर मिल जाता है। मुकुंद कोई ऐरा-ग़ैरा आदमी नहीं है। बरसात के महीनों में उसकी पूरी छह नावें यहाँ आती-जाती रहती हैं।

मल्लाहों ने इसी बीच नाव में से पानी उलीचना शुरू कर दिया है। लक्ष्मण नपनी की परख कर रहा है——तोलते समय हाथ की सफ़ाई से मछलियों के साथ पानी तोल देने में वह उस्ताद है। मुकुंददास नाव से पानी में उतर कर रेती पर आ जाता है। अचानक पीछे मुड़ कर नज़र पड़ते ही डाँट कर कहता है, "तू कैसे उतर आया?"

रतन पिता की ओर कातर दृष्टि से देखता है। मुकुंद कुछ नरम पड़ कर कहता है, "अच्छा, कहीं चले मत जाना। उस कदंब के पेड़ के तले जा कर खड़ा हो जा।"

रतन ऐसा ही करता है। कदंब-पेड़ से झरे हुए अनगिनती फूल ज़मीन पर पड़े हैं। कीचड़ में लोगों के पैरों से कुचल जाने के कारण उनके रेणु मैले हो गये हैं। पोणा-चारे की हाट में कदंब के फूलों की कदर नहीं।

रतन के चारों ओर शोर-गुल मच रहा है।

'अरे ज़रा पानी चलाओ न, नहीं तो घर जा कर मछली की कढ़ी खानी पड़ेगी।'

'अरे नयी हाँड़ी भी नहीं जुटी, लगता है भात की पतीली ही उठा लाये हो। जब मछली पानी छोड़ने लगेगी तो कहोगे दलाल बेटा क़सूरवार है।'

कुछ बोझे वाले ख़ाली हाँड़ी लिये आ रहे हैं, कुछ की ख़रीदारी क़रीब-क़रीब पूरी हो चुकी है। वे बैठे-बैठे हाँड़ी का पानी चला-चला कर मरी हुई मछलियाँ अलग कर रहे हैं। नदी-किनारे की कीचड़ में मरी हुई मछलियाँ और कदंब की रेणु मिल कर एक हो गयी हैं।

लेकिन रतन कदंब तले बहुत देर नहीं खड़ा रहा। वह इतनी मिन्नतें कर के यहाँ खड़े

रहने के लिए शहर नहीं आया था। रास्ते भर वह मन की मन में रखता आया है। सिर्फ़ एक बार शायद उसने हिम्मत कर के चोरी-छिपे लक्ष्मण से पूछा था, 'क्यों काका, उल्टोडिंगी पोणाघाट के पास ही है न?'

लक्ष्मण काका ने हँस कर कहा था, 'दुर पगले, उल्टोडिंगी क्या वहाँ रखी है? वह तो न जाने कितनी दूर है।' फिर चौंक कर उसने पूछा था, 'क्यों रे, उल्टोडिंगी के बारे में क्यों पूछ रहा है? उल्टोडिंगी का नाम तूने कहाँ सुना?' पर रतन उसके बाद एकदम चुप हो गया। किसी की मजाल है जो उसके पेट से बात निकाल ले!

कदंब तले खड़े-खड़े उत्सुक हो कर रतन चारों ओर ताक रहा है। उसका पिता काम में व्यस्त है। रतन आँख बचा कर सड़क की ओर चल पड़ता है। किसी से कुछ पूछने की उसकी यहाँ हिम्मत नहीं पड़ती। अंदाज़ से वह एक तरफ़ आगे बढ़ता जा रहा है।

महानगर के विशाल जंगल में न जाने कितने लोग क्या-क्या खोजते हुए आते हैं—कोई अर्थ खोजता है, कोई यश, कोई उत्तेजना और कोई विस्मृति। मिट्टी के स्नेह-सा श्यामल एक असहाय बालक यहाँ किसकी खोज में आया है? इस अरण्य में भी वह अपने आकांक्षित को खोज लेने की आशा रखता है—उसका दुस्साहस तो कम नहीं!

काफ़ी दूर जाने पर रतन ने साहस कर के एक जने से रास्ता पूछा। वह आदमी अचरज से उसकी ओर ताकने लगा। बोला, "तुम तो उल्टी ओर आ गये भैया, उल्टोडिंगी तो उधर है। और वह तो बहुत दूर है।"

—बहुत दूर! हुआ करे। बहुत दूर से रतन नहीं डरता। रतन दूसरी ओर मुड़ पड़ता है। वह आदमी न जाने क्या सोच कर उससे पूछता है, "तुम अकेले जा रहे हो इतनी दूर? तुम्हारे संग और कोई नहीं है?"

रतन सकुचाते हुए कहता है, "नहीं।"

उस आदमी के मन में न जाने क्या आता है। वह कुछ कड़ा पड़ कर पूछता है, "घर से भाग कर तो नहीं आये हो? उल्टोडिंगी में किसके यहाँ जा रहे हो?"

रतन डरते-डरते बोल पड़ता है, "वहाँ मेरी दीदी रहती हैं।" फिर झटपट वहाँ से चल देता है। कहीं वह आदमी फिर कुछ न पूछ बैठे; कहीं उसे पकड़ कर उसके पिता के पास न ले जाय!

तो अब बता ही दूँ। रतन आया है दीदी की खोज में। जहाँ मनुष्य अपनी आत्मा को भी एक बार खो कर फिर कभी नहीं खोज पाता, उसी महानगर में वह अपनी दीदी को खोज निकालेगा। उसके लिए शहर का मतलब है दीदी। गाँव में रहते वह सोचता रहा है—मानो शहर में पहुँचते ही दीदी मिल जायगी। महानगर के विराट रूप ने उसकी इस धारणा का उपहास किया है। पर फिर भी वह हताश नहीं हुआ है। दीदी को वह खोज कर ही रहेगा। शिशु-हृदय के विश्वास की क्या कोई सीमा होती है?

पर दीदी को खोजने की बात किसी को बताने वाली तो है नहीं। घर में दीदी का नाम लेना भी मना है—यह क्या वह नहीं जानता? एक अनुच्चारित निषेध उसके शिशु-मन की व्याकुलता को भी मूक बना डालता है।

इसीलिए वह रास्ते भर मन की मन में ही रखता आया है। इसीलिए वह अकेला निकल पड़ा है दीदी की खोज में।

दीदी को तो उसे खोजना ही है। दीदी के बिना उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। छुटपन से ही वह बस अपनी दीदी को ही जानता आया है––माँ को तो उसने देखा भी नहीं। दीदी ही उसकी माँ रही है, दीदी ही सहेली। ब्याह होने पर दीदी ससुराल चली गयी थी। फिर भी उनका संग नहीं छूटा। आसपास ही थे दोनों गाँव। रतन खुद ही जब-तब भाग कर दीदी के यहाँ जा धमकता। फिर तो दीदी के यहाँ से उसे ले आना आसान काम न होता। दीदी जहाँ रहती आयी है वहाँ उसके ज़्यादा दिन रहने में क्या दोष है––यह वह कैसे समझे।

उसके बाद कौन जाने क्या हुआ। एक दिन उनके घर में बड़ी गड़बड़ मची। दीदी की ससुराल से लोगों की भीड़ चली आयी। गाँव के लोग इकट्ठे हो गये। थाने से चौकीदार तक आ पहुँचा। बच्चा समझ कर उसे किसी ने पास भी न फटकने दिया। फिर भी उसने सुना–– दीदी को जाने कौन पकड़ ले गये हैं। तो फिर छुड़ा लायें, बस! क्यों कोई नहीं जाता–– यही सोच-सोच कर उसे क्रोध आता। उसके बाद उसने और भी कुछ सुना। बालक का मन बड़ा चौकन्ना रहता है। दीदी को पकड़ कर कहाँ ले गये हैं, शायद कोई नहीं जानता।

अब उसके रोने की बारी आयी। न जाने कौन ले गये हैं दीदी को पकड़ कर। शायद वे दीदी को मारते हों, शायद खाना न देते हों। दीदी शायद रतन को देखने के लिए रो रही हो। यह ख्याल आते ही उसकी रुलाई और भी बढ़ गयी।

उसका रोना देख कर पिता ने पुचकारा। सिर पर हाथ फेर कर पूछा, "क्यों रोते हो बेटा?" धीमे-धीमे रतन ने कहा, "दीदी नहीं आयीं बापू?"

मुकुंद शिशु के जाग्रत मन का रहस्य न जान कर कहने लगा, "आयगी बेटा, आयगी; ससुराल से क्या कोई रोज़-रोज़ आता है?"

रतन और कुछ नहीं बोला। पर बापू उससे छिपा क्यों रहे हैं––यह न समझने के कारण उसे बड़ा डर लगने लगा।

इसके बाद एक दिन उसने सुना कि दीदी मिल गयी हैं। दारोग़ा साहब ने दल-बल के साथ कहीं दूर देश जा कर उन्हें खोज निकाला है। दीदी मिल गयी हैं। रतन का मन फूला नहीं समा रहा है। तो अब इतने दिनों बाद दीदी आयँगी।

पर दीदी कहाँ आयीं? एक दिन बीता, दो दिन बीते। रतन व्याकुल हो कर प्रतीक्षा करने लगा। पर दीदी नहीं आयीं। दीदी मिल गयी हैं––फिर भी दीदी क्यों नहीं आतीं–– रतन की समझ में नहीं आया। दीदी पर भी उसे क्रोध आने लगता है। कितने दिन से रतन ने उन्हें नहीं देखा, क्या इसका भी उन्हें ध्यान नहीं? दीदी ख़ुद क्यों नहीं चली आतीं? और बापू भी न जाने कैसे हैं––दीदी को ले क्यों नहीं आते? रतन सबसे रूठ जाता है।

शायद दीदी चुपचाप ससुराल चली गयी हैं––यही सोच कर एक दिन सवेरे रतन वहाँ जा धमकता है। पर वहाँ तो दीदी हैं नहीं। वहाँ उससे कोई ठीक से बात भी नहीं करता। जीजा जी उसे देखते ही मुँह फेर कर दूसरी ओर चले गये।

उस दिन रतन रोनी सूरत लिये घर लौटा था।

घर लौट कर बापू के पास रोते-रोते उसने जवाब तलब किया, "दीदी को क्यों नहीं लाते बापू ?"

उसी दिन मुकुंद ने उसे धमकाया था। उसके बाद फिर दीदी कभी नहीं आयीं। दीदी शायद अब कभी नहीं आयँगी।

पर रतन मन ही मन जानता है, दीदी को कोई बुलाने नहीं गया, इसी से वे रूठ कर नहीं आयीं।

रतन को तो यही नहीं मालूम कि दीदी कहाँ हैं, नहीं तो वह खुद जा कर उनको बुला लाता।

लेकिन वह कैसे पता करे कि दीदी कहाँ हैं ? कोई उससे दीदी की बात ही नहीं करता। दीदी की बात करना ही जैसे वर्जित हो। रात में वह चुपचाप दीदी के लिए रोता रहता है। दीदी उसे भूल क्यों गयीं हैं—यही सोच कर वह मन ही मन उनसे झगड़ा करता है। वह नहीं जानता दीदी कहाँ हैं।

लेकिन शिशु का मन हम जितना सोचते हैं उससे कहीं अधिक सचेत होता है।

शिशु बहुत-कुछ सुन लेता है, बहुत-कुछ समझता है। न जाने कहाँ से उसने सुन लिया है कि दीदी शहर में रहती हैं—परियों की कहानियों से भी अधिक अद्‌भुत उस शहर में। न जाने किसके मुँह से उसने सुन लिया कि जहाँ वे रहती हैं, उसका नाम उल्टोडिंगी है। बात हवा में तैरती रहती है। सजग प्यार कान लगाये रहता है, सुन लेता है।

इसीलिए वह मिन्नतें कर के महानगर में आया है। इसीलिए वह खोज करने निकला है।

दीदी को वह खोज निकालेगा। वह जानता है, एक बार दीदी के सामने जा कर खड़े होने की देर है, बस फिर दीदी आये बिना न रहेंगी। कितना गहरा है उसका विश्वास !

रतन को हम यहीं छोड़ सकते हैं। महानगर में ढेरों लोग आते हैं—न जाने क्या-क्या खोजते हैं—कोई अर्थ, कोई यश, कोई उत्तेजना, कोई विस्मृति, कोई और भी बड़ी चीज़। पर क्या सभी सफल होते हैं ? सड़कों के जंगल में वे गुम हो जाते हैं। महानगर उनके निशान तक मिटा देता है। रतन भी यों ही गुम हो जायगा—यह मान कर हम उसे छोड़ सकते हैं।

पर यह नहीं होगा। संसार में क्या संभव है क्या असंभव—कौन कह सकता है ? रतन को सचमुच दीदी का पता चल जाता है। उस समय दोपहर संध्या की ओर झुक आयी थी। आषाढ़ का आकाश बादलों से ढँका था, इसीलिए समय का ठीक अनुमान करना कठिन था। अपना कातर, सूखा चेहरा लिये एक बालक थके हुए पैरों से आ कर खड़ा हो जाता है खपरैल की एक झोपड़ी के छोटे से दरवाज़े पर। एक औरत उसे सड़क से अपने साथ लिवा लायी है।

रतन न जाने कितनी सड़कों पर घूमता रहा है, न जाने कितनों से उसने रास्ता पूछा है। अब कहीं जा कर उसे पता चला है। प्यार क्या नहीं कर सकता ?

ज़रा पहले ही, हैरान हो कर खोज करते-करते रतन दूर पर एक औरत को देख कर उत्साहित हो बड़े ज़ोर से पुकार उठा था, "दीदी !"

औरत के घूम कर खड़े होते ही रतन हताश हो जाता हैं। उसकी दीदी तो ऐसी नहीं हैं। कुंठित हो कर वह दूसरी तरफ़ जाने लगता है। औरत उसे पुकार कर कहती है, "सुन!"

पास आने पर उसके थके-सूखे चेहरे की ओर देख कर वह पूछती है, "किसे खोजते हो, भैया?"

रतन लज्जित हो कर अपनी दीदी का नाम बताता है। औरत हँस कर कहती है, "शायद अपनी दीदी का घर नहीं पहचानते? चलो मैं बता देती हूँ।"

अब वह औरत एक छोटे-से घर के दरवाज़े पर खड़ी हो कर पुकारती है, "अरी ओ चपला, तुझे खोजता कौन आया है, देख तो!"

भीतर से शायद चपला ही रूखे स्वर में कहती है, "अब कौन आ टपका?"

"एक बार देख तो ज़रा!"

चपला दरवाज़े के पास आते ही ठिठक कर खड़ी हो जाती है। रतन के मुँह से भी आवाज़ नहीं निकलती। दीदी को पहचानने में भी उसे कष्ट हो रहा है। दीदी न जाने कैसी हो गयी हैं।

दोनों ही थोड़ी देर निस्पंद खड़े रहते हैं। जो औरत रतन को लिवा कर लायी है वह ज़रा संदिग्ध हो कर कहती है, "तेरा नाम ले कर खोज रहा था, सो मैं तेरा भाई समझ कर घर दिखाने ले आयी। तेरा भाई नहीं है?"

जवाब दिये बिना ही चपला अचानक दौड़ कर आती है, रतन को छाती से लगा लेती है। फिर इधर-उधर नज़र डाल कर चकित हो भरे गले से कहती है, "तू अकेला आया है?"

रतन दीदी की छाती में मुँह छिपाये रहता है, कुछ बोलता नहीं।

महानगर की सड़कों पर धूल है, आकाश में धुआँ है, हवा में शायद विष है। यहाँ कभी-कभी हमारी आशा पूर्ण हो जाती है, जो खोजते हैं वह मिल जाता है। फिर भी, दीर्घ काल की कामना का फल भी न जाने कैसा स्वादहीन लगता है। महानगर हर चीज को दाग़ी कर देता है, सार्थकता को भी कुछ ज़हरीला बना देता है।

चपला रतन को अंदर ले जाती है। घर देख कर रतन दंग रह जाता है। कच्चा घर इस तरह सजाया जा सकता है, उसमें इतनी सुंदर-सुंदर चीज़ें हो सकती हैं, रतन भला यह कैसे जानता। इतनी चीज़ें देख कर वह आश्चर्य से पूछ बैठता है, "ये सब तुम्हारी हैं दीदी?"

चपला की आँखों के अकारण आँसू अभी सूखे नहीं थे। ज़रा हँसकर कहती है, "हाँ, भैया।"

पर दीदी का घर कैसा ही क्यों न हो, उसे ले कर सुध-बुध बिसराने से तो काम नहीं चलेगा। असली बात रतन भूला नहीं है। वह अचानक कहता है, "लेकिन दीदी, तुम्हें घर चलना पड़ेगा।"

चपला शायद कुछ चौंक उठती है। फिर म्लान हो कर कहती है, "अच्छी बात है, चलूँगी भैया। पहले तू थोड़ा सुस्ता ले।"

"लेकिन सुस्ताते ही चल देना पड़ेगा। हमारी नाव कल सबेरे ही जाने वाली है न! ये सब चीज़ें कैसे ले चलोगी, दीदी?"

अब चपला के चुप रहने की बारी आयी।

अचानक न जाने क्यों रतन ने कुछ भय से पूछा, "थोड़ा-सा सुस्ता लेने के बाद ही चल दोगी न दीदी ?"

दीदी के मुँह से फिर भी बोल नहीं फूटा। शायद चीज़-बस्त ले जाने की चिंता के कारण ही दीदी राज़ी नहीं हो रही हैं, यह सोच कर रतन चट से कहता है, "ये सब चीज़ें एक बैलगाड़ी में लाद कर ले चलेंगे, है न दीदी ?"

चपला कातर मुँख से कह उठती है, "मैं कैसे चल सकती हूँ भैया ?"

नहीं चल सकतीं ? रतन के चेहरे की सारी दीप्ति अचानक बुझ जाती है। साथ ही उसे याद आ जाता है—पिता का क्रोध ; याद आ जाता है—घर में दीदी का नाम लेना भी मना है। शायद दीदी सचमुच ही वहाँ नहीं चल सकतीं। व्यर्थ ही वह दीदी को खोजने आया है। दीदी के मिल जाने से उसका कोई लाभ नहीं है।

तभी अचानक उसका चेहरा फिर उज्वल हो उठता है। कहता है, "तो फिर दीदी, मैं भी नहीं जाऊँगा।"

"कहाँ रहेगा ?"

"वाह ! तुम्हारे पास।" कह कर रतन हँसता है, किंतु चपला का चेहरा और भी म्लान हो आया है—यह वह नहीं देख पाता।

इसके बाद, खा-पी चुकने के बाद संध्या समाप्त होने तक भाई-बहन बातें करते रहते हैं। सुनने-सुनाने को, पूछने-बताने को न जाने कितनी बातें हैं। लेकिन शाम ज्यों-ज्यों बढ़ रही है त्यों-त्यों चपला का मन न जाने क्यों अस्थिर होता जा रहा है। एक बार वह कह उठती है, "तू अकेला चला आया है, शायद बापू फ़िक्र करते होंगे।"

दीदी के प्रति अविचार के कारण रतन को पिता पर कुछ क्रोध हो आया है। वह उपेक्षा से कहता है, "करते रहें।"

थोड़ी देर बाद चपला फिर कहती है, "यहाँ से नड़ाल का पुल बहुत दूर है, है न रतन ?"

रतन यही दूरी पार कर के तो आया है। गर्व से कहता है, "बाप रे बाप, इतनी दूर कि बस !"

"पैसे ले कर तुम ट्राम से या बस से नहीं जा सकते ?"

"वाह, मैं क्या जा रहा हूँ ?"

पर दीदी के चेहरे की ओर देख कर वह ठिठक जाता है। दीदी की आँखों में आँसू हैं। सिर झुका कर चपला भरे गले से कहती है, "यहाँ तुम्हारा रहना नहीं हो सकता भैया।"

रतन की समझ में कुछ नहीं आया। पर इस बार वह रूठ जाता है। दीदी वहाँ चल भी नहीं सकतीं, तिस पर कहती हैं, 'यहाँ रहना नहीं हो सकता।' अच्छी बात है, वह चला ही जायगा। फिर कभी दीदी का नाम नहीं लेगा। कभी भी नहीं, ठीक बापू की तरह। धीरे-धीरे कहता है, "अच्छी बात है, मैं जाता हूँ।"

बादल भरे आकाश में प्रकाश कुछ पहले ही म्लान हो आया है। चपला उठ कर अपनी अलमारी से चार रुपये निकाल कर रतन के हाथ पर रख कर कहती है, "तू चीज़ खा लेना।"

९

चार रुपये बहुत होते हैं। तो भी मना करने की बात रतन के मन में भी नहीं आती। दीदी ने अभी-अभी उससे चले जाने की जो बात कही है, उससे वह मानो विमूढ़ हो गया है। उसकी छाती फट गयी है।

रतन अब घर में ज़रा भी नहीं रह सकता। धीरे-धीरे बाहर निकल आता है। दीदी के चेहरे की ओर ताके बिना ही, वह गली से सीधा बड़ी सड़क की ओर बढ़ने लगता है। चेहरे की ओर ताकने पर भी वह शायद दीदी की आँखों के अविरल आँसुओं का अर्थ न समझ पाता।

चपला पीछे से भरे गले से कहती है, "बस में जाना रतन, पैदल मत जाना।"

रतन को यह बात सुनायी पड़ी या नहीं—कौन जाने? पर बड़ी सड़क के पास पहुँच कर वह अचानक फिर लौट आता है। उसका चेहरा फिर बदल गया है। इतनी-सी दूर जाते-जाते ही वह न जाने क्या सोच बैठा है।

चपला अब भी दरवाज़े पर खड़ी है। रतन उसके पास आ कर अचानक कहता है, "बड़ा हो कर मैं तुम्हें ले जाऊँगा दीदी! किसी की नहीं सुनूंगा।"

इतना कह कर वह सीधा आगे बढ़ जाता है। उसके चेहरे पर अब वेदना की छाया नहीं है। उसकी चाल में भी दम आ गया है। मानो उसे ज़रा भी थकान न हो। देखते-देखते वह गली के मोड़ पर अदृश्य हो जाता है।

महानगर के ऊपर संध्या उतर आती है—विस्मृति की भाँति घनी।

अनुवादक : भारत भूषण अग्रवाल

विवेचना

शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट

विजयदेवनारायण साही

शमशेर के दो काव्य संग्रह : (१) कुछ कविताएँ; जगत शंखधर, वाराणसी; १९५९; मूल्य : २.५०; (२) कुछ और कविताएँ; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; १९६१; मूल्य : ४.००; तथा अन्यत्र प्रकाशित कविताएँ।

शमशेर की कविता के बारे में बातें करने में मैं एक कठिनाई महसूस करता हूँ। मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि चर्चा को किस पहलू से उठाया जाय। मैं महसूस करता हूँ कि शायद बहुत से आरंभिक सवाल भी शमशेर की कविता को ले कर होंगे। एक स्तर पर शायद लोग यह भी प्रश्न उठाने की ज़रूरत समझें कि जो कुछ शमशेर ने अब तक लिखा है या प्रकाशित कराया है वह कविता है भी या नहीं? फिर, शमशेर की कविताओं की दुरूहता का प्रश्न है। शमशेर के बारे में बात करने वाले व्यक्ति से शायद यह उम्मीद की जा सकती है कि वह बहुत कुछ व्याख्याता का काम करे। इससे भी आगे, शिल्प और प्रयोग का एक पहलू है और इससे मिलाजुला इन कविताओं के 'नयेपन' का भी सवाल है। शमशेर ने कविता के छंद, लय, शब्दावली सबमें बहुत से नये प्रयोग किये हैं। उन्होंने ऐसे नये प्रतीकों और बिंबों का सृजन किया है जो कविता के अभ्यस्त पाठकों और श्रोताओं को अक्सर चुनौती की तरह लग सकते हैं।

लेकिन इन आरंभिक सवालों को मैं उत्तरित मान कर चलने की इजाज़त चाहूँगा। इन सवालों के विभिन्न पहलुओं में उलझने में खतरा यह है कि बात शमशेर की कविता पर न हो कर शमशेर की कविताओं जैसी कविता पर हो जायगी। और इस तरह शायद कवि शमशेर के साथ हम न्याय नहीं कर सकेंगे। क्योंकि नयी कविता की सामान्य विवेचना के लिए शमशेर को उदाहरण की तरह इस्तेमाल करना एक बात है और कवि शमशेर का जो अपना निजी, स्वतः संपूर्ण काव्यजगत है उसमें प्रवेश करना दूसरी बात है। दोनों तरह की

चर्चाएँ महत्वपूर्ण और आवश्यक हैं, लेकिन उनके अभिप्राय अलग-अलग हैं। पहले प्रकार की चर्चा तो काफ़ी हो चुकी है। इसलिए भी दूसरे ढंग से विचार करने की उपयोगिता कुछ अधिक दिखती है। इसके अलावा, यदि हम सीधे शमशेर की मनोभूमि में प्रवेश करने की कोशिश करेंगे तो शायद आरंभिक शंकाओं का उत्तर भी एक हद तक मिल जायगा।

नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अंतर्भुक्त रही है कि न सिर्फ़ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है, या नये प्रतीकों या बिंबों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। लेकिन बहस में इस पर बल कम दिया गया है। चेतना के जो तत्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केंद्र में आ गये। और कुल मिला कर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया। इसलिए मैं शमशेर के काव्य में अनुभूति की इस बनावट की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

कवि मालार्मे ने कहा है :

"अपाहिजत्व की देवी ओ आधुनिक कल्पने! मैं तुझे अपने जीवन की ये थोड़ी-सी पंतियाँ समर्पित करता हूँ जो कृपा के उन क्षणों में लिखी गयी हैं, जब तूने मेरे भीतर सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितांत न-कुछ के प्रति बंजर प्रेम का स्फुरण नहीं किया।"

शायद ही आज का कोई कवि हो जिसे अपने ढंग से इस मालार्मीय विडंबना का सामना कभी न कभी न करना पड़ा हो। आखिर यह सृजन-कर्म किस लिए? इस सारे कल्पना-विलास का क्या मतलब है? मालार्मे की ही तरह आज का हर कवि एक न एक बार अपने ऊपर पलायनवादी होने का आरोप लगाता है। और अगर वह खुद नहीं लगाता तो और लोग उस पर लगाते हैं। क्योंकि अपनी प्रकृति से ही कविता यह प्रश्न उठाती है : जहाँ हम हैं वहाँ से कहाँ चलें? किस ओर? काव्यानुभूति अपने आप में एक तरह का अतिक्रमण है। लेकिन किसका अतिक्रमण और किस दिशा में? एक समय उत्तर बहुत आसान था। यह अतिक्रमण तमस से ज्योति की ओर, असत से सत की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर था।

हमारे चारों ओर रोज़मर्रा का एक जीवन है। इसी का अतिक्रमण करने की कोशिश कविता करती है। अगर चारों ओर का प्राकृत जीवन सत्य है तो फिर क्या सचमुच हम सत्य का ही अतिक्रमण नहीं करते? किस ओर? सत से असत की ओर? यही काव्यानुभूति की मालार्मीय विडंबना है। जितने गहरे मालार्मे को यह विश्वास जकड़ता जाता था कि चारों ओर के भौतिक, जड़ जीवन के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है, उतना ही काव्यानुभूति के लिए आवश्यक अतिक्रमण उसे असंभव दिखता था। सृजन-प्रक्रिया स्वयं में ही एक विशाल व्यर्थता का प्रतीक लगती थी। मालार्मे के पास इस अपाहिज बिडंबना का एक ही हल था : लिखा ही न जाय। 'सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितांत न-कुछ का बंजर प्रेम।'—कविता के जन्म में ही निषेध का तीर बिंधा हुआ है।

मालार्मे की तरह कवि-जीवन में शमशेर किन-किन संघर्षों से गुज़रे हैं, इसकी पूरी जानकारी हमारे पास नहीं है। शायद कभी हो। लेकिन कुछ संकेत उन्होंने दिये हैं। निषेध के तीर ने कितनी काव्यानुभूतियों को जन्म लेने के समय ही बींध दिया? यह आकस्मिक नहीं है कि इतने लंबे जीवन में उनके दो ही संग्रह प्रकाशित हुए और उनका नाम रखा गया 'कुछ कविताएँ' (१९५९), फिर 'कुछ और कविताएँ' (१९६१)। मालार्मीय विडंबना एक संकोच के रूप में काव्यानुभूति को बिद्ध करती है। शून्य से, नितांत न-कुछ से, कविता का जन्म होता है—इस गति में शायद रुकावट नहीं है, लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है। शमशेर की कविता में एक प्रवृत्ति है, उसी शून्य, उसी न-कुछ में वापस चले जाने की। गति और प्रतिगति—अभिव्यक्ति और संकोच के इस तनाव में एक तरह की स्थिरता, संतुलन पैदा होता है। यह स्थिरता, यह अटकाव, यह स्थिति अनस्तित्व और अस्तित्व के बीच एक अंतराल है—विशुद्ध संभावना का क्षण है। यह वह मनोभूमि है जहाँ कविता अपने अर्थ से आलोकित होती है।

शमशेर की 'एक पीली शाम' शीर्षक कविता काफ़ी विश्रुत है। उसकी अंतिम पंक्तियाँ हैं :

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सांध्य तारक-सा
अतल में।

अतल में गिरने के पहले संकोच का, अटकाव का एक झिलमिलाता अंतराल है जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है। जन्म लेना अलग होना है। अनस्तित्व गर्भ से अतल की ओर जाना है; नितांत पराया हो जाना है। लेकिन इस बिल्कुल निजी और बिल्कुल पराये के बीच एक और क्षण है—जहाँ आँसू निजी है भी और नहीं भी है; पराया है भी और नहीं भी है। न तो वह बिल्कुल आत्मपरक है, और न बिल्कुल वस्तुपरक। वह अभिव्यक्ति भी है और संकोच भी है।

अपने दूसरे संग्रह 'कुछ और कविताएँ' की भूमिका में शमशेर कहते हैं : **"मेरी अक्सर कविताओं के, जो सन ४०–४१ के आस-पास की थीं, प्रकाशन का समय दस-बारह साल बाद आया, या शायद तब भी नहीं आया। . . . मैं जितना महत्व ऐसी अभिव्यक्ति को देता हूँ—कवि के जीने मात्र के लिए मैं उसे जितना महत्वपूर्ण समझता हूँ—उतना उसके प्रकाशन को नहीं। कला के 'प्रकाशन' को वास्तव में मैं कोई महत्व नहीं देता। कला कैलेंडर की चीज़ नहीं है। वह कलाकार की अपनी बहुत निजी चीज़ है। . . . वह 'अपने आप' प्रकाशित होगी। और कवि के लिए वह सदैव कहीं न कहीं प्रकाशित है।"**

आगे इसी भूमिका में वे कविताओं के प्रकाशन के बारे में बारंबार एक झिझक का इज़हार करते हैं। इस संकोच की जड़ें गहरी हैं और काव्यानुभूति के अस्तित्व को ही स्पर्श करती हैं। यह संकोच न सिर्फ़ रची हुई सृष्टि को ऊपर आने से रोकता है, बल्कि उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता पर प्रश्न-चिन्ह लगाता है। इसका प्रभाव यहाँ तक हो सकता है कि लिखी हुई कविताएँ प्रकाश

में न आयें और 'कहीं-न-कहीं' के संदिग्ध अंतराल में अटकी रह जायें, सिर्फ़ एक 'टिक' के अभाव में। यह लगभग ऐसा है जैसे मालार्मे ने हल यह निकाला हो कि कविता लिख तो ली जाय लेकिन उसे प्रकाशित न कराया जाय।

शमशेर का वक्तव्य है कि कविता में हम अपनी भावनाओं की सचाई खोजते हैं। आशा करता हूँ कि ऊपर दिये गये संकेतों से इस वक्तव्य की मार्मिकता स्पष्ट हो जायगी। अर्थात हम आत्मपरकता की वस्तुपरकता की तलाश करते हैं। तलाश की यह मुद्रा वस्तुपरकता या सचाई की अनुपस्थिति अर्थात काव्यानुभूति की अपर्याप्तता को मान कर चलती है।

हम एक ऐसी सृष्टि की कल्पना करें जिसमें जन्म देने वाले ब्रह्मा तो हैं, लेकिन उस सृष्टि को धारण करने वाले, उसे निरंतर अस्तित्व प्रदान करने वाले, सही लगाने वाले विष्णु का अभाव है। सचाई की तलाश इसी विष्णुतत्व की तलाश है। देवताओं के इन प्रतीकों का प्रयोग मैं जानबूझ कर कर रहा हूँ। क्योंकि एक तरह की वैष्णव भावना, अर्पित निरीहता शमशेर की कविता में बराबर मौजूद है। वही है जो उनके काव्य जगत को धारण करती है। मालार्मे के काव्य जगत में तो रचने वाले ब्रह्मा का ही अभाव है। लेकिन शमशेर की समस्या विष्णुतत्व को स्थापित करने की है।

चीज़ें जन्म लेती हैं, लेकिन वे अपनी गति से निरंतर अस्तित्व में स्थापित नहीं होतीं। इस निरंतर अस्तित्व के लिए एक बाहरी प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है। उसी तरह जैसे विष्णु-तत्व जीव को अपनी अंजुली में धारण कर के सार्थकता देता है। यही शमशेर की काव्यानुभूति का आरंभ-स्थल है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहें तो यह रहस्यवाद नहीं है, पुष्टिमार्ग की तलाश है।

इस चर्चा को यहीं छोड़ कर अब मैं एक दूसरे तत्व की ओर इशारा करूँगा। आज से लगभग पंद्रह वर्ष पहले, 'दूसरा सप्तक' में अपनी संग्रहीत कविताओं पर वक्तव्य में शमशेर ने अपनी कविता की परिभाषा यों दी थी :

'सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है। अब यह हम पर है, कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनंत और अपार लीला को कितना अपने अंदर घुला सकते हैं।'

इस सूत्र की लगभग हूबहू वैष्णव शब्दावली अवश्य ही आपका ध्यान आकर्षित करेगी। बहरहाल, मैं 'अवतार', 'लीला' और 'अपने अंदर घुलना' इन शब्दों पर ज़ोर न दे कर 'सुंदरता' की चर्चा करना चाहूँगा, क्योंकि तात्विक रूप में शमशेर की काव्यानुभूति सौंदर्य की ही अनुभूति है। जिन लोगों का ख़्याल है कि छायावाद के बाद हिंदी कविता ने सौंदर्य का दामन छोड़ दिया है, उन्होंने शायद शमशेर की कविताओं का आस्वादन करने का कष्ट कभी नहीं किया। मैं एक क़दम और आगे बढ़ कर कहना चाहूँगा कि आज तक हिंदी में विशुद्ध सौंदर्य का कवि यदि कोई हुआ है तो वह शमशेर हैं। और इस 'आज तक' में मैं हिंदी के सब कवियों को शामिल कर के कह रहा हूँ।

अपने उसी वक्तव्य में आगे चलकर शमशेर कहते हैं :

'तस्वीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता--इन सब में बहुत-कुछ एक ही बात अपने-अपने ढंग से खोल कर या छिपा कर या कुछ खोल कर कुछ छिपा कर कही जाती है।'

इतने बड़े पैमाने पर यह बात सच है या नहीं, इस झगड़े में न पड़ कर हम इस कथन को शमशेर की कविताओं के लिए अवश्य प्रयुक्त कर सकते हैं--एक ही बात है जो अपने ढंग से खोल कर या छिपा कर या कुछ खोल कर या कुछ छिपा कर इन तमाम कविताओं में कही गयी है। चाहे हाशिये पर 'चीन' का नाम लिखा हो, या 'अल्जीरियाई वीरों' का या 'सौंदर्य' का या 'सींग और नाखून' का। और वह एक बात वही है जिसे शमशेर ने पहले कहा है : **'सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है।'**

सुंदरता के अवतार की निरंतर प्रक्रिया में सब कुछ समाया हुआ दिखता है। इस अनुभव की व्यापकता को उनकी दो बहुत भिन्न कविताओं को साथ रखने पर देखा जा सकता है। एक का शीर्षक 'चीन' है, जो उनके संग्रह 'कुछ कविताएँ' में प्रकाशित है। दूसरी कविता का शीर्षक 'सौंदर्य' है और वह 'नयी कविता' के सातवें अंक में प्रकाशित हुई है।

बेशक दूसरी कविता में झिलमिलापन और भावों की उमड़न पहली कविता के मुक़ाबले अधिक है, लेकिन सिर्फ़ कविताएँ सुन कर यह कल्पना करना लगभग असंभव है कि पहली कविता का शीर्षक 'चीन' है और वह 'चीनी जनता का लोकसत्तात्मक गणतंत्र राज्य' के चीनी अक्षरों को चित्र-पहेली की तरह इस्तेमाल कर के रची गयी है, और दूसरी कविता का शीर्षक 'सौंदर्य' है। सच तो यह है कि शमशेर की सारी कविताएँ यदि शीर्षकहीन छपें, या उन सबका एक ही शीर्षक हो, 'सौंदर्य, शुद्ध सौंदर्य' तो कोई अंतर नहीं पड़ेगा। शमशेर ने किसी विषय पर कविताएँ नहीं लिखी हैं। उन्होंने कविताएँ, सिर्फ़ कविताएँ लिखी हैं, या यों कहें कि एक ही कविता बार-बार लिखी है। शमशेर इस पल-छिन अवतार लेते हुए सौंदर्य के गवाह हैं--ऐसे गवाह जिसने इस अवतार के हर रंग और हर विस्तार को उसके 'अनंत लीला' रूप में स्पृहा के माध्यम से ठीक-ठीक स्वायत्त करने की शपथ ली हो। यह स्पृहामय साक्षी भाव शमशेर की काव्यानुभूति का दूसरा तत्व है।

इन दोनों तत्वों को समन्वित करने के पहले एक और तत्व को भी हम देख लें। वह है हमारे ऐतिहासिक परिवेश का। पिछले बीस-पचीस बरसों की हिंदी कविता में जो एक व्यक्त या अव्यक्त संघर्ष काव्य के आदर्शों को ले कर रहा है, स्थूलतः प्रगतिवाद बनाम प्रयोगवाद का, क्या उसका हल शमशेर ने निकाल लिया है? सतही तौर पर कहा जा सकता है कि शायद ऐसा है। लेकिन कुछ ऐसा भी है जो इसको अच्छेखासे कमाल का रूप भी देता है। वक्तव्य उन्होंने सारे प्रगतिवाद के पक्ष में दिये, कविताएँ उन्होंने बराबर वे लिखीं जो प्रगतिवाद की कसौटी पर खरी न उतरतीं। मार्के की बात यह है कि इनमें से कोई भी पहलू दिखावा नहीं है। ये दोनों ही मुद्राएँ उनके निजीपन की वास्तविक आवश्यकता से ही उपजती हैं। उनकी कविताएँ तो उनके लिए नितांत निजी हैं ही, प्रगतिवाद से उनका उलझाव भी कम निजी नहीं है। शमशेर से ज्यादा

इससे और कौन अवगत है कि इन दोनों के बीच में एक खाई है जिसे वे भर नहीं पाते? जितनी बार वे प्रगतिवाद के आदर्श की चर्चा करते हैं, उतनी ही बार वे 'ऊँच रुचि और मति' तक पहुँच पाने की अपनी असमर्थता का भी बलपूर्वक उद्घोष करते हैं।

मनोविश्लेषण को ही काव्य-विश्लेषण का पर्याय मानने वाले इस स्थिति को विभाजित व्यक्तित्व का सटीक उदाहरण समझ कर संतुष्ट हो जायँगे। लेकिन मनोविश्लेषण आदमी के व्यक्तित्व के बारे में जो कुछ भी बतलाता हो, कविता के बारे में कुछ नहीं बतलाता। क्योंकि कविता का आधार वह 'निजीपन' है, मनोविश्लेषण का 'अहं' जिसके आगे सतही मालूम पड़ता है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विवाद जब आज पुराने पड़ चुके हैं तब शमशेर की इस दुविधाग्रस्त स्थिति के अवशेष उनके दोनों संग्रहों में एक रोचक ढंग से दिखलायी पड़ते हैं। हमने आपके सम्मुख चीन पर लिखी उनकी पुरानी कविता का उल्लेख किया। अगर कविता के साथ छपी टिप्पणी और हाशिये के चीनी अक्षरों का ज़िक्र न किया जाय तो कविता में अपने आप में प्रगतिवाद का कोई अवशेष नहीं रह जाता। इसी तरह 'माई', 'का० भारद्वाज', 'ये शाम है', 'हमारे दिल सुलगते हैं' आदि कविताओं का प्रगतिवाद भी इन कविताओं में उतना नहीं है जितना इन कविताओं के साथ जुड़ी हुई टिप्पणियों में। यह निष्कर्ष निकालने का लोभ होता है कि शमशेर का प्रगतिवाद उनकी कविता के हाशिये तक सीमित रह गया। क्या इस निष्कर्ष से शमशेर की काव्यानुभूति के केंद्र तक पहुँचने में सहायता मिलती है?

शायद! क्योंकि प्रगतिवाद शमशेर के लिए मात्र वह नहीं है जो वह है, बल्कि वह है जो उनकी निजी ज़रूरत को पूरा करता है; उनकी काव्यानुभूति की बनावट का अंग बन कर प्रस्तुत होता है। इसी अर्थ में वह उनके लिए अभिनय नहीं है, वास्तविकता है।

ऊपर हमने अभिव्यक्ति को 'कवि के जीने मात्र' के लिए ज़रूरी होने का ज़िक्र किया है। स्थूल रूप में कविता किसी के जीने मात्र के लिए जैविक आवश्यकता की तरह महत्वपूर्ण नहीं होती। शमशेर के लिए यह स्तर मनोवैज्ञानिक जीवन का भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि कवि कविता न लिखे तो पागल हो जाय। कविता और जीवन की अभिन्नता अनुभूति के स्तर पर है। काव्यानुभूति और जीवनानुभूति एक ही वस्तु हैं।

इस संदर्भ में ही प्रगतिवाद के बारे में शमशेर का वक्तव्य हम समझ सकते हैं: **'जहाँ तक वह मेरी निजी उपलब्धि है वहीं तक मैं उन्हें, दूसरों के लिए भी मूल्यवान समझता हूँ।'** इसमें **'जहाँ तक'** और **'वहीं तक'** पर बल खुद शमशेर का दिया हुआ है। शमशेर का मार्क्सवाद आरंभ से ही इस 'जहाँ तक-वहीं तक' की बारीक शमशेरीय छन्नी से छाना हुआ मार्क्सवाद है।

दूसरे सप्तक के वक्तव्य में शमशेर 'समाज-सत्य' को आग्रहपूर्वक 'मार्क्सवाद' का पर्याय घोषित करना ज़रूरी समझते हैं। १९६१ तक जो चीज मार्क्सवाद थी, वह 'समाज सत्य का मर्म' हो गयी। बेशक इन दस वर्षों में परिवर्तन हुआ है, कम से कम आग्रह का। कम से कम शमशेर के लिए एक लाभ इसमें अवश्य दिखता है कि 'अपनी भावनाओं में', 'अपनी प्रेरणाओं में', 'अपने

संस्कारों में'—'समाज सत्य के मर्म' को ढालना और उसमें 'अपने को पाना' उतना कठिन नहीं है, जितना वह जिसे वे मार्क्सवाद के नाम से अभिहित करते हैं।

केंद्रीय शब्द 'निजी उपलब्धि' है। सत्य की निजी उपलब्धि की यह प्रक्रिया क्या है? समाज सत्य वह है जो हमारे निजत्व के बाहर है। मूलतः यह वह 'अतल' है जिसमें 'अटका हुआ आँसू' गिरता है। इस बाहर के सत्य को अपने भीतर खींच लाने की प्रक्रिया ही 'निजी उपलब्धि' है। बाहर का सत्य इस भीतर खींचने की प्रक्रिया का प्रतिरोध करता है। इसीलिए वह अनुभूति में 'जहाँ तक' 'वहीं तक' की कशमकश वाली शब्दावली में अभिव्यंजित होता है। मैंने आरंभ में उस गति की चर्चा की थी जो आत्मपरकता की वस्तुपरकता की तलाश करती है। निजी उपलब्धि की यह दूसरी गति उसका विलोम है—वस्तुपरकता की आत्मपरकता की तलाश है। यह अतल का वह प्रक्षेप है जो आँख की कोर पर अटके हुए आँसू को शून्य गर्भ से पृथकत्व का जीवित क्षण प्रदान करता है। बाह्य यथार्थ, सामाजिक सत्य, वस्तुजगत, भिन्न रुचि अथवा अतल वह है जो आंतरिकता पर, कविता पर, जीवनानुभूति पर 'टिक' लगाता है, उसकी पुष्टि करता दिखता है।

इस तरह समाज सत्य अर्थात काव्येतर अनुभूति को निजी उपलब्धि बनाना उसे काव्यानुभूति के उपयोग में लाना है। लेकिन शमशेर के लिए काव्यानुभूति के केंद्र में, उसके साथ सायुज्य में उसकी सत्ता नहीं है। प्रगतिवाद से उलझाव के दौर में भी वह एक तरह से हाशिये पर स्थित है। वह काव्यानुभूति की 'पहुँच के बाहर' एक क्षितिज, एक अतल, एक काव्येतर अनुभूति की तरह अस्तित्व ग्रहण करता है। काव्यानुभूति के साथ इस खास रिश्ते में जुड़ना ही उसका एक साथ ही निजी उपलब्धि भी होना है, और 'पहुँच के बाहर' भी होना है। जहाँ तक उसकी यह अवस्था शमशेर के काव्य में है वहीं तक वह औरों के लिए भी उपयोगी है। आजकल की शब्दावली में कहें तो काव्यानुभूति और प्रगतिवाद एक तरह के सह-अस्तित्व में आमने-सामने दर्पण की तरह रखे हुए हैं—कविता और हाशिये पर की लिखावट की तरह। लेकिन यह सह-अस्तित्व निरपेक्षता नहीं है; साक्षात्कार है। रिश्ते का अभाव नहीं है; रिश्ते की संभावना है। वस्तुतः संभावना ही वह आधारभूमि है जिसमें आत्म और वस्तु दोनों का अस्तित्व होता है। इस संभावना को सिर्फ़ दिमाग़ी कौल की तरह नहीं, बल्कि सीधी, माध्यमहीन, जीवन की धड़कन की तरह अनुभूत करना ही काव्यानुभूति है।

आरंभ में जिसे शमशेर मार्क्सवाद कहते थे, उसके लिए दस वर्ष बाद कुछ अधिक ढीली शब्दावली 'समाज सत्य' या उससे भी अधिक ढीली शब्दावली 'समाज सत्य का मर्म', 'इतिहास की धड़कन' आदि का प्रयोग करते हैं। शायद यह हाशिये की लिखावट को कुछ और सूक्ष्म, या धुँधला बनाने की कोशिश है। इस अर्थ में यह अनुभूति की मुख्य बनावट में थोड़े से परिवर्तन का सूचक है। बाहरी आकार से मर्म की ओर जाने का यह आग्रह इस निजी उपलब्धि को काव्येतर अनुभूति से अलग एक आप्तता देने का उपक्रम है। लेकिन अभी भी इसका रूप आत्मपरक और वस्तुपरक, चित और अचित के सायुज्य का नहीं है। एक तरह से शमशेर की प्रकृति हमेशा वस्तुपरकता को उसके शुद्ध रूप या उन्हीं के शब्दों में उसके 'मर्म रूप' में पकड़ने की रही है। इसीलिए 'उस दौर'

में भी, जब वह वास्तविकता के बाहरी आकारों की ओर बहुत आकर्षित थे, उनके लिए मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता का ही दूसरा नाम था। लगता यह है कि वाद की शब्दावली एक अनावश्यक शब्दभार को हटाने भर की कोशिश है—जो कुछ हमेशा था, उसे ही ठीक तौर पर कहने का आग्रह है। इसीलिए मार्क्सवाद का छूटता हुआ दामन, उनके लिए मोह-भंग का रूप नहीं लेता, बल्कि केंचुल छोड़ कर चुपचाप आगे बढ़ जाने की अनुभूति देता है। आज भी उनकी काव्यानुभूति में वस्तुता अपनी शुद्ध स्थिति में अभेद्य किंतु सूक्ष्म क्षितिज की तरह मौजूद है—और पहले भी मार्क्स-वाद इससे अधिक क्या था ?

इस प्रकार शमशेर मालार्मीय विडंबना का हल अपने ढंग से निकालते हैं, वस्तुपरकता के मर्म में आत्मपरकता का, और आत्मपरकता के मर्म में वस्तुपरकता का आविष्कार कर के। चित और अचित एक दूसरे का निषेध नहीं करते, बल्कि एक दूसरे को प्रतिबिंबित करते हैं। तात्विक दृष्टि से यह स्थिति छायावाद से भिन्न है, जिसमें चेतना के ही दो दर्पण इस पार और उस पार रखे हुए हैं, और बीच का अचित ब्रह्मांड उनकी परस्पर छाया की तरह आभासित होता है; यह दृष्टि मार्क्स के अद्वैतात्मक भौतिकवाद से भी भिन्न है जिसमें प्रकृति और पुरुष के दोनों दर्पण अचित के ही हैं और चेतना भौतिकता के ही दर्पण में भौतिकता की पड़ती हुई छाया की तरह आभासित होती है।

कविता दर्शन नहीं है। क्योंकि कवि अपनी मान्यताओं का चुनाव जिस तरह करता है उस तरह दार्शनिक नहीं। दार्शनिक अपनी मान्यताओं में उनकी अपनी परस्पर संगति खोजता है, जब कि कवि के पास मान्यताओं के लिए एक ही संगति है—जीने की ज़रूरत से ही उनकी संगति। इसलिए शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट की इस व्याख्या को आप उनके दर्शन के रूप में नहीं—बल्कि दृष्टि के रूप में, एहसास के रूप में ग्रहण करें। उसके रूप में जिसकी गवाही वे देते हैं—**'सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल छिन होता रहता है।'**

मैंने सुविधा के लिए चेतना को वस्तुपरकता और आत्मपरकता के दो छोरों में बाँट कर विश्लेषण किया, और उनकी दो गतियों को आपके सामने रखा। लेकिन काव्यानुभूति के क्षण में यह सारी स्थिति इस तरह, अलग-अलग नहीं प्रस्तुत होती। उसकी प्रतीति एक समूची इकाई की तरह होती है। यह इकाई यथार्थ की इकाई है।

इस प्रकार देश-काल से बँधे हुए यथार्थ के मर्म में ही एक दरार, फाँक या रिक्तता है। जहाँ देश न वैसा देश है जिसे हम साधारणतः जानते हैं, और न काल घटनाओं की न लौटने वाली गति है जिसे घड़ी नापती है। उदाहरण के लिए इस तसवीर को आप देखें :

एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
पूरब से पच्छिम को एक क़दम से नापता
बढ़ रहा है।
कितनी ऊँची घासें चाँद-तारों को छूने को हैं

जिनमें घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है
अपनी शाम को सुबह से मिलाता हुआ,
फिर क्यों
दो बादलों के तार
उसे महज़ उलझा रहे हैं ?

देश की ही तरह काल में भी फाँक है। यों शमशेर की कल्पना काल को भी देश की ही तरह अनुभूत करती है, एक विशाल विस्तार की तरह जिसमें पौर्वापर्य्य की बाध्यता नहीं है। देश के रूप में काल की अनुभूति, या यों कहें कि काल की वह सरहद जहाँ वह देश से अभिन्न दिखता है, अस्तित्व की किस अवस्था का सूचक है, यह विवेचना की अलग दिशा है, और मेरे लिए बहुत आकर्षक भी है। लेकिन यह विस्तार की बात है। बहरहाल, इस सिलसिले में मैं उनकी 'अमन का राग' और हाल ही में 'कल्पना' में प्रकाशित 'गिन्सबर्ग के नाम' कविताओं का ज़िक्र करूँगा जहाँ काल देश में परिवर्तित हो कर 'यूटोपिया' का निर्माण करता है। यह इतिहास को इतिहास के भीतर देखने की कोशिश है। शमशेर के लिए यूटोपिया का अस्तित्व भविष्य की भविष्यता में नहीं, भविष्य की वर्तमानता में है। बल्कि अतीत और भविष्य दोनों की वर्तमानता में है। इसी-लिए वह इतिहास की सरहद पर नहीं ऐतिहासिक क्षण के मर्म में, उसकी धड़कन में विद्यमान है। उसमें नैरंतर्य या पौर्वापर्य्य नहीं है, बल्कि निःसीमता है।

ख़ैर, इस प्रसंग को छोड़ कर, मैं आपका ध्यान उद्धृत कविता की ओर आकृष्ट करूँगा जिसमें दो पहाड़ों को ठेल कर उभरते हुए आदमी का बिंब है। इस कविता की काया शमशेर की अन्य कविताओं के मुक़ाबले में ज़्यादा भरी-पुरी है, और इसीलिए उतनी दुरूह नहीं है। ठेले जाते हुए पहाड़ देश में, और सुबह और शाम काल में दरार या रिक्तता की स्थापना करते हैं, इतना तो स्पष्ट होगा। यह फाँक वही है जो 'ये लहरें घेर लेती हैं' नामक कविता में 'अंतरिक्ष में' ठहरे हुए 'एक दीर्घ समतल मौन' से व्यक्त होती है।

आसमान में गंगा की रेत आईने की तरह हिल रही है।
मैं उसी में कीचड़ की तरह सो रहा हूँ।
और चमक रहा हूँ, कहीं
न जाने कहाँ।

यथार्थ के मर्म में जो फाँक है, वह और कुछ नहीं है कवि के मर्म की ही फाँक है। चेतना के अंतरिक्ष में ही इस अभाव का, न-कुछ का, दीर्घ समतल मौन का, जन्म होता है। उसी तरह जैसे पानी की सतह पर फैले हुए तेल की झिल्ली, फैलने की प्रक्रिया में ही बीच से फट जाती है, और पानी की सतह पर एक शुद्ध अभाव छोड़ जाती है। इस अंतवर्ती शुद्ध विस्तार के उस पार आईने में जो दिखता है वह और कोई नहीं है कवि स्वयं है। ब्रह्मांड चेतना के उस पार नहीं है, बल्कि चेतना के भीतर, अंतवर्ती शुद्ध विस्तार के उस पार है।

लेकिन इस 'बेठोस नीले आईने' में, बर्फ़ की इस पारदर्शी पोली परत में, वह जो अपने को ही देखता है—उसका प्रतिबिंब हूबहू वैसा ही नहीं है जैसा वह है। और न वह बिल्कुल दूसरा,

बिल्कुल भिन्न ही है, न तो वह प्रतिच्छवि ही है, और न छायाभास ही है—वह इन दोनों के बीच की स्थिति अर्थात बिंब है। देखने की क्रिया ही बिंब देखना है। बिंबों का सृजन ही काव्यानुभूति की वह नैसर्गिक अवस्था है जहाँ वह जीवन की अनुभूति से एकाकार होती है। बिंब आत्मा की वस्तुता और वस्तु की आत्मा की तलाश है। इस स्थिति को मैं 'आपटिक्स' के उदाहरण से स्पष्ट कर सकता हूँ। जिस तरह वर्तुल आईने में देखने पर प्रतिबिंब आईने और देखने वाले के बीच अंतर्वर्ती विस्तार में अटका हुआ मालूम पड़ता है—उसी तरह चित और अचित के दोनों दर्पण बीच में एक बिंबलोक का निर्माण करते हैं। यथार्थ के दो नहीं, तीन लोक हैं।

तीन
ब्रह्मांड
टूटे हुए मिले चले गये हैं।

यथार्थ के मर्म में, अथवा चेतना के मर्म में, जो फाँक है क्या उसे पाटना संभव है? काव्यानुभूति का क्षण जो एक साथ ही अंतर्वर्ती विस्तार के दो छोरों पर रखे हुए आईनों के साक्षात्कार का और इसीलिए अपने को ही दो हिस्सों में विभाजित पाने का क्षण है, इस काँपते हुए, डरे हुए, पिघलते हुए प्रश्न का भी क्षण है। यह तथ्य कि काव्यानुभूति के तल में प्रश्न है उत्तर नहीं है, शमशेर को छायावाद के निकट ले जाता है—विशेषतः महादेवी के, जिनमें भी काव्यानुभूति मुख्यतः प्रश्न का रूप लेती है। लेकिन महादेवी का प्रश्न शुद्ध प्रश्न है—वह शुद्ध मैं का शुद्ध तू के प्रति फेंका हुआ तीर है। दूसरी तरफ़ शमशेर का प्रश्न, प्रश्न की शुद्धावस्था नहीं है; वह मैं का ऐसे तू के प्रति फेंका हुआ तीर है जो प्रश्न के पहुँचते-पहुँचते मैं में ही परिवर्तित हो जाता है। शमशेर के प्रश्न के छोर पर उत्तर की संभावना झिलमिलाती है। वस्तुतः वह प्रश्न नहीं है, उत्तर भी नहीं है : उत्तर की संभावना है। मेरे लिए यहाँ उदाहरण देना संभव नहीं है लेकिन मैं आप विद्वज्जनों से प्रार्थना करूँगा कि जहाँ-जहाँ शमशेर की कविताओं में 'कौन?', 'न जाने कौन?' आदि प्रश्नवाची व्यंजनाएँ प्रयुक्त हुई हैं, उनकी आप महादेवी के 'कौन', 'न जाने कौन' आदि से तुलना करें तो समानता और अंतर दोनों स्पष्ट होगा। महादेवी का 'कौन' एक खुले हुए असीम की स्थापना करता है; शमशेर का 'कौन' भी असीम की स्थापना करता है, लेकिन वह असीम, घिरा हुआ असीम है। आशा करता हूँ कि 'घिरे हुए असीम' की यह कल्पना सिर्फ़ शाब्दिक उलटबाँसी नहीं लगेगी, लेकिन आप देखेंगे कि यह वही है जिसे पहले दरार, फाँक या अंतर्वर्ती विस्तार का नाम दिया गया।

प्रश्न के छोर पर उत्तर की जो संभावना झिलमिलाती है, वही बिंबलोक है। यह संभावना मालार्मीय विडंबना के बीच कल्पना के अनुग्रह की दुर्लभ घड़ियों की तरह—कभी-कभी ऐसा होता है कि बिंबलोक दरार को पूरा का पूरा भर देता है। सुंदरता का अहैतुक अवतार, अनंत और अपरंपार लीला होने लगती है। यह यूटोपिया का वह क्षण है, जिसमें पूरा का पूरा काल, देश में परिवर्तित हो जाता है। अत्यधिक उल्लास, और चमकते हुए उत्साह के साथ, परिपूर्ति का यह अनुभव कवि का साक्षात्कार एक नये तरह की निःसीमता—बंधन-मुक्ति और स्वतंत्रता की

निःसीमता--से कराता है। क्योंकि यह सिर्फ़ उल्लास और आवेग का ही नहीं, बल्कि एक बहुत बड़ी विजय का भी क्षण है। यह पाश टूटना, उस संकोच और प्रतिरोध के पाश का टूटना है जो आत्मा और वस्तु की परस्पर उन्मुख गतियों को परस्पर विपरीत गतियों में बदलता रहता है। परिपूर्ति की यह धारासार बारिश जो लगता है कि कोई भी खाली जगह नहीं छोड़ती, शमशेर की यूटोपियन कविताओं में व्यक्त हुई है। मैं पहले कह चुका हूँ कि यूटोपिया भविष्य की भविष्यता नहीं, बल्कि उसकी वर्तमानता है। अर्थात यूटोपियन दृष्टि भविष्य का निषेध नहीं करती, भविष्य और वर्तमान के बीच जो अंतराल है, उसका निषेध करती है। तब उस 'घिरे हुए असीम' का क्या होता है? क्या वह घिरा हुआ या असीम नहीं रह जाता? घिरा हुआ असीम वह तब भी रहता है, फ़र्क इतना ही है कि जो कुछ पहले अभाव या रिक्तता की तरह लगता था, वह सहसा भाव या परिपूर्ति में बदल जाता है। शून्य अवस्था घन अवस्था में बदल जाती है। क्या इस रिक्तता को जो अलग करती दिखती थी, इस तरह नहीं देखा जा सकता कि वह दोनों आईनों को जोड़ती हुई दिखे? शमशेर की यूटोपियन कविताओं में ही उनके बिंब सर्वाधिक सघन, ठोस और अपारदर्शी मालूम पड़ते हैं। या यों कहें कि वे कम से कम बिंब रह जाते हैं, और अधिक से अधिक प्रतिच्छवि मालूम पड़ने लगते हैं। उनकी वह गहराई जो उन्हें एक बिंबलौकिक चमक देती है, विलीन होने लगती है। यूटोपिया की तलाश हाशिये की लिखावट की तलाश है। अर्थात जैसे-जैसे कवि यूटोपिया की ओर बढ़ता है, वह अपनी मृत्यु की ओर बढ़ता है। क्योंकि यूटोपिया की अंतिम परिणति मार्क्सवाद है, (कम से कम शमशेर के लिए अब तक रही है) और मार्क्सवाद वह हिस्सा है जो काव्यानुभूति के बाहर पड़ता है। वह शुद्ध वस्तुपरकता है जहाँ कवि मर जाता है। कवि ही क्यों यथार्थ भी मर जाता है। हाथ आता है सिर्फ़ एक मरा हुआ वर्तमान और मरा हुआ भविष्य।

आखिरकार यूटोपिया का मतलब क्या है? वह लोक जिसका अस्तित्व नहीं है। इस तरह उसके अस्तित्व में ही अनस्तित्व की शर्त है। उसका संकल्प जितना शुद्ध जितना उन्मुक्त होगा, उतना ही वह निषिद्ध एवं वर्जित होता जायगा। इसी कारण यह बिंबलोक है। सरहद के पार यूटोपिया की स्पृहा अपने अंतिम रूप में मृत्यु की स्पृहा की तरह महसूस होती है:

आईनो, रोशनाई में घुल जाओ और आसमान में
मुझे लिखो और मुझे पढ़ो।
आईनो, मुस्कराओ और मुझे मार डालो।
आईनो, मैं तुम्हारी ज़िंदगी हूँ।

लेकिन शमशेर की कविता के हाशिये पर सिर्फ़ मार्क्सवाद का नाम नहीं लिखा है। दूसरी तरफ़ एक और हाशिया है जिस पर एक और इबारत है, जो एक दूसरे अर्थ में वर्जित है। उस इबारत का नाम शमशेर देते हैं--सुर्रियलिज़्म या अतियथार्थवाद। यह पहली इबारत की ठीक उलटी इबारत है। घन का ऋण पक्ष है। अतियथार्थ वस्तुतः इतिहास में क्या था या क्या है, यह उतना प्रासंगिक नहीं है, जितना यह कि उसका निजी इस्तेमाल शमशेर क्या करते हैं। उनके लिए अतियथार्थवाद शुद्ध आत्मपरकता है, जिस तरह मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता है। रेखाचित्रों की

शक्ल में वह 'कुछ कविताएँ' नामक संग्रह में 'घनीभूत पीड़ा' शीर्षक कविता में हाशिये पर मौजूद है—और ये चित्र 'चीन' नामक कविता के चीनी अक्षरों की भाँति—कविता की 'पहुँच के बाहर' होते हुए भी कविता के 'अभिन्न अंग' हैं। बहरहाल, मुख्य बात यह है कि दोनों हाशियों की तरफ़ कवि का रुख़ एक जैसा नहीं है। मार्क्सवाद या वस्तुपरकता वह है जिसका कवि क़ायल है, लेकिन जिसे वह काव्यानुभूति में ला नहीं पाता। अतियथार्थवाद वह है जो बरबस काव्यानुभूति में फूटा पड़ता है लेकिन कवि जिसका क़ायल नहीं है और जिसे दबा कर, निकाल कर कविताओं में से अलग कर देना चाहता है। एक तरफ़ अपने को वायवी बना कर असंभव ऊँचाई को छू लेने की स्पृहा है, दूसरी तरफ़ अपने को पत्थर की तरह ठोस बना कर उमड़ती हुई वायवीयता को दबा देने की कोशिश है। इन दोनों हाशियों के बीच शमशेर की काव्यानुभूति एक व्याकुल शांति की तरह स्थिर है। मूलतः वह जिसे हम जीवन कहते हैं दो अतियों अथवा सीमांतों के बीच गति और प्रतिगति का एक झीना, झिलमिलाता हुआ और बेचैन संतुलन है।

मार्क्सवाद की तरह अतियथार्थवाद भी एक यूटोपिया की सृष्टि करता है। यह यूटोपिया एक तरह की निषेधात्मक यूटोपिया है। धन बिंबलोक के मुक़ाबले में ऋण बिंबलोक है। 'कुछ और कविताएँ' में दी हुई दो कविताएँ 'सींग और नाख़ून' तथा 'शिला का ख़ून पीती थी' इस निषेधात्मक, या यों कहें, निषिद्ध यूटोपिया का चित्र प्रस्तुत करती हैं। यहाँ भी काल पूर्णतः देश में समाहित हो जाता है—जैसे समय का प्रवाह पत्थर हो कर रुक गया हो। इसके आगे राह नहीं है। अर्थात घिरा हुआ असीम यहाँ भी पूरा का पूरा भर गया सा लगता है।

शिला का ख़ून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं
सीढ़ियाँ भी बादलों की झूलतीं
टहनियों-सी।
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना :
सुतल था।

आप देखेंगे कि वह बेचैन छटपटाहट जो गति और प्रतिगति के बीच संतुलन खोजती हुई 'अमन का राग' में उन्मुक्त हो गयी थी, यहाँ आ कर ठोस, बिल्कुल जड़ हो गयी है। इन कविताओं के बिंब भी उतने ही सघन, ठोस और अपारदर्शी हैं। लेकिन इस ध्रुवांत पर वे सब से अधिक दुरूह लगते हैं। 'अमन का राग' या 'चीन' में अर्थ जो शब्दों की सतह पर तैरता दिखता है, यहाँ आ कर 'गुम' हो गया है। पूरी कविता के भीतर एक विशाल अनुपस्थिति की व्यंजना होती है। इस निषिद्ध यूटोपिया के पास पहुँचने पर भी बिंब अपनी बिंबलौकिकता खोने लगते हैं; वे बिंब नहीं रह जाते; वे प्रतीक हो जाते है। ये प्रतीक किसके प्रतीक हैं? ये प्रतीक हैं—कुछ नहीं के। अक्षरशः कुछ नहीं के। यह पीड़ा की वह अवस्था है जहाँ उसमें से स्पृहा, उच्छ्वास, तड़प, बेचैनी सब कुछ अनुपस्थित हो जाता है और दर्द एक जड़ चिकनी चट्टान की तरह जम जाता है। हाशिये

की इस ऋण दिशा में भी कविता जैसे-जैसे बढ़ती है, अपनी मृत्यु की ओर बढ़ती है। इसलिए कि इसके आगे पागलपन, मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति है जो चेतना की मृत्यु का पर्याय है। घबरा-घबरा कर शमशेर इस प्रतीकात्मक अतियथार्थ से यदि वापस लौटते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। वह अपने होशो-हवास की दुरुस्ती को बनाये रखने के लिए ही संघर्ष करते हैं।

सीमांतों तक जा कर इस खाईं को नहीं पाटा जा सकता। फिर आदमी क्या करे? हार कर, हताश कातरता के साथ शमशेर उस घिरे हुए असीम के बीच में संतुलन की तलाश करते हैं। यह मध्यता एक फाँक, अटकाव, की तरह महसूस होती है : जैसे कुछ ऐसा है जो हमेशा के लिए चंगुल में फँस गया हो। मध्य का यह फाँसदार संतुलन निष्क्रिय नहीं है। वह मुख्यतः गति है—**'ओ सुदूरपन, ओ केवल लयगति।'**

लेकिन मध्य का यह संतुलन एक विधायक, सक्रिय, स्वयंभू उत्स की तरह नहीं जन्म लेता, जैसा कि अज्ञेय के काव्य में है। इसके विपरीत यह संतुलन दो निषेधों के आपसी निषेध से पैदा होता है। शमशेर मूलतः अतिवादी हैं, ऐसे अतिवादी जो अपने ही अतिवाद से सहम कर वापस लौटने की चिरंतन मुद्रा में गिरफ़्तार हो गये हैं। यही है जो उलझी हुई भावनाओं का रूप ग्रहण करता है। दो पहाड़ों को ठेल कर उभरते हुए आदमी वाली कविता में भी, जो उनकी दूसरी कविताओं के मुक़ाबले इस संतुलन को अधिक से अधिक विधायक रूप देती दिखती है—अंत में बादलों के दो तार निषेध करने वाली दो गतियों की तरह उस फाँस की याद दिला ही देते हैं।

इस प्रकार यथार्थ की तह में निषेध है जो बिंबलोक को जन्म देता है। यह निषेध मालार्मे की तरह सिर्फ़ रिक्तता की सृष्टि न करे इसलिए इसको ज्यों का त्यों आत्मसात करना संभव नहीं है। दूसरी तरफ़, इसकी सत्ता से इनकार करना धन या ऋण यूटोपिया में पहुँचना है, जो मृत्यु का ही दूसरा नाम है। अतः इसके प्रति सहमा हुआ सा, कातर, निरीह वैष्णव भाव ही एक मात्र उपाय है। जैसे ही यह भाव उदित होता है, बिंबलोक एक बेचैन संतुलन की भाँति जन्म लेता है।

शायद अब आप देखेंगे कि शमशेर सचमुच कितनी साँसत में हैं। उनकी स्पृहा की समस्या इस निषेध को विधेय रूप में आत्मसात करने की है। बिना तट पर पहुँचे हुए ही तटस्थ होने की है। चेतना के सीमांतों को चेतना के मध्य में महसूस करने की है। इसी कारण इतनी ऐंठन, इतना उलझाव, इतना पेचो-ख़म है—और उनके ऊपर तैरती हुई निरीह, मौन, आर्द्र सरलता है। खास बात यह है कि यह मुख्य स्थिति भाव या वस्तुओं के तमाम रूपों में छिप कर अलग-अलग नहीं आभासित होती, बल्कि भावों या वस्तुओं के मर्म में मौजूद यह एक ही स्थिति दिखती है। इसी को शमशेर बारंबार घुलना या घुलाना कहते हैं—और इसीलिए काव्यानुभूति यथार्थ के जिस हिस्से को पकड़ती है, शीर्षकों के बावजूद एक ही कविता का निर्माण करती दिखती है।

'घिरे हुए असीम' के निषेधों की यह भावभूमि बारंबार उन बिंबों को जन्म देती है जो अपनी विविधता के बावजूद एक ही हैं :

(१) रह गया सा एक सीधा बिंब
चल रहा है जो
शांत इंगित सा
न जाने किधर।

(१) मैं सुनूँगा तेरी आवाज़
परती बर्फ़ की सतहों में तीर सी।

(३) एक दरिया उमड़ कर पीले गुलाबों का
चूमता है बादलों के झिलमिलाते
स्वप्न जैसे पाँव।

(४) मौन आहों में बुझी तलवार (५) कठिन प्रस्तर में अगिन सूराख़ (६) ग़रीब के हृदय, टँगे हुए (७) सुर्मई गहराइयाँ, भाव में स्थिर (८) पूरा आसमान का आसमान है एक इंद्रधनुषी ताल (९) मोह मीन गगन लोक में बिछल रही (१०) मैं खुले आकाश के मस्तिष्क में हूँ (११) कई धाराएँ खड़ी हैं स्तंभवत गति में (१२) ऊषा के जल में सूर्य का स्तंभ हिल रहा है (१३) धुंधली बादल रेखा पर टिका हुआ आसमान (१४) क्षितिज के बीचोबीच खिला हुआ फूल (१५) अंधकार के चमकीले निर्झर में, तुम्हारे स्वर चमकते हैं (१६) ख़ून बजता है हवा में। आदि आदि।

ये सारे बिंब निषेध की प्रक्रिया में संतुलित हैं। उनका अस्तित्व लगभग घुल कर रिक्त होने जाने के क्षण में है। उनकी चमक, उनकी पारदर्शिता और उनकी गत्यात्मकता इसी से उपजती है। इसके अलावा वे उसी घिरे हुए असीम में अटके हुए हैं; अंधकार का चमकीला निर्झर उस असीम में गिर रहा है, लेकिन उसमें चमकता हुआ स्वर उसे पूरा का पूरा नहीं भरता। इस संतु-लन में एक थरथराहट है। यह थरथराहट एक गति में फँसी हुई प्रतिगति है। बिंब न सही तो थरथराहट, झिलमिलापन उस असीम को भरता हुआ दिखता है। घिरे हुए असीम को भरती दिखती हुई बिंबों के साथ की थरथराहट, या चमक ही उनकी बिंबलौकिकता है। इस बेचैन, छीजते हुए संतुलन को हम पदार्थों की रेडियो-प्रक्रिया के दृष्टांत से समझ सकते हैं।

मैंने 'बिंबलोक' शब्द का प्रयोग किया है। बिंब और बिंबलोक के अंतर को स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक है। यह लगभग उसी तरह का अंतर है जो विष्णु और विष्णुलोक में है। विष्णुतत्व और विष्णुलोक में अंतर है। उसी तरह बिंब के बिंबतत्व और बिंबलौकिकता में अंतर है। शमशेर की कविता में घिरे हुए असीम को बिंब की बिंबात्मकता नहीं, उसकी बिंबलौकिकता भरती है। अंतिम रूप में शमशेर की काव्यानुभूति बिंब की नहीं, बिंबलोक की अनुभूति है। इसी का निर्माण वे बार-बार करते हैं, और विविध बिंबों के बावजूद एक ही कविता लिखते हैं। अंततः इस बिंबलोक में बिंब का भी पर्यवसान हो जाता है। लेकिन बिंब का पर्यवसान उस लोक का भी पर्यवसान है।

निषेध का अंत नहीं है। विधेय रूप में निषेध को आत्मसात करने पर भी वह निषेध ही बना रहता है। उसका अंत नहीं होता। निषेध का अंत वहाँ है जहाँ से विधायकता का आरंभ होता है। शमशेर का बिंबलोक कब तक इस निषेधात्मक यूटोपिया से घिरा रहेगा? अवतार को लीला रूप में देखने की कोशिश तात्विक दृष्टि से घटित होने को केवल होने के रूप में देखना है। आप देखेंगे कि यही समस्या भक्तिकाल की भी दार्शनिक समस्या है। यूरोप के अस्तित्ववादी दार्शनिक यास्पर्स ने कहा है कि असली प्रश्न यह है कि क्या नास्तिक संत होना संभव है? यास्पर्स का दर्शन इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश है। शमशेर की काव्यानुभूति के मौन विस्तार में भी यही प्रश्न मँडराता रहता है।

काव्यानुभूति की इस बनावट का शिल्प के स्तर पर एक नतीजा यह निकलता है कि शब्द जो जड़ थे, सहसा पोले पड़ने लगते हैं। शब्द की जड़ अवस्था वह है जो उनको रूढ़ अर्थों के पाश में बाँधती है। शब्द और अर्थ का संबंध एक अचल स्थिरता की तरह परिभाषाबद्ध हो जाता है। उनके पोले पड़ने का मतलब है कि अर्थ को परिभाषा के तात्विक कैवल्य की भाँति नहीं बल्कि प्रक्रिया की तरह देखा जाय। तब शब्द के पाश टूटने लगते हैं, और वे परिभाषा का अर्थ नहीं, जीवन की अनुभूति का अर्थ देने लगते हैं। शब्द की अर्थशक्ति में इतना बड़ा परिवर्तन हिंदुस्तान में एक बार और हो चुका है जब गुमनाम ध्वनिकार ने व्यंजना शक्ति का आविष्कार किया। उस समय शब्दों के पाश टूटने की अनुभूति हुई होगी। ध्वनि सिद्धांत तत्वतः घटित को अस्तित्व की तरह फैलता हुआ देखने का प्रयास है। क्या ध्वनि सिद्धांत और बाद में विकसित होने वाले विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत में कोई असंलक्ष्यक्रम रिश्ता है? आप विद्वज्जनों के संमुख मैं इस ख़तरनाक क्षेत्र में प्रवेश करने की मूर्खता नहीं करूँगा। इस गुत्थी को खोलना समर्थ व्यक्तियों का काम है। मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि शब्दों के प्रति शमशेर की, और समूची नयी कविता की दृष्टि हिंदुस्तान की पुरानी उपलब्धियों से अलग नहीं है, बल्कि ठेठ उनके मध्य में स्थापित है। आज की कविता की समस्या लगभग उसी शक्ल में सामने आती है, जिस तरह वह ध्वनिकार के सामने आयी थी। उसमें पहले की सभी दृष्टियों का समाहार हो गया। शमशेर की कविता, या समूची नयी कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की ज़रूरत नहीं है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की ज़रूरत है।

जब एक बार शब्दों को जकड़े हुए अर्थों के पाश टूट जाते हैं, तब उनकी इस नयी मुक्ति की अवस्था में, उन्हें नये-नये रिश्तों में जोड़ना संभव होने लगता है। शमशेर के शब्दों में :

'जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
सजग-सा हो कर पसरने लगा
आप से आप।'

ऐसी अवस्था में ऐसे-ऐसे शब्द साथ-साथ आने लगते हैं, जिनके साहचर्य की कल्पना पहले नहीं की गयी थी, और 'साँस की गंगा', 'हलकी मीठी चा-सा दिन', 'हँसी का फूल', 'मौत के रंगीन पहाड़', 'अगोरती विभा', 'काग़ज़ी विस्मय', 'सुलगता हुआ पहरा', 'मोतियों को चबाता

हुआ गुल' जैसे प्रयोग सिर्फ़ चौंकाने वाले करिश्में नहीं लगते, बल्कि एक गूँजते हुए अर्थ से भर जाते हैं। कविता शब्दों और शब्दों के संयोग से नहीं बनती, बल्कि शब्दों का जाल जो यथार्थ पर फेंका जाता है, उससे बनती है। यह फेंका हुआ जाल ही अर्थ है। और अगर यथार्थ स्थिरता नहीं, गत्यात्मक प्रक्रिया है तो शब्दार्थ को भी गत्यात्मक प्रक्रिया होना पड़ेगा। यही शमशेर के शिल्प की समस्या है।

मैंने आपके संमुख काव्यानुभूति की बनावट प्रस्तुत की। ऐसे बहुत से सवाल हैं जो मैंने छोड़ दिये हैं। इस बनावट से कवि का जो स्पृहात्मक संबंध है उसकी प्रकृति क्या है? यह 'सौंदर्य' की तरह क्यों आभासित होता है? इस समूचे अस्तित्व का हमारे रोज़मर्रा के जीवन से क्या संबंध है? छायावाद या हिंदी काव्य की परंपरा से इसका किस तरह का रिश्ता है? सबसे बढ़ कर वह भावात्मक अवस्था जो इस बनावट को ऐंद्रिकता देती है उसका व्यापार किस तरह का है, यह सब मैंने छोड़ दिया है। इनमें से कुछ प्रश्न तो ढाँचे की इस विवेचना के बाहर हैं, और कुछ का उत्तर देना शमशेर के ही शब्दों में मुझसे ज़्यादा 'ऊँच रुचि और मति' वाले विद्वानों का काम है।

इसलिए शायद आपको लगे कि काव्यानुभूति की बनावट की इस विवेचना में मैंने शमशेर की कविता के रेशे-रेशे बिखेर कर रख दिये और कविता की इहलीला समाप्त हो गयी। आखिर-कार विश्लेषण कविता की जगह तो नहीं ले सकता। क्षमा याचना के रूप में मैं आपके सामने शमशेर की दो बहुत मार्मिक कविताएँ 'सागर तट' तथा 'लौट आ ओ धार' आपके संमुख रख कर इस विवेचना को समाप्त करूँगा। इन कविताओं में जो अवतरित होता हुआ सौंदर्य है, यथार्थ पर थपेड़े मारता हुआ चेतना का जो स्पंदन है, यदि उसकी धड़कन को कुछ अधिक गहराई के साथ आप महसूस कर सकेंगे तो में अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा : आपके प्रति भी और कवि शमशेर के प्रति भी।

—१४ ए०, बैंक रोड,
इलाहाबाद।

समीक्षाएँ

बाँस का पुल

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का कविता-संग्रह। समवाय प्रकाशन, लखनऊ। १९६३। मूल्य: ३.००।

पिछले दो दशकों के बीच हिंदी कविता की सारी छटपटाहट दो सीमाओं के बीच बँधी रही है: पहली तो यह कि रोमांटिक मिज़ाज से मुक्त हो वह सर्वथा नये भावों के धरातल छूने में सफल हो जाय, और दूसरे यह कि वह प्रयोग के माध्यम से और कुछ नहीं तो एक नया क्रम, एक नयी व्यवस्था के उपादान जुटा सके। आज भी वह शायद इन्हीं दोनों अतिवादी प्रवृत्तियों से जूझ रही है और इस जूझने में हर अभिव्यक्ति कहाँ और कैसे फिर घूम-फिर कर उसी रोमांटिक मिज़ाज की पुनरावृत्ति करती है और किस प्रकार प्रयोग का हर प्रयास केवल एक मुद्रा बन कर रह जाता है, यह शायद समय के विस्तार के साथ आज हम अधिक स्पष्ट रूप में देख सकते हैं।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना पिछले दशक के मान्य कवियों में से हैं और, जैसा कि प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है, "नयी कविता के शत्रु और मित्र दोनों के लिए सर्वेश्वर का नाम काफ़ी महत्व रखता है"। मैं और नहीं जानता पर नयी कविता के प्रति एक जिज्ञासा रखने के नाते और साथ ही स्वयं नयी कविता का लेखक होने के नाते, मेरे लिए सर्वेश्वर की कविताओं का विशेष महत्व है—विशेषतया इसलिए कि नयी कविता में जितना भी रूढ़ि हो गया है, उनकी कविताओं और भाव-भंगिमाओं में मुझे उसके दर्शन तो होते ही हैं, साथ ही उसमें किसी हद तक स्वयं अपना भी चेहरा अधिक वस्तुपरक रूप में देखने को मिलता है। 'काफ़ी' महत्व इसलिए नहीं है कि सर्वेश्वर की कविताएँ आज की नयी संभावनाओं को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं करतीं—वे केवल यह बतला पाती हैं कि जब हमारी उत्कंठा मात्र लक्षण बन जाती है तो जो असंगतियाँ पनपती हैं, वे कहीं पूरे भाव-बोध को समझने में दृष्टि-भ्रम भी पैदा कर देती हैं।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का नया संग्रह 'बाँस का पुल' पूरा पढ़ जाने के बाद मेरे सामने कई प्रश्न एक साथ उठ खड़े हुए। पहला प्रश्न तो यह कि क्या नयी कविता केवल बिंब के जाल में उलझ कर समाप्त हो जायगी या बिंबों को तोड़ कर भी आगे बढ़ सकेगी? दूसरा प्रश्न यह कि क्या नयी कविता के लिए आवश्यक है कि अब भी वह मात्र उत्कंठा व्यक्त करे या अब उसके लिए उत्कंठित की अपेक्षा अधिक संयत होने की आवश्यकता है? मुझे ऐसा लगता है कि आवरणहीन होना शायद सावरण होने से ज़्यादा कठिन है, किंतु यह भी सत्य है कि आवरण से मुक्त होना हमारी पीढ़ी के लिए कठिनसाध्य भी है। यह सही है कि ऐंटीटेंपर और टेंपरलेस होने में हमें शायद भिन्न संस्कारों से संपृक्त होना पड़ेगा, किंतु आज नयी कविता में टेंपर भी एक प्रकार की रूढ़ि बन कर रह गया है और जिन्हें हमारी पीढ़ी सहज समझती है, वे भी किसी भी विशिष्ट से कम नहीं हैं:

जीवन के सहज आवेगों में
गिरि-शिखर पर
तेजोमय प्रकाश में
सीमाएँ तोड़ कर खड़े हों
एक दूसरे को फिर से पहचानें
आओ उठो हम तुम सूर्योदय देखें।
(—सूर्योदय, पृष्ठ ३२)

'आवेग', 'सहज' और 'गिरि-शिखर' में वही छायावादी रूढ़ि, 'तेजोमय प्रकाश' में विशिष्टता के प्रति वही आग्रह, 'सीमाएँ तोड़ कर' में वही पुरानी विद्रोह-मुद्रा, 'एक दूसरे को पहचानें' में वही व्यामोह और फिर यह सब करने के लिए वही 'आमंत्रण'—आओ, उठो, देखें—सारा का सारा मात्र मुद्रा बन कर रह जाता है; वही मुद्रा, जिससे हम इतने दिनों से परिचित हैं।

एक दूसरी कविता है 'हेमंत की संध्या'। उसमें भी सर्वेश्वर को सघन वृक्ष-राशि को हटा कर एक तारा देखने के लिए विवश होना पड़ता है। वे उसी बिंब के उलझाव में 'सारे दृश्य को सन्नाटे की दीवार पर उल्टी बाँसुरी-सा लटका' देखते हैं, और यह आवश्यकता पड़ती है कि वह किसी भी सहज छायावादी की भाँति पूछें :

कहाँ हैं वे हवाएँ
जो सौंदर्य को चंचल कर जाती हैं
और प्यार को मुखरित ?

और तब उन्हें लगता है कि संध्या एक विवश परकीया है और विवशता भी ऐसी है कि :

हेमंत की संध्या
आदिम अधरों पर
सुलग कर बसंत की बन जाती हैं
(—हेमंत की संध्या, पृष्ठ ३३)

सर्वेश्वर वास्तव में एक विशिष्ट प्रकार के रागात्मक ऐश्वर्य के प्रतिनिधि कवि हैं। हमारी पीढ़ी के वे ऐसे प्रतिनिधि हैं जिनमें विगत के प्रति मोह और गुस्सा दोनों समान रूप से मिलता है। यह सही है कि हमारी पीढ़ी में यह एक विचित्र मिश्रण रहा है जो शायद हमसे पहले की पीढ़ी में तो नहीं ही था, जो आ रही है उसमें भी नहीं होगा। कोई भी तटस्थ इतिहासकार हमारी पीढ़ी का मूल्यांकन करते समय, संभव है, हमारी इस ट्रेजेडी का सही आकलन कर पाये या न भी कर पाये, पर यह सत्य है कि जो विचित्र स्थिति हमारी पीढ़ी ने भोगी है, वह इतिहास में और कभी नहीं आयगी। हम 'ड्रामा' के सक्रिय पात्र नहीं थे, किंतु यह भी सत्य है कि आज हमारे देश में जो कुछ भी हो रहा है, और स्वतंत्रता के पूर्व जो कुछ भी होता रहा है, उसके हम ऐसे साक्षी रहे हैं जिसे घुट-घुट कर रहना पड़ा है। हमारे पूर्वजों में से अधिकांश मेलोड्रैमेटिक थे। हमने उनका मेलोड्रामा देखा है और एक अरसे तक उनके मेलोड्रामे को सही माना है और उनकी अभिनीत यातनाएँ—जो उनके लिए मात्र मुद्राएँ थीं—हमारे ऊपर संपूर्ण अभिशाप बन कर छा गयी हैं। ड्रामा समाप्त होने के बाद उन्होंने अपने-अपने चेहरे और मेक-अप उतार फेंके और हम हतप्रभ-से देखते रहे। हमारी ईमानदारी यह रही कि हम भोगी हुई उस रागात्मक अनुभूति को झुठला नहीं सके, लेकिन साथ ही हमारी विवशता यह रही कि उनके उतरे हुए चेहरों से हम आज तक जुड़ नहीं पाये। सर्वेश्वर की कविताओं की सफलता और असफलता भी इसी विशिष्ट स्थिति में बिखरी-बिखरी-सी लगती है। जब वे कहते हैं :

निडर आगे बढ़ो
तुम्हारी राह में यह एक छोटा-सा
बाँस का पुल है।

—तो हमारे सामने संपूर्ण स्थिति का पूरा बोध स्पष्ट हो जाता है। वह जान-बूझ कर इस छोटे-से बाँस के पुल पर चढ़ने और बढ़ने को विवश है। इसीलिए हमारी पीढ़ी को एक साथ दो व्यंग्य-स्थितियाँ भी भोगनी पड़ती हैं और तब सर्वेश्वर जैसे कवि के मन में जो व्यथा-पीड़ा है, वही उनकी रागात्मकता का ऐश्वर्य बन जाता है और वे बार-बार कह पड़ते हैं :

जब-जब सिर उठाया
अपनी चौखट से टकराया
मस्तक पर लगी चोट
मन में उठी कचोट
अपनी ही भूल पर मैं
बार-बार पछताया

और यह व्यंग्य तीखा तब हो गया जब :

शीश झुका आओ बोलीं
भीतर की दीवारें
दोनों ही ने मुझे
छोटा करना चाहा
बुरा किया मैंने
जो यह घर बसाया

(—जब-जब सिर उठाया, पृष्ठ २१)

सर्वेश्वर की इन कविताओं में अपने युग की वास्तविक पीड़ा और उसका व्यंग्य अपने सही रूप में व्यक्त हुआ है। किंतु क्या वास्तविकता को सही-सही व्यक्त करना काव्य का आदर्श है या परिवेश के संदर्भ से संपृक्त सार्थक अभिव्यक्ति और अनुभूति की गहराई, कवि का धर्म है? हर अच्छी कविता वास्तविकता के अतिरिक्त भी कुछ होती है जो वास्तविकता को अर्थ देती चलती है या उस अतिरिक्त के संदर्भ में वास्तविकता का अर्थ सार्थक हो जाता है। सर्वेश्वर के साथ कठिनाई यह है कि वे भोग के क्षणों में तटस्थ नहीं रह पाते। 'यह दर्द मैं किससे कहूँ' कविता में जहाँ यह थोड़ी-सी तटस्थता व्यक्त हो पायी है, रचना का मूल्य भी बदल गया है। यद्यपि इस कविता में भी उत्कंठा उतनी ही तीव्र है और उस उत्कंठा में नाटकीयता का दबा हुआ स्वर भी है, लेकिन अनुभूति की गहराई और परिवेश के संदर्भ उसे महत्व प्रदान कर देते हैं। सर्वेश्वर की परेशानी यह है कि वह बहुत कुछ कहना चाहते हैं—शायद वह भी जो उनके पास नहीं है—जैसा उन्होंने कहीं लिखा है :

मैं देना चाहता हूँ
वह ही नहीं जो मेरे पास है
बल्कि वह भी जो आने वाली
शताब्दियों में मेरे पास होगा
लेकिन होंठ काट कर रह जाता हूँ।

यदि देखा जाय तो शायद सर्वेश्वर की वास्तविक मानसिक स्थिति यही है—वे अनुभूति को नहीं भोगते, लगता है अनुभूति उन्हें भोग कर चली जाती है; स्थितियों को वे नहीं भोगते, स्थितियाँ उन्हें भोग कर चली जाती हैं। 'यह दर्द मैं किससे कहूँ' में भी यही भाव-स्थिति है। वरन वे उनसे कहती हैं "कि तुम एक अंधे गूंगे बहरे शिला-खंड हो" और शायद यह अनुभूति उन्हें कहीं पीड़ित कर जाती है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से इस संग्रह में संकलित कविताएँ शायद आज से दस वर्ष

पुरानी हैं। आज से दस वर्ष पूर्व जिन विषयों पर छायावादी और नयी कविता के समर्थक समान रूप से लिख कर अपनी-अपनी सीमाओं और संभावनाओं का परिचय देते थे, वही विषय इस काव्य-संग्रह में प्रधान रूप से मुखरित हुए हैं। 'स्मृति', 'पूर्णिमा प्यार', 'साँझ होते ही', 'वसंत-स्मृति', 'बाढ़', 'सूरज', 'साँझ—एक चित्र', 'सूर्योदय', 'हेमंत की संध्या', 'संध्या : प्रश्नोत्तर', 'आये महंत वसंत', 'जाड़े की धूप', 'मेघ आये', 'वसंत की शाम' आदि विषयों पर पंत जी ने उतना ही लिखा है जितना सर्वेश्वर ने और शायद इन खंड-विषयों पर आगे भी बहुत लिखा जायगा, किंतु बहुत लिखे जाने से ही विषय महत्वपूर्ण नहीं हो जायगा। विषय महत्वपूर्ण तब होगा जब हम इन विषयों को नये अर्थ-संदर्भों से जोड़ सकें। सर्वेश्वर की विवशता यह है कि वे इन विषयों को किसी नयी अनुभूति से जोड़ नहीं पाते। यदि समस्त कविताओं के शीर्षकों को देखा जाय तो लगेगा कि बहुत-कुछ ऐसा है जो सर्वेश्वर की अनुभूतियों में बार-बार घटित होता है। और यह दो प्रकार से घटित होता है। एक तो मात्र विषय, जैसे ऋतु-वर्णन; और दूसरा, एक ऐसी व्यथा और विवशता जिसके सम्मुख वे दाँत काट कर रह जाते हैं, जैसे दिवंगत पिता के लिए व्यथा। दिवंगत पिता के प्रति कविता नितांत वैयक्तिक होते हुए भी अनुभूति की गहनता और भावुकता के बीच उलझ कर सार्थक संभावनाओं की कसौटी पर उतनी खरी नहीं उतर पायी है जितनी कि चाहिए थी। ठीक यही दशा 'यहीं कहीं कच्ची सड़क थी' शीर्षक कविता में भी चरितार्थ हो गयी है। एक अच्छी बात और एक अच्छी कविता, एक अच्छी सूझ और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के बीच कई ऐसी स्थितियाँ होती हैं जिन्हें यदि तटस्थ हो कर नहीं भोगा जाता तो अच्छी से अच्छी संभावना को वह किसी सीमा तक कुंठित कर देती है। हमारी अपनी पीढ़ी को—जिसमें स्वयं मैं भी हूँ और सर्वेश्वर भी—जिस व्यंग्यात्मक स्थिति का दर्द है उसे मुद्रा, बिंब और चीख की सीमाओं को पार कर के एक नये धरातल पर—शायद संतुलन के धरातल पर, तटस्थता के धरातल पर—आना चाहिए। अज्ञेय से ले कर तीन सप्तकों तक की कविता हमारी गत पीढ़ी के मेलोड्रामा की प्रतिक्रिया में कहीं मसोसी हुई अनुभूतियों के बीच झूलती रही है। पंत, निराला, बच्चन ने जिस अतिरंजना को जिया है, अज्ञेय ने उसी को अधिक अनुशासित हो कर भोगने की चेष्टा की है। तारसप्तक के कवियों ने भी उस अतिरंजना को स्वस्थ अनुशासन में बाँधने का प्रयास किया था, किंतु अब शायद अनुशासन की माँग मात्र प्रतिक्रिया में करना उचित नहीं होगा। हमें उस प्रतिक्रिया की व्यग्रता को अब एक नये दिशा-बोध के मर्म तक ले जाना होगा और वह मर्म मात्र आकार का मोह नहीं है वरन एक थिरायी हुई अनुभूति की व्यवस्था का मर्म है। सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, कुँअर नारायण और इसी प्रकार की भावधारा को वहन करने वाले नये कवियों से अब इसकी अपेक्षा करना शायद अनुचित भी नहीं होगा।

एक बात इस संदर्भ में यहाँ स्पष्ट करना असंगत न होगा और वह यह कि जब मैं सर्वेश्वर की कविताओं के विषय में प्रस्तुत आलोचना करता हूँ तो मेरी दृष्टि में वर्तमान नयी कविता की अच्छी कविताओं के समकक्ष उन कविताओं को रखने में कोई संकोच नहीं है। शायद अधिकांश लोग इन कविताओं को अच्छी ही नहीं, उत्कृष्ट भी मानेंगे। मुझे उससे भी

शिकायत नहीं है। मुझे सर्वेश्वर के उस प्रयोगशील व्यक्तित्व से शिकायत अवश्य है जो संभावनाओं को नये संदर्भ देने में सदैव से सचेत रहा है। अच्छी कविता और ताज़ी कविता, अच्छी अनुभूति और नयी अनुभूति में जो अंतर है वही अंतर सर्वेश्वर की प्रस्तुत कविताओं और नयी अनुभूति में है।

सर्वेश्वर की कविताओं को पढ़ कर एक और बात मेरे दिमाग़ में आयी और वह यह कि क्या अब नयी कविता उस मोड़ पर नहीं पहुँच चुकी है जहाँ उसे बिंबों और प्रतीकों के माध्यम को छोड़ कर सर्वथा नयी व्यवस्था देनी चाहिए? अभी पिछले दिनों नयी कविता पर एक जागरूक समीक्षक और हिंदी के नये कवि से बात करते-करते यह स्वतः भासित हो गया कि नयी कविता अब आज के संदर्भ में काफ़ी हद तक रूढ़ि और रीति में फँस गयी है। यदि इस रूढ़ि और रीति का विश्लेषण करें तो हमें सहज ही यह पता चल जायगा कि आज की कविता मुख्यतः बिंबों और प्रतीकों के जंगल में उलझ कर अपनी समस्त संभावनाओं को कहीं कुंठित करती जा रही है। सर्वेश्वर का प्रस्तुत काव्य-संग्रह यदि आज अच्छी कविताओं का संग्रह बन कर रह जाता है तो फिर नयी कविता के भविष्य के बारे में कुछ नये सिरे से सोचने की आवश्यकता है। अच्छी कविताओं का उद्देश्य निर्धारित सीमाओं का निर्वाह होता है। ताज़ी कविताओं की सर्वथा अछूती अभिव्यक्तियों में हो सकता है, निर्धारित सीमाओं का निर्वाह न हो पाया हो, किंतु यदि वे उन सीमाओं को तोड़ कर कुछ आगे बढ़ी हुई हों—चाहे वह कुछ ग़लत ही क्यों न हो—तो शायद अधिक सार्थक होंगी। यह सार्थकता कला की दृष्टि से भी स्वस्थतर होगी क्योंकि शायद उससे नयी संभावनाओं का मार्ग निकल सकेगा।

कहा जा सकता है कि 'बाँस का पुल' काव्य-संग्रह को ऐसे उद्देश्यों से मूल्यांकित किया जा रहा है जो उसका उद्देश्य नहीं है। कहा जा सकता है कि 'बाँस का पुल' की कविताएँ 'बहुचर्चित' हैं, पुरानी कविता-शैली और नयी काव्य-शैली की मान्यता स्वीकार करने के लिए 'मज्झिम निकाय' की कविताएँ हैं किंतु मैं समझता हूँ, यदि ये दोनों बातें सही भी हों तो भी, यह कोई ऐसा भी प्रयास नहीं है जिसके कारण हम नयी कविता की संभावनाओं पर विचार न करें। वस्तुस्थिति यह है कि सर्वेश्वर के इस संग्रह में ताज़गी नहीं है, और ताज़गी न होने से आभिजात्य-गुण भी नहीं है

—लक्ष्मीकांत वर्मा
सरयू कुटीर, मधवापुर,
इलाहाबाद।

आदमी का ज़हर

लक्ष्मीकांत वर्मा का ध्वनि-नाट्य। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। १९६३। मूल्य : ३.००।

लक्ष्मीकांत वर्मा की दृष्टि वर्तमान जीवन-बोध के दुहरे रूपों और उनके बीच पनपने वाले विरोधाभासों को अनावृत करने, उनके संघर्षों को प्रस्तुत करने और उनकी विषमताओं में निहित व्यंग्य एवं करुणा को झेलने वाली दृष्टि है। यथार्थ पर उनका आग्रह है, और जीवन-सत्यों के पैटर्न को उनकी समग्रता में ही अभिव्यक्त करना उनकी सृजनात्मक नियति है, और लाचारी भी। वस्तुतः इस 'समग्रता' को आँकने का प्रयास ही इन नाटकों की रचना की प्रेरणा-भूमि रही है (भूमिका), क्योंकि कविता-कहानी

माध्यम की अपेक्षा नाटक में अनेक विंदुओं से जीवन-पैटर्न को अभिव्यक्त करने की सुविधा रहती है। यहाँ 'सुविधा' शब्द का प्रयोग मैं जान-बूझ कर कर रहा हूँ, क्योंकि यह मानते हुए भी कि नाटक अपेक्षाकृत अधिक वस्तुपरक होने के कारण जीवन-सत्य की समग्रता का अंकन कर सकता है, प्रस्तुत कृति के अनेक नाटकों के संदर्भ में यह मानने के लिए मैं पूरी तरह से आश्वस्त नहीं हो सका हूँ कि लेखक ने इस माध्यम का चुनाव संपूर्ण कलात्मक सचाई के साथ किया है। जीवन-स्थितियों से उपजे वस्तु-सत्यों की नाटकीय अवधारणा ही वह सीमा है जो नाटक को कविता-कहानी से अलग करती है, पर इसलिए कविता-कहानी जीवन-पैटर्न की 'समग्रता' को वहन करने में असमर्थ हो जाती हैं—ऐसा मानने का कोई तर्कसंगत कारण मुझे दिखायी नहीं देता। यदि प्रस्तुत कृति के लेखक के संपूर्ण सृजनात्मक लेखन पर एक दृष्टि डाल सकने की अनुमति हो, तो मैं कहूँगा कि जहाँ तक उस 'समग्रता' का प्रश्न है, मुझे उसकी कविता-कहानी और नाटक में कोई तात्विक अंतर नहीं दिखायी देता—उसकी कविता परिवेश की व्यापकता, और आकार-प्रकार में भी, अनुभूति और व्यंजना के अनेक विंदु एक साथ रख सकी है। (कुछ पाठकों को यहाँ श्री गजानन माधव मुक्तिबोध का ध्यान अनायास हो आ सकता है।) दरअस्ल नाटक और अन्य विधाओं का आपसी अंतर मात्रापरक न हो कर गुणात्मक है। इस दृष्टि से मुझे लगता है कि नाटक-माध्यम के चुनाव में लेखक को उस सीमा का, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया, सजग बोध नहीं है।

प्रस्तुत रेडियो-नाट्य संकलन में पाँच नाटक संग्रहीत हैं—'आदमी का ज़हर', 'उस रात के बाद', 'आकाशगंगा की छाया में', 'रबर का बबुआ' और 'परतों की आवाज़'। इनका स्वर व्यंग्य का स्वर है। 'आदमी का ज़हर' तथा 'रबर का बबुआ' में यह व्यंग्य अपेक्षाकृत अधिक प्रखर एवं ओजस्वी रूप ग्रहण कर लेता है। वास्तव में लेखक का व्यंग्य-बोध अत्यंत जागरूक और तीव्र है, जिसके कारण रचना के स्तर पर उसके संपूर्ण संवेदनात्मक अनुभवों में एक प्रकार का असाधारण तनाव परिलक्षित होता है। यह असाधारण तनाव उसकी अभिव्यक्ति को चुटीली बनाता है, उसके व्यंग्यों में निहित आशय को मार्मिक और सटीक बनाता है। पर इसके साथ ही, वह उसे वैसा करने को अधिक से अधिक प्रेरित करता है, शायद अनजान में ही वह अतिरेक की ओर बढ़ता है। लगभग एक ही रंग के दो नाटकों—'आदमी का ज़हर' और 'रबर का बबुआ'—की तुलना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। दोनों ही नाटकों में सामाजिक व्यंग्य-विपर्यय की स्थितियों को केंद्र में रखा गया है, जिसके पार्श्व में व्यक्तिगत जीवन का लघु परिवेश भी एक छोटे जीवंत दायरे के समान स्थित है। अंतर केवल यह है कि जहाँ 'आदमी का ज़हर' में लेखक की अद्‌भुत कला-संयोजना द्वारा दोनों ही पक्ष कलात्मक संवेदना के स्तर पर एक-दूसरे में संघटित हो कर नाट्य-संवेदना का नया अर्थ व्यंजित कर सके हैं, 'रबर का बबुआ' में यह संघटन विषय-वस्तु के प्रति एकपक्षीय संवेदनात्मक दबाव के कारण बिखर गया है, यद्यपि शिल्प की दृष्टि से यह किसी हद तक 'आदमी का ज़हर' के उलझाव से अपने को बचा ले गया है। एक का व्यंग्य जीवन-सत्य की नाटकीय स्थितियों से उत्सर्जित लगता है, दूसरे का आरोपित और सपाट। पात्रों और

संवादों के टोन की विविधता किसी हद तक 'आदमी का ज़हर' में है, पर 'रबर का बबुआ' में 'लाइट ऐंड शेड' के ताने-बाने का प्रायः अभाव ही है। वह 'असाधारण तनाव' और उससे उपजे तीखेपन दोनों ही में समान होते हुए भी एक में सूक्ष्म कला-विवेक की तरिणी लेखक को (और पाठक को भी) क्षुब्ध अनुभूति-सागर के पार किसी दिशा-संकेत तक ले जा सकी है, और दूसरे में अतिरेक से उत्पन्न व्यंग्य-प्रभावों में ही लेखक और पाठक भरमे रह जाते हैं। ('रबर का बबुआ' के अंत में नयी रोशनी के तिलमिलाने की बात 'बड़े बाबू' के मुँह से मात्र प्लैटिट्यूड के स्तर पर व्यक्त लगती है: एक सुंदर भरत-वाक्य की तरह!) 'रबर का बबुआ' का व्यंग्य उस अतिरेक के कारण ही स्पष्ट हो गया है। लेखक ने अपने पात्रों को इतना अधिक सचेत बना दिया है कि वे स्वयं गाहे-ब-गाहे उस व्यंग्य की डुग्गी पीटते चलें—नाटक में केवल कुछ देर ही को आने वाले बच्चे तक व्यंग्य की वयस्क भाषा बोलते हैं! परिणाम यह होता है कि उसमें अभिव्यक्त व्यंग्य पाठक को जीवन के उन विरोधात्मक स्तरों के भीतर अंतर्दृष्टि देने—और मेरे विचार से यह स्थिति अधिक तटस्थ एवं नाटकीय द्वंद्व की संभावनाओं से युक्त होती—के बजाय ऊपर ही ऊपर रह जाता है—शब्द बहुल, पर चुभती हुई मार्के की बात की तरह।

लेखक की विषय-संवेदना और उसके प्रति उसके नाटकीय एप्रोच को समझने के लिए मैंने इन दो नाटकों की किंचित विस्तार से चर्चा की, वह इसलिए भी कि उन दोनों ही में लेखक रेडियो-नाट्य-शिल्प का निर्वाह अपेक्षाकृत सफल रूप में कर सका है। संग्रह के अन्य तीन नाटकों में लेखक ने समस्याओं को व्यक्तिगत जीवन के परिवेश से उठाया है। उसकी यथार्थान्वेषिणी दृष्टि इस परिवेश के भीतर भी मानव-जीवन के उन्हीं विरोधाभासों तक पहुँची है, या उन्मुख हुई है, जो 'आदमी का ज़हर' तथा 'रबर का बबुआ' में है। पर इन नाटकों में अर्थ-व्यंजना का वातावरण निर्मम व्यंग्य का उतना न हो कर मानवीय करुणा और उसके साथ अनिवार्य रूप से जुड़े विपर्यय का अधिक है। लेखक की व्यंग्य-दृष्टि को वहन करने वाला एक न एक पात्र इनमें अवश्य रहता है, पर कुल मिला कर प्रभाव की दृष्टि से इन नाटकों का स्वर आत्मनिष्ठ, आत्मीय एवं भावना-प्रेरित है। इसीलिए यथार्थ मूल्यों पर बल देते हुए भी इन नाटकों में अभिव्यक्ति की तटस्थता एवं अनुभूति-सत्यों की निर्वैयक्तिकता उस सीमा तक नहीं आ पायी है जैसा कि 'आदमी का ज़हर' और 'रबर का बबुआ' में। यह अपने आप में कोई दोष तो नहीं, पर इससे कहीं-कहीं लेखक यथार्थ की निर्मम चेतना और भावना-प्रेरित स्वप्निलता के बीच घपला पैदा कर देता है। . . .

इसीलिए इन शेष तीन नाटकों—'उस रात के बाद', 'आकाशगंगा की छाया में' तथा 'परतों की आवाज़'—में दो समान तत्व और हैं: अयथार्थता (फ़ैंटेसी?) और भावुकता। यथार्थ की तीव्र चेतना के साथ अयथार्थता और भावुकता का होना अजब लग सकता है, पर लक्ष्मीकांत वर्मा की विशिष्ट रचनात्मकता के साथ मुझे यह स्वाभाविक ही लगता है। जीवन के खोखले आकारों और ध्वस्तमान मूल्य-चेतना के रिसते नासूरों के खूब भीतर तक पैठ जाने वाली उनकी दृष्टि यथार्थ अनुभूतियों के तनावों को एक बिंदु पर संवहित कर पाने में असमर्थ-सी हो जाती है। उनका पाठक उनकी भोगी हुई

तल्ख़ अनुभूतियों की भीड़ में अपने को भटकता हुआ पाता है, इधर स्वयं लेखक महोदय संवेदना के स्तर पर जीवन की व्यंग्य-स्थितियों और उनके मार्मिक संदर्भों से अधिकाधिक संपृक्ति ढूंढने और उन्हें तद्वत प्रस्तुत कर उनसे मुक्त हो लेने के प्रयास में ही संलग्न दीखते हैं। क्लासिकी कला-दृष्टि की चयनधर्मिता (अतिरेक के स्थान पर) और निर्वैयक्तिकता (संपृक्तता के स्थान पर) से—जिसे मैं आधुनिकता की मूल दृष्टि के निकट पाता हूँ—उन्हें संभवतः परहेज़ है। उनसे कहीं उन्हें अपने 'कैलस' हो जाने का भय तो नहीं? बहरहाल, इससे होता यह है कि अनजान में ही लेखक अभिव्यक्ति में उन दो तत्वों (अयथार्थता और भावुकता) को प्रश्रय देने लगता है। ये तत्व उसकी यथार्थ-चेतना के विरोध में नहीं पड़ते, यदि किसी से उनका विरोध है तो उस क्लासिकी निर्वैयक्तिकता और संतुलन से ही। इसीलिए भी इन तमाम नाटकों की संवेदना अपने यथार्थ-बोध में इतनी ही सशक्त, मार्मिक और विशद है, यद्यपि श्रेष्ठ कला की जो बिना शर्त वाली विश्वसनीयता होती है, उसका निर्वाह लेखक नहीं कर पाता। अतः कलात्मक स्तर पर इन नाटकों का व्यंग्य-विद्रूप प्रभावशाली और वैदग्ध्यपूर्ण होते हुए भी कहीं-कहीं पार्टिज़न लगने लगता है।

रेडियो-नाटक माध्यम की अमूर्तता और तीव्र संवेदनापेक्षिता संग्रह के कुछ नाटकों में अयथार्थता और भावुकता वाले तत्व के लिए अक्सर फिसलाऊ साबित हुई है। मंच-नाटक के ठोस उपकरण संवेदनागत किसी भी अतिरेक को इतना मुखर बना देते हैं कि उसे अलग से पहचाना जा सकता है। परंतु रेडियो-नाटक में प्रायः वह एक वातावरण, कोमल भावनाओं की अनुगुंज बन कर ही आता है। इस वातावरण को प्रतीकात्मक स्तर पर भी झेला जा सकता है, और रेडियो-नाट्य-लेखक की सावधानी से यह नाटक की वस्तु-संवेदना में संघटित हो कर अर्थ-परिधि का विस्तार भी कर सकता है। 'आदमी का ज़हर' में स्थानीय रेडियो की कुछ-कुछ अतिरंजित-सी लगने वाली उद्घोषणाओं और कुत्ते को काट खाने वाले व्यक्ति (नाटक के आलेख में उसे 'पुरुष-स्वर' कहा गया है) के साहित्यिक प्रलापों को वास्तविकता की तुला पर तौलने से नाटक के प्रभाव और उसकी संवेदना को समझने में बाधा हो सकती है, पर जहाँ इनकी 'अयथार्थता' कुशल संयोजन से नाटक को शक्ति प्रदान कर सकी है वहीं 'परतों की आवाज़' में मैनहोल के भीतर से रह-रह कर साफ़ सुनायी पड़ती मि० जैक्सन की आवाज़ की 'अयथार्थता' नाटक के अंत में, जहाँ मि० जैक्सन को सात दिन के बाद अकल्पनीय रूप से मैनहोल के बाहर निकाल कर कमरे के बीच पहुँचा दिया गया है, नाटक की अर्थ-गर्भिता और प्रतीकात्मकता को नष्ट करने के साथ संपूर्ण नाटक को ही एक मज़ाक बना देती है। 'रबर का बबुआ' की तरह यहाँ भी मि० जैक्सन को रोशनी मिलती है, पर उस रोशनी का अर्थ उस मज़ाक से भिन्न अर्थ नहीं रखता। इसके अतिरिक्त, 'परतों की आवाज़' के ऊपर एक प्रकार की रोमानी तंद्रिल भावुकता छायी रहती है, और लेखक द्वारा व्यंग्य के स्वर को उभारने की चेष्टा के बावजूद भी भावुकता का प्रभाव घना ही रहता है। 'उस रात के बाद' एक निहायत उलझा हुआ नाटक है और व्यंग्य की दो-चार झलकियों के बावजूद (जो सिर्फ़ चुभते संवादों तक ही सीमित है) वह भी उसी रोमानी भावुकता से ग्रस्त है।

'आकाशगंगा की छाया में' में प्रेम-समस्या

के चतुष्कोण की रोमानी स्थिति होते हुए भी रेडियो-शिल्प के कुशल प्रयोग द्वारा अतीत और वर्तमान मूल्यों के विरोधाभास को सफलतापूर्वक प्रदर्शित करने की चेष्टा की गयी है, यद्यपि इसमें यथार्थ की रेखाएँ रोमानी परिवेश से उत्पन्न भाव-व्याकुल वातावरण से पूरी तरह उभर नहीं पायी हैं। अंत भी लेखक के उद्दिष्ट व्यंग्य को उभार नहीं पाता। परंतु अतीत मूल्यों की विडंबनाओं में जीने वाले मधु, शिरीष, शशि आदि पात्रों की अवसादग्रस्त दुविधापूर्ण चेतना की परतों को खोलने के लिए लेखक द्वारा फ़्लैशबैक विधि का प्रयोग अपने आप में एक संकेतात्मक अर्थ ग्रहण कर सका है। 'परतों की आवाज़' और 'उस रात के बाद' में भी फ़्लैशबैक का प्रयोग हुआ है। फ़्लैशबैक का प्रयोग मेरे विचार से नाट्यसंवेदना को तीव्रतर बनाने के लिए किया जाना चाहिए, परंतु, 'उस रात के बाद', 'परतों की आवाज़' और कुछ अंश तक 'आकाशगंगा की छाया में' में भी लगता है वह महज़ घटनाओं के प्रस्तुतीकरण के लिए हुआ है। इन नाटकों में घटनाएँ 'नैरेट' की गयी लगती हैं, कोई भी घटना-स्थिति औत्सुक्य जाग्रत नहीं कर पाती, और नाटक की गति भी सपाट प्रतीत होती है। ऐसा या तो फ़्लैशबैक पर अधिक भरोसा करने से हुआ है, अथवा नाटकीय अवधारणा की कमी से, या संभवतः दोनों ही कारणों से।

'आदमी का ज़हर' और संग्रह के अन्य नाटक लक्ष्मीकांत वर्मा की शक्ति एवं कमज़ोरियों को एक साथ रखने के अतिरिक्त उनकी सृजनात्मकता की विशिष्ट समस्याओं को जिस रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं, उनमें रुचि लेना हिंदी नवलेखन की समस्या एवं उसके दिशाबोध के परिप्रेक्ष्य में मुझे अत्यंत संगत जान पड़ता है। इस दृष्टि से लक्ष्मीकांत वर्मा के ये नाटक एक क़ीमती दस्तावेज़ के रूप में आते हैं। सशक्त यथार्थ-बोध और मूल्यान्वेषण की तीखी चेतना और सब-कुछ को समेट पाने की महत्वाकांक्षा तथा एक पूर्ण विकसित आधुनिक दृष्टि की निर्मम तटस्थता, सहज निर्वैयक्तिकता और कलात्मक संघटन की खोज के मध्य लक्ष्मीकांत की संवेदना असमंजस में पड़ी हुई है। उनकी रचनाएँ उस असमंजस से ही उपजती हैं, इसीलिए वे पाठक के भावयंत्र को झनझनाती तो हैं परंतु कोई दिशा नहीं दे पातीं। नाटक आज के भावबोध और उसकी दिशा-संभावनाओं को वहन करने वाला, कविता से अधिक प्रशस्त माध्यम है, पर उसकी शक्ति का उपयोग करने के लिए (शायद पहचानने के लिए भी) उस असमंजस से उबरना आवश्यक है जिसमें आज नयी पीढ़ी के अधिसंख्य लेखक-कलाकार पड़े हुए हैं। विवशतावश चुना गया कोई माध्यम, चाहे वह कविता हो या नाटक, उस माध्यम की विशिष्ट नियति एवं 'इंटिग्रिटी' के संदर्भ में कृतिकार के असामर्थ्य और अनुत्तरदायित्व का ही सूचक माना जायगा।

—मलयज
१४७ मोहतशिमगंज,
इलाहाबाद-३।

प्रतिपत्तिका

संकटकाल और लेखक

कई समाचारपत्रों ने अपने अग्रलेख में वर्तमान राष्ट्रीय संकट में लेखकों के योगदान पर विचार किया है। यहाँ हम यह चाहेंगे कि उन बुनियादी प्रश्नों को उठाएँ जो इस संदर्भ में मेरी समझ में आवश्यक हैं।

पहला प्रश्न स्वतः यह उठता है कि 'क्या युद्धकाल में महान् साहित्य की रचना संभव है ?' इस संबंध में इतना तो निश्चयात्मकता से कहा जा सकता है कि जिस समय लोग लड़ाई में लगे रहे हैं ठीक उसी समय लेखकों ने शायद स्थायी महत्व के साहित्य की रचना नहीं की है। यह आज के भारतीय लेखकों के दायित्व के संबंध में एक विचारणीय तथ्य है। साथ ही यह भी तथ्य रहा है कि युद्धकाल में हिंदी ही में नहीं, अन्य साहित्यों में ऐसे कवि और लेखक रहे हैं जो युद्ध-क्षेत्र तक में साथ गये हैं।

दूसरा प्रश्न 'संकल्प' (कमिटमेंट) का उठाया गया है। कुछ लोग 'कमिटमेंट' का अर्थ यह लगाते रहे हैं कि लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह राष्ट्रीय कविताएँ या राष्ट्रीय कहानियाँ अनिवार्य रूप से लिखें। यहाँ यह स्पष्ट कर देना मैं जरूरी समझता हूँ कि 'संकल्प' लेखक का व्यक्तिगत सवाल है। यह लेखक को साहित्य-रचना के लिए बाध्य करने के तर्क के रूप में नहीं अपनाया जा सकता है। यद्यपि, यह सही है कि मानवीय मामलों से संबंध रखने वाली समस्याओं पर आधारित लिखी गयी कृतियों की प्रेरणाओं में लेखकों का सक्रिय योगदान था, लेकिन इस बात को लेखकों के लिए कविताएँ या कहानियाँ लिखने के लिए बाध्य करने का एक अंकुश नहीं बनाया जा सकता। एक-दलीय शासन-तंत्र वाले देशों में मजबूर किये जाने पर लेखक केवल हीन कोटि का साहित्य लिख पाये हैं।

अतः अब यह प्रश्न उठता है कि फिर आखिर लेखक करें क्या ? यह सभी को विदित है कि प्रगतिशील आंदोलन के युग में (मेरा मतलब उस आंदोलन के उत्तर-काल से है) लेखकों को लगभग बाध्य कर के साहित्य लिखवाया गया था—ऐसा साहित्य जो महत्वहीन हो गया है।

पुन: ऐसी ही स्थिति को दुहराना कदापि विवेकपूर्ण नहीं होगा और न ऐसी परिस्थिति आज है कि पुन: उसे दुहराया जा सके, लेकिन यहाँ मैं उस 'राष्ट्रीय साहित्य' की ओर अवश्य संकेत करना चाहूँगा जो दैनिक पत्रों में प्रकाशित होता रहा है, बहुत-कुछ रेडियो से भी प्रसारित होता रहा है और जिसका रचनात्मक स्तर वही ठुका-पिटा प्रगतिशील आंदोलन के समय का साहित्य था। उसमें कुछ अपवाद भी थे लेकिन वे अपवाद इस तथ्य को नहीं झुठला सकते कि नासमझी और एक व्यापक मानवीय दृष्टि के बिना, आज की परिस्थिति में कुछ भी सशक्त कह सकना संभव नहीं था। यदि कुछ लोग घबरा गये हों कि कहीं फिर से हीन-राष्ट्रीय साहित्य का जन्म होने वाला है तो मैं उनकी घबराहट समझ सकता हूँ।

इसके पूर्व कि अन्य प्रश्नों का मैं ज़िक्र करूँ, मैं अपनी सारी बात को निष्कर्ष के रूप में यों कह दूँ कि सैद्धांतिक रूप से लेखक के ऊपर दबाव डालना उचित नहीं है और लेखक का दबाव में आ कर विचारहीन, अति भावुक प्रलाप करना साहित्य तो नहीं है, और जो कुछ भी हो।

लेकिन, साथ ही एक और भी स्थिति आयी। कुछ लेखक भीतरी मजबूरियों से विवश हो कर सक्रिय हुए और वे आज की समस्या पर विचार करने के लिए बाध्य हुए। आज किसी लेखक के सैद्धांतिक विचार कुछ भी हों, एक बात बिल्कुल साफ़ है कि इस लड़ाई के या भारत-चीन संघर्ष के, जिसमें भारत को अनचाहे पक्षधर बनना पड़ा है, कुछ गहरे परिणाम हैं जो इस देश की ही नहीं, मानवीय मामलों की सारी दशा को कुछ सीमा तक बदल सकते हैं। लेखकों में कुछ ही ऐसे होंगे जो यह सोचते हैं कि भारत-चीन के युद्ध का मानव-नियति पर कोई असर नहीं पड़ेगा। लेखक का सरकार में विश्वास या अविश्वास यहाँ विचारणीय प्रश्न नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि क्या लेखक यह मानता है कि सार्वभौमिक मानव मूल्यों को उत्पन्न करने वाली शक्तियों की किसी भी प्रकार की क्षति से वह विक्षुब्ध है कि नहीं? सवाल यह है कि क्या आज का लेखक गहराई से इस बात को सोचता है कि भारत-चीन का मामला या इस तरह के अन्य मामले, मनुष्य होने के नाते, मानवता को एक दिशा प्रदान कर रहे हैं? मैं समझता हूँ कि वे लोग जो केवल उत्साह के बहाव में और गहरी समझ के बिना केवल बहादुरी के घिसे-पिटे गीत लिख रहे हैं, वे गहराई से सोचे जाने वाले प्रश्नों से अपरिचित हैं और साहित्य-रचना तो निश्चय ही नहीं कर रहे हैं। 'उत्साह' शब्द का मैं यहाँ पर अर्थ किसी आदर्श से प्रेरित आंतरिक तड़प के अर्थ में नहीं कर रहा हूँ।

अब मैं चाहूँगा कि इस प्रश्न को एक अन्य दृष्टि से देखा जाय और वह एक बहुत सीधा-सा प्रश्न है। वर्तमान संकट-काल में रचा गया साहित्य स्थायी होगा या अस्थायी, इस दृष्टि से मैं अब बात नहीं कर रहा हूँ। मैं यहाँ पर जिस बात पर जोर देना चाहता हूँ वह यह है कि क्या लेखक, लेखक होने के नाते, अपने को नागरिक या इन्सान होने के ऊपर समझता है? क्या उसके वे सारे दायित्व नहीं हैं जो अन्य सामान्य नागरिक या मानव-समाज के एक अंग होने के नाते उसके हैं? हम अध्यापकों से, क्लर्कों से, अफ़सरों से, मज़दूरों से, मिल-मालिकों से उम्मीद करते हैं कि वे अपने कर्तव्यों का पालन करें। तो क्या हम लेखक से इसकी अपेक्षा नहीं करेंगे कि वह भी एक नागरिक की तरह अपने दायित्व को निबाहे? यदि कोई व्यक्ति यह स्थापना करे कि आप

कवि हों चाहे न हों एक नागरिक या मनुष्य तो हैं ही, तो इस समस्या का उत्तर खास तौर से उन साहित्यिकों को तो देना अपेक्षित है जो न तो ठुके-पिटे बहादुरी के गीत लिख रहे हैं और न इस प्रश्न पर कोई चिंतन करने को ही तैयार हैं, और मन ही मन चाहते हैं कि आँधी जितनी जल्दी गुज़र जाय उतना ही अच्छा है। इस वर्ग में आने वाले कुछ साहित्यिक इस तर्क की आड़ लेते हैं कि हम लेखक हैं, पत्रकार नहीं। जिस संघर्ष में आज सारी दुनिया संलग्न है, जिसमें चीन और भारत का प्रश्न एक अंग है, उस पर विचार करना लेखक आवश्यक न समझे, यह आश्चर्य की बात है। हाँ, कुछ लेखक ऐसे हो सकते हैं जो शंकाग्रस्त हों और समझते हों कि इस सारे मसले पर पक्ष-धर होना ठीक नहीं होगा, तो उनसे मेरा यह निवेदन है कि वह अपने तर्क से न भागें और अपनी बात को स्पष्ट रूप से कहने का साहस रखें और अगर आवश्यकता पड़े तो उसका भुगतान भी दें। लेखक का यह समझ बैठना कि वह मनुष्य के ऊपर कोई एक अन्य इकाई है, एक बहुत-बड़ी भ्रांति है। हाँ, जहाँ समाज में बहुत-से वर्ग हैं, लेखक भी उसमें से एक है और वह अपने नियमों से संचालित होता है, लेकिन वे नियम मानवीयता के नियमों से अलग नहीं हैं।

सारांश में मैं यह कहूँगा कि लेखक पर राजकीय या दलीय या इसी प्रकार के अन्य प्रति-बंध लगाना उचित नहीं है और साथ ही लेखक किसी भी तरह बाध्य नहीं है कि वह इन प्रतिबंधों को आवश्यक रूप से स्वीकारे। लेकिन साथ-साथ मैं यह भी चाहूँगा कि लेखक इतने विनीत हों कि वे अपने को मनुष्य समझें और इस स्थापना से जो निष्कर्ष निकलता है उनको स्वीकार करें। सर्जना के धरातल पर वे क्या निर्णय लेंगे या क्या अभिव्यक्त करेंगे, यह उनका निजी दायरा है।

—कृष्णनारायण कक्कड़
कैसर मंज़िल, कैसरबाग़, लखनऊ।

डायरी के पृष्ठ

हिंदी रंगमंच : कुछ जिज्ञासाएँ

२५ सितंबर १९६३

. . .पूर्वाभ्यास के बाद 'हिंदी-रंगमंच' को ले कर प्रायः रोज़ बहस चल पड़ती है। एक तो मन-शरीर वैसे ही थक जाता है, और ऊपर से यह कचकचिया बहस. . . .ठीक ही है!

हिंदी-रंगमंच की स्थापना को ले कर जागरूक समाज आज बहुत चिंतित है। उसने इस सत्य को पकड़ लिया है कि रंगमंच के अभाव में संस्कृति को पूर्णता नहीं मिल सकती। किंतु अभाव की स्थिति में जो मनोवृत्ति बनती और पनपती है, वह दिशा को और भी भ्रामक बनाती रहती है। उस मनोवृत्ति के दो पहलू हुआ करते हैं। एक तो वह, जिसे कहते हैं हीन-मनोवृत्ति

जो अक़्ल रहित नकल में व्यक्त होती है, और दूसरी है—गौरव-गायन। दूसरा पक्ष इस देश में प्रबल रहा है। गौरव-गायन की बुलंदी इस सीमा पर पहुँची है कि 'पहिये का टूटा हुआ दिखायी पड़ना' भ्रम मान लिया गया है। ऐसी स्थिति में वास्तविकता को सामने लाने में बड़ी कठिनाई होती है। आधुनिकता की सबसे कष्टप्रद स्थिति यही है। जागरूक समाज इस वातावरण से व्यथित रहता है।...

३० सितंबर १९६३

...हिंदी-रंगमंच क्यों नहीं पनप रहा है? क्या परंपरा-च्युत होने के कारण? या प्रयत्नपूर्वक परंपरा की रक्षा में संलग्न रहने के कारण? जब ये प्रश्न उठते हैं तब इन्हींकी जड़ में एक और प्रश्न-चिन्ह बनता दिखायी देता है। वह यह कि आधुनिक हिंदी-रंगमंच को खाद-पानी देने लायक़ हमारे पास कोई सुलझी परंपरा है भी या नहीं?...

१ अक्टूबर १९६३

नाट्यशास्त्र और संस्कृत के विपुल नाट्य-साहित्य को सामने रख कर रंगमंच की समृद्धि की बात उठती है। प्रतिभासित ही क्यों, सत्य प्रतीत होता है कि उस पुराकाल में रंगमंच अवश्य ही समृद्ध रहा होगा। किंतु निर्दयी इतिहास कोई सिलसिलेवार ब्यौरा जो प्रस्तुत नहीं करता! ...माना कि हमारा इतिहास-लेखन एकांगी-सा रहा है। उसमें राजवंशों का ही वृत्त अधिक है। लेकिन जब किसी सीमा तक संगीत, नृत्य, चित्रकला और साहित्य का इतिहास मिल जाता है तब रंगमंच का इतिहास क्यों नहीं मिलता? कारण क्या है कि नृत्य, संगीत, चित्र और साहित्य में आचार्यत्व की जो परंपरा बनी सो गिरते-पड़ते, टूटते-फूटते, संशोधित-परिवर्धित होते-होते वह आज भी प्राप्य है, किंतु रंगमंच को आचार्य नामक संस्था क्यों नहीं उपलब्ध हुई? नाट्य का इतना बड़ा शास्त्र और, साहित्य पर रंगमंच का स्थूल रूप, 'रंगशाला' की एक ईंट भी प्राप्त नहीं! ...[कोई गुफ़ा खोज निकालने से या किसी भग्न सभा-भवन को रंगशाला सिद्ध कर देने से बहुत काम नहीं बनता।]

५ अक्टूबर १९६३

...वैसे गौरव-गायन के सामने किसी की कुछ चलती नहीं। पर मन एक बार इस प्रकार सोचने को बाध्य रहता है कि हमारे रंगमंच की मूल विद्या 'अभिनय' और 'मुद्रा' को एक ओर 'नृत्य' ने ग्रस लिया और दूसरी ओर 'रंगमंच' की 'वाणी' मौन हो कर उजागर हुई 'श्रव्य-काव्य' में। तो क्या 'रंगमंच' की इस लूट को भारतीय मन की उपलब्धि माना जाय? रसोद्रेक और रस-निष्पत्ति का रास्ता क्यों 'रंगमंच' को उपेक्षित कर ढूंढ़ा गया? इससे क्या अर्थ निकाला जाय? क्या महज़ विदेशियों के आक्रमण पर इस अवरोध को थोप दिया जाय?...अच्छा उत्तर की बात जाने दें...दक्षिण को देखें...वहाँ तो मंदिर-मंदिर और नृत्य-नृत्य!... तब? तब क्या इस बात को स्वीकार कर लिया जाय कि इस देश में सामूहिक अथवा समूह-जन्य कला के लिए जो अनुकूल मन और परिस्थितियाँ चाहिएं, वे उपलब्ध नहीं हुईं? इसके पीछे कोई नृतात्त्विक कारण हो सकता है, क्या?...

७ अक्टूबर १९६३

...इसी संदर्भ में गौरव-गायन की दूसरी पंक्ति शुरू होती है, और वह है लोकधर्मी नाट्य-परंपरा। रासलीला, रामलीला से ले कर नौटंकी-सँपेरा में नाट्य-शास्त्र की झलक देखी जाती है। झलक देखने की जिनकी आदत होती है वे झलक को ही सब कुछ मान लेते हैं। न जाने उनकी समझ में यह बात क्यों नहीं आती कि हर युग में लोकधर्मिता और शास्त्रधर्मिता एक साथ प्रवहमान रहती हैं और दोनों का पारस्परिक आदान-प्रदान भी चला करता है। किंतु दोनों एक-दूसरे को पूरी तरह से तभी स्वीकार कर पाती हैं जब दोनों में से एक अपने धर्म को छोड़ देती है। मिली-जुली खिचड़ी नहीं पकती। यदि किन्हीं कारणों से पक भी गयी तो आक्षेप का टीका भी उसी समय से चिपक जाता है, जो कभी मिटता भी नहीं। लेकिन यह एक अलग बहस है।

मूल बात तो यह है कि भारतीय लोकमानस से निःसृत आज हमारे सामने जो लोक-वाङ्मय, लोकनाट्य, लोकनृत्य और लोक-संगीत है वह अपने मूल कलेवर में मध्ययुगीन है। ऐसा मध्ययुगीन कि उसकी संगति न प्राचीन से बैठती है और न अर्वाचीन से। किंतु न जाने क्यों आधुनिकता में उसकी घुस-पैंठ कराने का आंदोलन-सा चल पड़ा है, चाहे वह ड्राइंग रूम हो या नव-नाट्यलेखन या आधुनिक रंगमंच। वैसे संगति बैठाने के भाव को बुरा नहीं माना जा सकता। मूलतः यह एक अच्छा भाव है। किंतु बीच की रिक्तता को कैसे भरा जाय? चित्र-कला के इतिहास में भरसक क्रमबद्धता है, इसलिए यामिनी राय खप सकते हैं। शास्त्रीय संगीत की भी कालानुसार उपलब्धियाँ प्रायः प्राप्त हो गयीं हैं। इसलिए शास्त्रीय संगीत और लोकधुन में सामरस्य उत्पन्न करने का प्रसिद्ध गायक कुमार गंधर्व का प्रयत्न समझ में आता है। किंतु नाट्य-रचना और रंगमंच के क्षेत्र में तो बहुत बड़ा 'वैकुअम' है। बिना उसके भरे लोकधर्मी नाट्य-परंपरा उजागर नहीं हो सकती। वास्तव में जब तक आधुनिक रंगमंच की उन्नति एक संतोष-प्रद सीमा तक नहीं हो जाती तब तक लोकनाट्य या लोकमंच को खपाने की सही विधि नहीं मिल सकती।

सत्य बात तो यह है कि प्राचीन को अर्वाचीन में रुपायित करने में और लोकधर्मिता को शास्त्र का समकक्षी बनाने में एक कड़ी शर्त रहती है। अर्वाचीन यदि सशक्त है तभी प्राचीन को नयी अर्थवत्ता दे सकता है। आधुनिकता में यदि पारंगतता है तभी वह लोकधर्मिता को नयी रस-वत्ता प्रदान कर सकती है। क्या सचाई और अधिकार के साथ आज कोई कह सकता है कि हिंदी-रंगमंच अपने तीनों आयामों—नाटक, प्रस्तुति और प्रेक्षक—के साथ सशक्त है? यदि नहीं तो लोकनाट्य और लोकमंच की बात 'रंगमंच' के संदर्भ में एक फ़ैशन मात्र है। प्रयोग के नाम पर 'ओपेन एयर थिएटर', 'एरेना थिएटर', 'बैले', रास और नौटंकी का उपयोग बड़ी साज-सज्जा के साथ किया जाता है, किंतु है वह केवल अनजाने प्रेक्षक-मन को चमत्कृत करने का साधन या किसी एक कलाकार की निजी भड़ाँस मात्र। इस विधि से रंगमंच का स्वस्थ विकास संभव तो नहीं दीखता!

[...१५ अक्टूबर से प्रस्तुति है। अब प्रस्तुति के बाद...]

२५ अक्टूबर १९६३

. . .एक बार पुनः लौटूं रंगमंच की परंपरा वाले प्रश्न पर। रस-निष्पत्ति का एक सशक्त माध्यम 'रंगमंच' उपेक्षित हुआ और फलवती हुई नृत्य-परंपरा और श्रव्य-काव्य। क्या इस उपेक्षा का कोई और अन्य कारण भी हो सकता है? एक कारण पर विचार करने को मन होता है। सामाजिकता की वह कौन-सी स्थिति होती है जिसमें रंगमंच को वैभव मिलता है? मुझे लगता है कि समुन्नत नागर जीवन ही रंगमंच को गौरव देता है। अब प्रश्न उठता है कि प्राचीन काल में क्या हमारा नागर जीवन समुन्नत था? समुन्नति और समृद्धि का इतिहास तो खूब मिलता है, किंतु नागर जीवन का इतिहास राजाओं और सम्राटों की राजधानियों तक ही सीमित प्रतीत होता है। राजाओं के वर्णन के साथ उनके कवियों, चारणों, भाटों और दूसरे रत्नों का वर्णन मिल जाता है, लेकिन रंगमच वहाँ भी उपेक्षित है। मजबूरन यह कहना ही पड़ेगा कि उस युग के समुन्नत नागर जीवन में 'रंगमंच' को स्वतंत्र और अनिवार्य सत्ता नहीं मिली थी। यदि रंगमंच था भी तो वह राजभवनों, मंदिरों या श्रेष्ठियों के क्रीड़ांगणों तक ही सीमित था। इस कारण कला-आंदोलन के रूप में प्रबुद्ध नागर समाज में 'रंगमंच' की परंपरा नहीं बन सकी थी।

. . .इतिहास के इस परिप्रेक्ष्य में अब यदि कहा जाय कि परंपराच्युति और परंपरा का आग्रह दोनों कोई मायने नहीं रखते तो अनुचित न होगा। हो सकता है कि इस कथन से गौरव के गायकों को तकलीफ़ हो। तकलीफ़ हो तो हो किंतु इसी के कारण जिस 'रंगमंच' को हमें स्थापित करना है उसके लिए एक साफ़-सुथरा और निश्चयात्मक दृष्टिकोण बनता है। प्राचीन नाट्यशास्त्र और नाट्य-साहित्य और शास्त्र-सम्मत रंगमंच की मूर्त-अमूर्त रेखा-छवि, इन सबको हम धरोहर कह सकते हैं। यदि इस धरोहर का हम लाभ उठाते हैं तो इसका अर्थ यह कदापि न होगा कि हमारे भीतर परंपरा का बड़ा आग्रह है; और यदि हम उसे 'म्यूज़ियम पीस' बना कर रख देते हैं तो उसे परंपरा से च्युत होना भी नहीं कह सकते।. . .

२६ अक्टूबर १९६३

. . .अब उस 'अक़ल रहित नकल' वर्ग की बात भी कोई मायने नहीं रखती, जो दूसरों की उपलब्धियों, दूसरों की दिशा-दृष्टि और दूसरों द्वारा किये गये किसी समस्या के समाधान को जैसा का तैसा स्वीकार कर लेते हैं। उनके बारे में कोई कर भी क्या सकता है? ऐसा वर्ग सदैव रहता है, और रहेगा। संस्कृति जब संकटापन्न रहती है तब यह वर्ग सक्रिय जरूर हो उठता है। इसे नारा चाहिए तो नारा मिल जाता है; इसे विचार-दर्शन चाहिए तो वह भी सुलभ हो जाता है। शर्त केवल इतनी रहती है कि यह वर्ग राष्ट्र की अंतर्बाह्य सीमाओं को रद्द कर दे। रंगमंच के क्षेत्र में भी यह वर्ग अपने ढंग से सक्रिय रहता है। नाट्य-रचना से ले कर प्रस्तुति की हर विधा में वह आक्रांत रहता है दूसरों की उपलब्धियों से। उनके मुख की बात को बोलना ही इसका कार्य हो जाता है। देश के सांस्कृतिक केंद्रों में रंगमंच-विधायक के रूप में आप इस वर्ग के लोगों को देख सकते हैं। यह वर्ग भारतीय रंगमंच और लोकमंच के विषय में उसी सुशील ढंग से बात करता है जिस ढंग से एक अमरीकी 'योग' के बारे में।. . .

३० अक्टूबर १९६३

. . .रंगमंच को ले कर हमारे भीतर जो ऊहापोह इस समय है उसमें दो बातें खास हैं। आधुनिक रंगमंच की जो परिकल्पना हमारे मस्तिष्क में है उसके आधार में निःसंदेह पाश्चात्य रंगमंच की टेकनिकल उपलब्धियाँ हैं। इसके साथ ही शायद प्रतिक्रिया-स्वरूप या अभिमान के कारण अपने लोकधर्मी रंगमंच की प्रतिछवि भी हमारे भीतर विद्यमान रहती है और 'एतद्देशीयता' को ले कर हम जूझते रहते हैं। शायद कला के हर पक्ष में यही बात उठती है। . . .

३ नवंबर १९६३

. . .वस्तुतः रंगमंच को ले कर 'एतद्देशीयता' का ही प्रश्न संप्रति हमारे सामने है। इस 'एतद्देशीयता' को ही प्राप्त करने या प्रतिष्ठित करने के लिए संभवतः प्रतिक्रिया-स्वरूप गौरव-गायन होता है। तो प्रश्न है कि 'एतद्देशीय रंगमंच' कैसा हो? इस संदर्भ में बीच का इतिहास लेने से कोई लाभ नहीं दीखता। पारसी रंगमंच, भारतेंदु और प्रसाद तक का जो कुछ रंगमंचीय इतिहास है, उसका सही आकलन तभी हो सकेगा जब 'एतद्देशीय रंगमंच' स्थापित हो जायगा। अतः वर्तमान समय में कौन-सी अनुकूल स्थितियाँ चाहिए जिसमें 'एतद्देशीय रंगमंच' स्थापित हो सके? मजे की बात यह है कि स्थिति अब ऐसी है कि यूरोपीय या अमरीकी रंगमंच भी ह्रासोन्मुखी है। वहाँ से भी प्रेरणा लेने में कोई अर्थ नहीं। वहाँ के ह्रास का एक ताज़ा चित्र सितंबर में मिला जो इस प्रकार है। 'रायटर' का संवाददाता लिखता है :—

एडिनबरा, ९ सितंबर। एडिनबरा के महापौर डाक्टर डंकन वेदरस्टोन ने परसों अंतर्राष्ट्रीय नाटक-सम्मेलन के समय एक नग्न सुंदरी की उपस्थिति पर टीका करते हुए कहा कि ग़ैरजिम्मेदारी का यह काम मन और मस्तिष्क से अस्वस्थ लोगों का था।

सम्मेलन में 'भविष्य का नाटक' विषय पर विचार-गोष्ठी के समय अचानक एडिनबरा की १९ वर्षीया सुंदरी अन्ना केसलर के नग्न पहुँचने से दर्शकों में कोलाहल मच गया। निर्वस्त्र बाला को लोगों ने तीस सेकेंड तक देखा। उसे हाल के उस पार गैलरी से एक पहियेदार मेज पर लाया गया। वह दर्शकों की ओर अपनी पीठ किए हुए आयी और उसके बाद उनकी ओर उन्मुख हो कर द्वार से निकल गयी।

सुंदरी को नग्न रूप में उपस्थित करने की योजना यथार्थवादी नाट्य-संघ ने बनायी थी।

अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कुछ दर्शक निःस्तब्ध बने बैठे रहे, दूसरों ने तालियाँ बजायीं और वाह-वाही दी। समारोह-समिति के अध्यक्ष ने कहा कि यह बहुत दुःखद प्रसंग है कि तीन सप्ताह के इतने शानदार समारोह में ऐसा अभद्र प्रदर्शन हुआ।

'भविष्य का नाटक' विचार-गोष्ठी का उद्देश्य नाट्यकला के ह्रास पर विचार करना था।

यह समाचार निःसंदेह ह्रासोन्मुखी रंगमंच का चित्र उपस्थित करता है, गोष्ठी के विषय पर व्यंग्य तो करता ही है। वास्तव में पश्चिम में सेक्स ने नाट्य-लेखन और रंगमंच दोनों को

मथ डाला है। अतः पश्चिम भी हमें प्रेरित नहीं कर सकता। लोकनाट्य-परंपरा पर पहले ही विचार हो चुका है। ऐसी स्थिति में हिंदी का रंगमंच कैसा होगा––यही प्रश्न है।

५ नवंबर १९६३

. . .दो मत इस बात पर नहीं हैं कि रंगमंच के खास अंग 'प्रस्तुति' का जितना भी निदेशन है, सामग्री है, टेकनीक है, वह तो पश्चिम का ही रहेगा। यही रहता भी है। रंग-शिल्प है, ध्वनि-संकेत है, प्रकाश-व्यवस्था है––ये सारी टेकनिकल उपलब्धियाँ पश्चिम की हैं। अभी इस दिशा में हमें बहुत सीखना भी है। किंतु प्रश्न है नाटक का और प्रेक्षक का ? प्रेक्षक की मनोदशा और सौंदर्य-बोध तथा नाट्य-रचना––रंगमंच की यही समस्या है। . . .

६ नवंबर १९६३

. . .नंगी लड़की देखने का औत्सुक्य एक आदिम कुंठा है। विषम जीवन में यह कुंठा और भी बलवती हो जाती है। किंतु भारतीय नाटककार और प्रेक्षक अपनी संस्कृति से कुछ इस तरह जुड़ा हुआ है कि नाटककार अपनी रचना में उसे ला नहीं सकता और प्रेक्षक के सामने यदि वह आ भी जाय तो बरबस उसकी आँखें झप जायँगी। किंतु संक्रमण की इस अवस्था में हमारा नाटककार और प्रेक्षक दोनों ही सांस्कृतिक आदर्शों और नंगी लड़की के बीच में त्रस्त है। वह क्या करे, समझ में नहीं आता। जबसे हमारे नाटककार की रंगमंचीय बुद्धि जागी है, तब से वह स्थूल रंगमंच की चहारदिवारी में घिर गया है। वह समझ गया है कि ये चारों दीवालें (जिसमें से एक दीवाल प्रेक्षक है) उसके लिए एक चुनौती हैं। उन्हीं में सारे रंग उसे भरने हैं और उभारने हैं, क्योंकि यहाँ सारे रंग उभारे बिना उसकी गति नहीं। जो अपनी नाट्य-रचना के लिए तत्काल 'ओपेन एयर' या 'एरेना' की माँग करने लगते हैं, वे चक्कर ही लगाते रह जाते हैं, विधिवत स्थापित नहीं हो सकते। इसलिए उन्हें इन्हीं चार दीवालों के भीतर ही संप्रति सब कुछ रूपायित करना है। ऐसा रूपायन जो साहित्य में अभिषिक्त हो सके और प्रेक्षक को भी आंदोलित कर सके, साथ ही प्रस्तुति को तो सफल बनाये ही। इन कड़ी शर्तों के साथ नाटक लिखना वास्तव में जटिल कार्य है। किंतु यह चुनौती स्वीकार है और हिंदी में नाटक लिखा जा रहा है। अब हिंदी में कैसा नाटक लिखा जा रहा है, यह अलग बात है। सच बात तो यह है कि संपूर्ण भारतीय साहित्य में यह विधा अभी उजागर नहीं हो सकी है। कुछ दिल बहलाने की बातें हैं। वे साहित्यकार, जो अपने को नाटककार भी मानते हैं, कहते हैं, नाटक लिखने से क्या लाभ ? पाठ्यक्रम में लगने की गुंजाइश हो तो लिखा भी जा सकता है। रंगमंच भी तो नहीं है। यदि है भी तो वर्ष में एक बार दो-ढाई घंटे के लिए नाटक जीवित हो लेता है, किंतु उतने से होता क्या है ? वास्तव में ये सब ऊपर की बातें हैं, चुनौती से टकरा कर मुँह मोड़ने की बातें हैं।

१० नवंबर १९६३

. . .'नाटक' साहित्य की अत्यंत जीवंत विधा है। वास्तव में उसे रंगमंच की अपेक्षा नहीं रहती। उसकी जिंदगी केवल दो-ढाई घंटे की नहीं होती। वह तो रंगमंच को स्वतः आत्मसात किये रहता है। इसलिए चाहे वह पढ़ा जाय या प्रस्तुत किया जाय, वह सदैव जीवित रहता है।

शर्त यही है कि जीवन का स्पष्ट विचार-दर्शन उसमें हो। उसमें जीवन से संयुक्त परिस्थितियों की कलात्मक अभिव्यंजना हो। तात्पर्य यह कि भाषण और भावुकता न हो, महज़ चुलबुलापन, लटकेबाज़ी और फ़ार्मूला न हो। जब से नाटककार में रंगमंचीयता जगी है, तब से सुख की जगह एक दुख बढ़ गया है। अपनी नाट्य-रचना के द्वारा रस-निष्पत्ति पर मानो उसे कुछ अविश्वास हो गया है। रंगमंच की दीवाल से वह इतना आक्रांत दिखायी पड़ता है कि वह पगे-पगे प्रस्तुति की विधाओं का सहारा लेना चाहता है। जैसे कि वही प्रस्तुतकर्ता भी बन गया हो। उसके लिखे संवाद का उभार ध्वनि या संगीत पर, अभिनेता के शरीर-संचालन पर निर्भर है। उसकी नाट्य-रचना में प्रकाश का संयोजन कैसे हो और स्थल-विशेष पर एक चमत्कार कैसे पैदा हो, इसी में उसकी बुद्धि खपने लगी है। इससे अच्छे तो 'प्रसाद' जी ही थे जो साहित्य तो दे गये। किंतु आज समस्या के नाम पर जो नाटक हैं उनकी समस्या क्या वास्तव में हमारे जीवन की मूलभूत समस्या है? क्या वे समस्याएँ सही मायने में हमें स्पर्श कर पाती हैं? ऐसा लगता है कि मानो संपूर्ण नाट्य-रचना का आधार वायवीय है। जिस सामाजिक स्तर का ज्ञान नहीं, जिस स्तर में भारत जीता नहीं, उस पर यदि नाटक लिखा जायगा तो वह न साहित्य बनेगा, न प्रेक्षक को स्पर्श कर सकेगा। सच बात यह है कि अभी 'नाटक' लिखा ही नहीं गया है, क्योंकि 'द्वंद्व' को पकड़ने का अभ्यास नहीं हो सका है। संवाद से द्वंद्व का निर्माण नहीं होता; द्वंद्व थोपने से द्वंद्व नहीं बनता। सामाजिकता का वहन करने वाले जीवंत प्राणी के भीतर द्वंद्व बैठा रहता है। उस भीतर के द्वंद्व को निकालना ही नाट्य-रचना है। घटनाएँ सोच कर, या देख कर; विशिष्ट चरित्र को देख कर या बना कर, प्रसंगवशात किसी करुण कथा या प्रेम-कथा को ले कर नाटक नहीं बनता। वैसे बन तो सकता ही है, और यही हुआ है अभी तक, किंतु **जीवंत नाटक** वह नहीं बन सकता।

इसलिए नाटक वही लिख सकता है जो कलाकार के साथ-साथ विचारक होता है। जो समाज की विषमताओं और उसकी उपलब्धियों—दोनों से घनिष्ठ रूप में जुड़ा रहता है। जिसके भीतर यह अहर्निश चिंतन रहता है कि समाज की इस कारा को तोड़ना उसका कर्तव्य है; बेहूदगियों पर ठोकर लगाना उसका अधिकार है। ऐसा ही कलाकार-विचारक 'द्वंद्व' को निकाल पाता है, और तब जा कर एक **'नाटक'** बनता है। प्रस्तुति और प्रेक्षक तो हर समय उसे हाथ में लेने के लिए तैयार रहता है।

किंतु वह 'नाटक' नहीं बन पा रहा है। तो क्या रंगमंच केवल इसी कारण नहीं बन पा रहा है? यह तो सब नहीं, पर एक कारण हो सकता है। कहते हैं कि 'रंगमंच' का स्वस्थ विकास ऐसे 'जनतंत्र' में होता है जहाँ आर्थिक संपन्नता होती है। तात्पर्य यह कि रंगमंच संपन्न समाज की वस्तु है। कैपिटलिस्टिक डिमाक्रेसी के रंगमंच पर 'रायटर' ने जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, उससे स्थिति स्पष्ट हो जाती है। तब क्या ऐसे संपन्न समाज में 'रंगमंच' का विकास माना जायगा जहाँ आर्थिक संपन्नता तो हो परंतु जहाँ जीवन की परिचालना एक विशिष्ट विचार के एकचालकानुवर्तित्व से होती हो? कहते हैं कि रूस का 'रंगमंच' बहुत समुन्नत है। निःसंदेह समुन्नत है, किंतु एक विशिष्ट विचारधारा के 'निर्माणवाद' को ले कर। वहाँ की 'निर्माणवादी' प्रवृत्ति इतनी विकट है कि शेष विश्व में जहाँ भी जो कुछ बन-सँवर रहा है वह उनके लेखे 'प्रतिक्रियावादी' है, बुर्जुआ

है, हीन मनोवृत्ति का परिचायक है। एक संपन्न समाज में यह विकट एकांगी स्थिति 'रंगमंच' या किसी भी कला के बहुविध स्वतंत्र विकास के लिए क्या वांछनीय है ?

अतः वही आर्थिक संपन्नता वांछनीय है जिसमें व्यक्ति स्वतंत्रचेता हो, साथ ही उसके शोषण की गुंजाइश न हो। ऐसे संपन्न समाज की रचना के विषय में चिंतन हो रहा है। इतिहास का चक्र भी इसी हेतु घूमता दिखायी पड़ रहा है। भारत का रथ-चक्र भी उसी दिशा में है। इसलिए विश्वास है 'हिंदी रंगमंच' अर्थात् भारतीय रंगमंच भी उसी समय अपने चरमोत्कर्ष पर आ जायगा और संस्कृति को पूर्णता मिल जायगी।

११ नवंबर १९६३

. . .संप्रति हिंदी का जो रंगमंचीय कार्यकलाप है वह बुरी तरह से संघर्षरत है। किंतु इतिहास के इस दौर से इसे गुज़रना ही पड़ेगा। एक पीढ़ी, दो पीढ़ी, तीन पीढ़ी को इस कार्य में खपना ही पड़ेगा।

कितने अभावों को ले कर 'हिंदी रंगमंच' का कार्य चल रहा है, यह वे ही जानते हैं जो इस कार्य में संलग्न हैं। क्षण-क्षण पर ऐसा लगता है कि अब टूट गये। संपन्नता के बदले दारिद्र्य है; उद्देश्य के बदले 'कैरियर' है. . .हर क्षण मन को थकाने वाला है। किंतु मालूम है—कार्य इसी में करना है. . .।

. . .हिंदी रंगमंच की समुन्नति का उद्देश्य रखने वाले कार्यकर्ताओं के वर्ग का निर्माण इस पीढ़ी को ही करना है, जो अहर्निश रंगमंचीय चिंतन कर सके और कार्य को दिशा दे सके।. . .

—सत्यव्रत सिन्हा,
हिंदुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद।

गोष्ठी-प्रसंग

नवलेखन का भाव-बोध

२ मई, १९६४ की शाम को 'नवलेखन का भाव-बोध और उसका मूल्यांकन' नामक विषय पर सन्निधि राजघाट (दिल्ली) में एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता डॉ० नामवर सिंह ने की और संयोजक थे श्री भारत भूषण अग्रवाल तथा डॉ० सुरेश अवस्थी।

डॉ० सुरेश अवस्थी ने अपने प्रास्ताविक वक्तव्य में कहा कि आज हमें 'तीसरी आवाज़' की ज़रूरत है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि नवलेखन का मुख्य नियामक तत्व भाव-बोध

है जो पद्धति, व्यंजना तक सीमित नहीं है, अपितु समूचे शिल्प-विधान में है। उन्होंने यह भी कहा, 'भाव-बोध अखंड है, अविभाज्य है। पाठक युगीन भाव-बोध का अनुभावक है। आज का लेखक परंपरा को ओढ़ना नहीं चाहता, वह तो आज के युग को अभिव्यक्त करता है।' नवलेखन के मूल्यांकन पर विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि प्राचीन काव्यशास्त्र आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन तो कर सकता है, पर पूर्ण मूल्यांकन नहीं। उन्होंने एक ही विषय (युद्ध) पर 'लोकायतन' (श्री सुमित्रानंदन पंत) और 'युद्ध बोध' (डॉ॰ कैलाश वाजपेयी) से ६–६ पंक्तियाँ पढ़ कर सुनायीं और कहा कि 'युद्ध बोध' की पंक्तियाँ हृदय को छूती हैं, 'लोकायतन' की नहीं।

अपने अल्प भाषण में श्री विद्यानिवास मिश्र ने कहा, 'नवलेखन के मूल्यांकन के लिए रस-सिद्धांत को अपनाना नवलेखन के साथ अन्याय होगा।' उन्होंने बताया कि युग बदलेगा, आयाम बदलेंगे, साहित्य बदलेगा तो मूल्यांकन के आधार भी बदलेंगे। प्राचीन सिद्धांतों को नवलेखन पर बलात् नहीं लादा जा सकता।

कहानीकार श्री निर्मल वर्मा ने कहा, 'नया शब्द कोई अर्थ रखता हो, मुझे नहीं लगता; क्योंकि हर कलाकृति एक प्रयास है। नया बोध तो केवल व्यक्ति के संदर्भ में हो सकता है। कोई भी महत्वपूर्ण कृति पुरानी नहीं होती, इसलिए उसे नया भी कैसे कहा जाय। वास्तव में हर महान् कृति आधुनिक है। मेरा आदर छायावादी कविता और प्रेमचंद के प्रति है, पर आदर उनके प्रति नहीं है जो उनकी जूठन पर निर्भर हैं।'

श्री रघुवीर सहाय का वक्तव्य काव्यात्मक था। उन्होंने कहा कि नये-पुराने का प्रश्न नये-पुराने का नहीं है; वह युग से संपृक्त और असंपृक्त से संबद्ध है। उन्होंने अपनी मान्यता प्रस्तुत की—'कला स्वभाव से ही व्यक्ति का विमोचन करती है।' यह भी कहा कि 'तीखा यथार्थ बोध' उन्हें नहीं रुचता। उन्होंने आज की स्थिति पर विचार करते हुए बताया कि 'हम लेखक और बुद्धिजीवी देश की घुटन तो तोड़ने में समर्थ नहीं हो रहे हैं। इसलिए कुंद हो रही राजनीति को तेज किया जाना चाहिए।'

श्री नेमिचंद्र जैन ने कहा कि नवलेखन के लिए अनुभूति और युगीन भाव-बोध आवश्यक हैं। परंपरा का मूल्यांकन भी युगीन भाव-बोध के आधार पर ही होता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि नवलेखन के मूल्यांकन के लिए आनंद को मान सकना संभव नहीं है। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि आज के साहित्य में चेतना का विस्तार है और वही श्रेष्ठ साहित्य है जो पाठक को विक्षुब्ध, उसकी ग्रहणशीलता को सजग और विवेक को जाग्रत कर दे।

श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि साहित्य में परिचित से परिचय पाने की इच्छा व्यक्त होती है। नया कवि रूप को नाम देने का प्रयत्न करता है। देश और काल हमारी चेतना में हैं, बाहर नहीं है।

डा॰ देवीशंकर अवस्थी ने प्रतिपादित किया कि नवलेखन की समीक्षा-पद्धति का नवीकरण होना चाहिए। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मान्यता प्रस्तुत की कि ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी, कवि-कर्म कठिन होता जायगा। इस पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने बताया कि 'कवि-कर्म की दुरूहता के साथ-साथ आलोचक का कर्म भी दुरूह हो जाता है।' उन्होंने कहा कि सबसे बड़ा

दायित्व आलोचना का है और यदि आलोचना यह काम नहीं करती है तो अवश्य ही उसमें कमी है। साहित्य के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, 'इस अमानवीय युग में केवल साहित्य ने धोखा नहीं दिया है; शिक्षा, राजनीति आदि ने अवश्य धोखा दिया है।' उन्होंने खेद प्रकट किया कि विश्वविद्यालयों में शुद्ध अर्थ में आलोचना स्वीकृत नहीं हो रही है और साहित्यिक पांडित्य से अलग हट कर तमाम सांस्कृतिक आधारों पर अभी आलोचना नहीं की गयी है। डॉ० अवस्थी ने मूल्यांकन संबंधी कई बातों पर अपना मत देते हुए कहा, 'साहित्यकार ने क्या कहना चाहा था, हमारा इससे कोई संबंध नहीं; क्या कहा है, यही बात असली है।. . . रचना का जो रूप होता है वही उसका अर्थ होता है। रचना रूप की प्रतीकात्मक होती है। रचना की सार्थकता की समस्या एकता की समस्या है।. . .अपने जीवन के प्रति व्यक्ति कितना ईमानदार है, इससे आलोचक को कोई मतलब नहीं।' अंत में उन्होंने कहा कि रचना का मूल्यांकन विश्लेषण की पूरी प्रक्रिया में होता है।

परिपत्रों के इन वक्तव्यों के बाद परिचर्चा का आरंभ श्री मनोहर श्याम जोशी ने किया। उन्होंने कहा, 'जब से मैं दिल्ली आया हूँ मैंने यही देखा है कि यहाँ बहुत गोष्ठियाँ होती हैं और लोग घंटों बैठे रहते हैं। लगता है जैसे यहाँ के लेखकों के पास लिखने के लिए कुछ है ही नहीं।' दूसरी बात उन्होंने यह कही कि प्रायः यह कहा जाता है कि अमुक लेखक की कविता पर अमुक विदेशी लेखक की छाप है और अमुक लेखक ने अनुवाद-मात्र किया है। इसके लिए यह करना चाहिए कि हिंदी वाले मिल कर एक कमेटी बैठा दें और उसकी देखरेख में विदेशों का सारा साहित्य अनुवादित कर दिया जाय। फिर यह समस्या ही न रहेगी।

अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ० नामवर सिंह ने कहा, 'भाव-बोध से चेतना का विस्तार हुआ है। पहला भाव-पक्ष (जब काव्य के दो पक्ष माने जाते थे—भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष) लगता है अधूरा था, और अब जैसे हम भाव-बोध, युग-बोध और राग-बोध आदि के द्वारा उसकी पूर्णता को समझ लेना चाहते हैं।' उन्होंने भाव-बोध को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'जब हम नवलेखन के संदर्भ में भाव-बोध को देखते हैं तब Unified sensibility की बात करते हैं जिसमें ऐंद्रिय-बोध से ले कर विचार-जीवन-दर्शन की बात करते हैं।' उन्होंने बताया कि भाव-बोध का संबंध नैतिक-बोध और सांस्कृतिक-बोध से है और 'नया भाव-बोध' जैसी कोई चीज़ नहीं है, यह कहना दुराग्रह होगा।

—रत्नलाल शर्मा,
ए १५।३ राणा प्रताप बाग़,
दिल्ली-६।

गोष्ठी-प्रसंग

शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट

'विवेचना' की (२४ मई १९६४ को आयोजित) तीसरी गोष्ठी में इसकी परंपरा को नया मोड़ और व्यापकता देने का प्रयत्न किया गया। इसका विवेच्य विषय था शमशेर बहादुर सिंह का संपूर्ण काव्य—'कुछ कविताएँ' और 'कुछ और कविताएँ' नामक संग्रह तथा अन्यत्र प्रकाशित कविताएँ। श्री विजयदेवनारायण साही ने इस गोष्ठी में मुख्य समीक्षा प्रस्तुत की—'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'। इस शीर्षक पर शमशेर जी ने आपत्ति की और कहा कि निबंध में कवि की जिस आंतरिक उलझन का ज़िक्र किया गया है, उसे वे स्वयं नहीं समझ सके।

श्री साही ने कहा कि आत्मपरकता की वस्तुपरकता के लिए 'एनॉलॉजी' के रूप में यह शीर्षक रखा गया है। अतः इसे स्थूल शाब्दिक अर्थ में न ग्रहण किया जाना चाहिए।

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने ब्रह्मा, विष्णु, पुष्टिमार्ग आदि शब्दों के समावेश तथा भावुकता की अधिकता पर आपत्ति की।

श्री प्रभात शास्त्री ने शमशेर जी की कविता की दुरूहता की ओर संकेत किया और उन्हें हिंदी का एकमात्र सौंदर्य का कवि कहे जाने पर आपत्ति की। इस संदर्भ में श्री साही ने कहा कि यदि लोग रहस्यमूलक सौंदर्य से त्रस्त नहीं होते तो दुरूह सौंदर्य से भी त्रस्त नहीं होना चाहिए। यदि सिर्फ़ प्रसाद गुण से काम चलता तो उपनिषदों के इतने बड़े भाष्यों की आवश्यकता न पड़ती। श्री शास्त्री ने छायावादी काव्य और शमशेर की कविता की तुलना से असहमति प्रकट की। श्री वाचस्पति पाठक ने शास्त्री जी के कथन का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि उन्हें शमशेर को सौंदर्य का एकमात्र कवि मानने पर आपत्ति है।

अंत में अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव ने अपना अभिमत व्यक्त किया। उन्होंने लक्ष्मीकांत जी के इस कथन से सहमति प्रकट करते हुए कि निबंध में भावुकता अधिक है, यह कहा कि निबंध केवल विवेचनात्मक न हो कर खुद-ब-खुद सर्जनात्मक भी बन गया है। शमशेर की काव्यानुभूति के ढाँचे को साही जी ने जिस रूप में समझाने की चेष्टा की है, वह सही रास्ता है। शमशेर की कविताओं की लाक्षणिकता और उनमें प्राप्य निर्वेद की स्थिति की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि शमशेर की दृष्टि वस्तुपरकता की आत्मपरकता का तत्व ढूँढ़ने की है। उन्होंने कहा कि शमशेर सौंदर्य-स्रष्टा हैं या नहीं, इस पर शंका की जा सकती है। जो पाठक उनकी काव्यानुभूति से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकते वे उन्हें सौंदर्य-स्रष्टा न मानेंगे। किंतु यदि वे उनकी दुरूहता से त्रस्त न हो कर उनके निकट जाने की चेष्टा करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि शमशेर की दृष्टि मूलतः सौंदर्यपरक ही है।

—विवेचक

हिंदी जगत

[आकाशवाणी में पिछले दिनों समाचारों की भाषा के प्रति एक विशेष प्रकार की सावधानी और सतर्कता दिखायी जाती रही है। यह आकाशवाणी की भाषा-नीति में परिवर्तन का परिणाम था। इस परिवर्तन पर हिंदी जगत में काफ़ी आक्रोश-भरी तेज प्रतिक्रिया हुई थी। इस नीति-परिवर्तन के स्वरूप और परिणामों पर तथ्यात्मक रूप से प्रकाश डालते हुए दैनिक 'आज' के १२ अप्रेल १९६४ के साप्ताहिक विशेषांक में श्री देवेंद्र जैन का एक लेख छपा था—'हिंदी और आकाशवाणी समाचार-विभाग'। इस लेख के अनुसार भूतपूर्व सूचना और प्रसारण मंत्री डॉ० बी० गोपाल रेड्डी इस नयी नीति के सूत्रधार थे। उन्होंने एक संसदीय परामर्शदात्री समिति के सुझावों के आधार पर श्री श्रीप्रकाश जी की अध्यक्षता में एक समिति गठित की थी। उस समिति ने हिंदी समाचारों की भाषा पर ध्यान रखने का दायित्व डॉ० हरिवंशराय बच्चन पर डाला। फिर भाषा और संगठन संबंधी जो क़दम उठाये गये उनके बारे में श्री जैन के लेख के कुछ अत्यंत संक्षिप्त उद्धरण नीचे प्रस्तुत हैं। —संपादक]

यह भी आदेश है कि 'तथाकथित और भूतपूर्व' का प्रयोग न कर के 'कथित' और 'पूर्व' शब्द ही प्रयुक्त किये जायँ।...

(तब तो 'कथित आरोप' 'तथाकथित आरोप' हो जायगा और 'पूर्व' दिशा 'भूतपूर्व' हो जायगी।—संपादक)

जिन शब्दों ने आकाशवाणी के हिंदी समाचार-विभाग में सबसे अधिक तहलका मचाया है, वे हैं 'परमाणु' और 'सहअस्तित्व'।... डाक्टर बच्चन का आग्रह है कि इन दोनों शब्दों के स्थान पर 'ऐटमी' और 'सहजीवन' शब्दों के प्रयोग ही किये जायँ। बाद में 'ऐटमी' शब्द के प्रयोग पर लगा प्रतिबंध श्रीप्रकाश समिति ने स्वयं हटा दिया, परंतु 'सहअस्तित्व' के प्रयोग पर अब भी सरकारी तौर पर प्रतिबंध है। यह बात किसी के ध्यान में नहीं आती कि 'सहजीवन' का एकमात्र अर्थ है—'सिंबिओसिस', न कि 'कोएग्ज़िस्टेंस'।...

श्रीप्रकाश समिति केवल हिंदी समाचारों की भाषा पर दृष्टि रखती है,...परंतु सामान्य हिंदीभाषी की दृष्टि से हिंदी समाचार-विभाग की समस्या क्या केवल हिंदी भाषा तक ही सीमित है, समाचारों से उसका कोई संबंध नहीं? भाषा के नाम पर हिंदी में समाचारों की उपेक्षा का एक मुख्य कारण यह भी है कि इस समिति के अधिकांश सदस्य समाचारों की पृष्ठभूमि, उनके महत्व और समाचारों के प्रस्तुतिकरण से अपरिचित हैं। ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब कि भाषा के सरलीकरण के नाम पर या भाषा को अपने मनोनुकूल बनाने के लिए समाचारों को छोड़ देने, समाचारों में काट-

छाँट कर देने और कदाचित भाव-विपर्यय कर देने तक के सुझाव दिये गये। इन सुझावों के अनुसार समाचार गौण थे, भाषा के तथाकथित संशोधन अधिक महत्वपूर्ण।

इस मनोवृत्तिका परिणाम यह हुआ कि १३ सितंबर १९६३ को रात्रि सवा आठ बजे के हिंदी समाचार में यह प्रसारित हुआ : 'बेलग्रेड अंतरसंसदीय संघ की बैठक में अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए संघ के प्रधान सचिव ने चीन पर भारत के हमले की चर्चा की', तो न तो समिति के किसी सदस्य का, न डाक्टर बच्चन का 'चीन पर भारत के हमले' की ओर ध्यान गया। इसके कुछ दिन बाद पहली अक्तूबर को मध्यान्ह के हिंदी समाचारों में एक और इसी प्रकार का समाचार प्रसारित हुआ : 'श्रीमती पंडित ने कहा कि भारत ने काश्मीर के संबंध में अपने सभी कर्तव्य पूरे किये हैं। मुख्य समस्या आत्मनिर्णय की नहीं बल्कि यह है कि पाकिस्तान पर हमला किया गया है, जो १९४७ से आज तक चल रहा है।' इस प्रकार भारत द्वारा पाकिस्तान पर हमले की ओर भी समिति या उसके प्रतिनिधि, किसी का ध्यान नहीं गया।

. . . १९६३ के मध्य अक्तूबर में संयुक्त राष्ट्र राजनीतिक समिति में भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने चीन के विकृत ढंग से चिंतन की आलोचना करते हुए कहा था : 'इस प्रकार के विकृत चिंतन को केवल उसी विचित्र दार्शनिक सिद्धांत की पृष्ठभूमि में हृदयंगम किया जा सकता है कि जो सिद्धांत परमाणु बमों की महाविध्वंसक शक्ति से करोड़ों लोगों का विनाश शांत भाव से देख सकते हैं।' . . .श्रीमती पंडित की इस उपर्युक्त विवेचना को जिस भाषा में प्रसारित किया गया, वह इस प्रकार थी : 'यह केवल उन्हीं का दार्शनिक सिद्धांत हो सकता है जिन्होंने ऐटमी तूफ़ान में करोड़ों लोगों को बरबाद होते देखा है और जो उसपर भी चुप रहे हैं।' . . .

वस्तुत: हिंदी समाचारों की समस्या भाषा नहीं है। भाषा का प्रश्न राजनीतिक कारणों से उठाया जाता है और मूल उद्देश्य से सर्वसाधारण का ध्यान हटाने के लिए इस प्रश्न को तूल दिया जाता है। . . .

आकाशवाणी के हिंदी समाचार-विभाग की समस्या है मूल रूप से यथासंभव अधिकतम समाचार हिंदी में प्राप्त करना। . . .

इस समय हिंदी समाचार-विभाग का एक पिछलग्गू विभाग है। हिंदी विभाग में स्थायी सेवा के वे ही लोग कार्य करने के लिए भेजे जाते हैं जिनका चुनाव केंद्रीय लोक-सेवा आयोग द्वारा अंग्रेज़ी माध्यम से होता है। . . .

दूसरा प्रमुख कारण यह है कि हिंदी समाचार-विभाग की नकेल अंग्रेज़ी समाचार-विभाग के हाथ में रहती है। जब कभी हिंदी विभाग स्वतंत्र मार्ग अपनाना भी चाहता है तो अंग्रेज़ी विभाग के वरिष्ठ अधिकारी तत्काल हिंदी के लोगों को परामर्श (वस्तुत: 'आदेश') देने के लिए आ पहुँचते हैं। वर्तमान लोकसभा के शरत्कालीन छठे अधिवेशन में २ दिसंबर १९६३ के आसपास हिंदी में प्रस्तुत प्रस्ताव पर जब हिंदी में वक्तव्य देने की चर्चा हुई तो उसे आकाशवाणी के हिंदी समाचार-विभाग द्वारा अपने समाचारों में प्रसारित करने पर अंग्रेज़ी के मुख्य समाचार-संपादक ने तत्काल आपत्ति कर दी।

यह तो सदा होता ही है कि रामलीला मैदान या दिल्ली के रीगल के मैदान में प्रधानमंत्री का हिंदी भाषण पहले अंग्रेज़ी में अनूदित हो कर अंग्रेज़ी समाचार में आता है, फिर यह अंग्रेज़ी विभाग उस अंग्रेज़ी रूप का संपादन या

संक्षेप कर के अनुवाद के लिए हिंदी तथा दूसरी भाषाओं के विभागों को भेजता है। साथ ही यह भी अंग्रेज़ी विभाग की इच्छा पर निर्भर है कि वह जब चाहे किसी समाचार को भी 'केवल अंग्रेज़ी के लिए' घोषित कर दे।...

बीच में यह व्यवस्था की गयी थी कि मूल हिंदी भाषण हिंदी विभाग को हिंदी में दिये जायँ और इस प्रयोजन से हिंदी के नाम पर दो संवाददाता भी रखे गये थे। परंतु इन संवाददाताओं से सदा अंग्रेज़ी का ही काम कराया गया। निराश हो कर अब ये लोग त्यागपत्र दे कर चले गये हैं।

जब डाक्टर केसकर सूचना और प्रसारण मंत्री थे तो हिंदी समाचार-विभाग के विस्तार की योजना तैयार की गयी थी।...इस योजना को लागू करने के पूर्व ही हिंदी समाचार-विभाग केवल हिंदी अनुवाद विभाग था। इस स्थिति को समाप्त कर हिंदी समाचार-विभाग को अंग्रेज़ी समाचार-विभाग के समकक्ष बनाने के लिए तीन चरणों की एक योजना बनायी गयी।...

अभी इस योजना के दूसरे चरण को लागू हुए कुछ ही दिन बीते थे कि डाक्टर गोपाल रेड्डी का उर्दू-प्रेम उमड़-उमड़ कर इस योजना की जड़ों को कुरेदने लगा। तभी बिल्ली के भाग छीका टूटा और देश में आपात-स्थिति घोषित कर दी गयी। आपात-स्थिति के कारण जनता को उसी की भाषा में जानकारी प्रदान करने के स्थान पर उसे अंग्रेज़ी में प्रवचन सुनना आवश्यक हो गया। सरकारी विचारधारा के अनुसार देशभक्ति केवल अंग्रेज़ी से फूटती है, भारतीय भाषाओं से नहीं। इसलिए आकाशवाणी के समाचार-विभाग में अंग्रेज़ी के एक डिप्टी डाइरेक्टर के स्थान पर पाँच डिप्टी डाइरेक्टर रखना आवश्यक हो गया। अर्थ-मंत्रालय खर्च बढ़ाने को तैयार नहीं था, इस कारण पहला प्रहार हिंदी समाचार-विस्तार-योजना पर किया गया। इसके मुख्य समाचार-संपादक, एक समाचार-संपादक और कुछ उपसंपादकों के पद समाप्त कर उन्हें अंग्रेज़ी के डिप्टी डाइरेक्टरों के लिए प्रदान कर दिया गया।

परंतु अंग्रेज़ी के इन डिप्टी डाइरेक्टरों के लिए काम कहाँ से पैदा किया जाता? इसलिए इनमें से एक को ट्रांसपोर्ट का काम सौंपा गया, दूसरे को प्रशासन का, तीसरे को समाचार-दर्शन का, चौथे को भाषाओं का। ये लोग रखे गये थे अंग्रेज़ी समाचारों के लिए, करने लगे ट्रांसपोर्ट और प्रशासन आदि का कार्य। परंतु बाहरी आलोचनाओं तथा आंतरिक असंतोष के कारण इन सब लोगों को फिर अंग्रेज़ी समाचारों का वही काम सौंपा गया जो कि समाचार-संपादक पहले से ही कर रहे थे। वही काम, वही स्तर, पर उसे करने वालों का पद और पैसा बढ़ाया गया और वह भी हिंदी के हितों का बलिदान कर के।

इस सारे घोटाले में श्रीप्रकाश-समिति ने एक बार भी आवाज़ नहीं उठायी।

●

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्मशती के अवसर पर 'आकाशवाणी' (अंग्रेज़ी में आकाशवाणी-कार्यक्रमों की पत्रिका) में दिल्ली केंद्र (और सिर्फ़ दिल्ली केंद्र) के १५ मई के कार्यक्रम में प्रकाशित एक पंक्ति : **'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : उनकी जन्मशती के अवसर पर हिंदी में परिसंवाद'।**

(बढ़ती हुई बेकारी के इस ज़माने में लोग अपनी आयु दो-तीन वर्ष कम करके बताते अवश्य पाये जाते हैं, पर आचार्य हजारीप्रसाद जी ने तो तीन-चार दशकों का घालमेल कर रखा है!)

क्या हिंदी लादी जा रही है ?

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास को राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित करने से संबंधित विधेयक पर लोकसभा में २९ अप्रेल १९६४ को जो बहस हुई उसमें भाग लेते हुए डॉ० गोविंद दास ने हिंदी वालों पर लगाये जाने वाले इस आरोप पर सम्यक् प्रकाश डाला कि वे हिंदी को दक्षिण पर या किसी अहिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र पर लादना चाहते हैं। उनके ही शब्दों में : 'दक्षिण में हिंदी प्रचार का कार्य वहाँ के लोगों पर छोड़ देना चाहिए—मैं इसको मानता हूँ। यदि आप देखें तो आपको मालूम होगा कि दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के जो कार्यकर्ता हैं उन में से ९९ प्रतिशत कार्यकर्ता या तो तेलेगू भाषाभाषी हैं या मलयालम भाषाभाषी हैं या कन्नड़ भाषाभाषी हैं या तमिल भाषाभाषी हैं।...

'अब आप देखिए इस हिंदी प्रचार सभा के थोड़े से इतिहास को। सन् १९१९ में केवल ८० युवकों ने वहाँ पर शिक्षा पायी। आज वहाँ की क्या स्थिति है, इसको भी आप देखिए। आज समूचे दक्षिण में ७००० कार्यकर्ता हैं और ६००० केंद्रों में हिंदी के प्रचार का कार्य हो रहा है। सभा की तरफ से जो परीक्षाएँ चलायी जाती हैं उनमें अब तक ७५ लाख विद्यार्थी पढ़ चुके हैं और १८,३२,५४७ परीक्षार्थी परीक्षाओं में बैठ चुके हैं। उनमें ३० प्रतिशत महिलाएँ हैं। सभा ने अब तक ३१४ पुस्तकें प्रकाशित की हैं जिनमें से अधिकांश विभिन्न परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकें हैं। इसके सिवा, सारे दक्षिण में सभा ने १८०० प्रकार की २ करोड़ ८० लाख पुस्तकें वितरित की हैं। सभा का वार्षिक बजट १५ लाख रुपये का है और अब तक १ करोड़ रुपया सभा इस कार्य पर ख़र्च कर चुकी है।

'फिर आप देखिए कि पंचवर्षीय अवधियों में सभा का कार्य किस प्रकार बढ़ा है। सन् १९३६ से १९४१ तक केंद्रों की संख्या ४४१ थी तथा विद्यार्थियों की संख्या ८९,८५३; सन् १९४२ से १९४६ तक केंद्रों की संख्या ४९८ तथा विद्यार्थियों की संख्या १,००,२८२; सन् १९४६ में १९५१ तक केंद्रों की संख्या ७९० हुई तथा विद्यार्थियों की संख्या ३,२२,९६८; सन् १९५२ से १९५६ तक केंद्रों की संख्या १,००० हुई तो विद्यार्थियों की संख्या ४८६४५५ हुई और सन् १९५७ से १९६१ तक केंद्रों की संख्या १३५० हुई तो विद्यार्थियों की संख्या ६,५८,०४९ हुई।

'सभा के पुस्तकालय में इस समय १९,८६१ पुस्तकें मौजूद हैं।

'आज कुछ लोग कहते हैं कि हिंदी लादी जा रही है। मैं जानना चाहता हूँ कि जब दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा का गत चार दशाब्दियों में इतना कार्य बढ़ा और उसने इतना कार्य किया, तथा उस कार्य में लगे हुए कार्यकर्ताओं में से ९९ प्रतिशत कार्यकर्ता वहीं के भाषाभाषी हैं, तब कैसे इस बात को कहा जा सकता है और कौन इस बात को कह सकता है कि हिंदी को लादने का प्रयत्न किया जा रहा है?'

हिंदी के वास्तविक विरोधी कौन ?

लोकसभा में हुई उपर्युक्त बहस में डॉ० गोविंद दास ने इस संबंध में जो मत प्रकट किया उससे हर विचारशील व्यक्ति सहमत होगा। बहस के दौरान उन्होंने कहा : 'हिंदी का विरोध यथार्थ में कौन लोग करते हैं इस पर भी ज़रा विचार करने की आवश्यकता है। मैं कहना चाहता हूँ कि जो यह कहा जाता है कि हिंदी का विरोध अहिंदी भाषाभाषी करते हैं, यह ग़लत बात है। हिंदी का विरोध अहिंदी भाषा-भाषी तथा हिंदी भाषाभाषी दोनों कर रहे हैं। ऐसा वे क्यों कर रहे हैं? इसलिए कर रहे हैं कि वे लोग जो इस देश में अंग्रेज़ी जानते हैं, जिनकी संख्या दाल में नमक के बराबर है, इस देश में समस्त क्षेत्रों में छाये रहना चाहते हैं। अपने स्वार्थों के कारण वे हिंदी का विरोध कर रहे हैं। हाँ कुछ लोग ज़रूर दक्षिण में हिंदी का विरोध कर रहे हैं। लेकिन दक्षिण के सब प्रांतों में नहीं—केरल में नहीं, आंध्र में नहीं, मैसूर में नहीं—केवल तमिलनाद में। पूर्व में, असम और उड़ीसा में नहीं, केवल बंगाल में। और पश्चिम में गुजरात और महाराष्ट्र में नहीं। अर्थात् देश भर में अहिंदी भाषाभाषी राज्यों में से केवल दो राज्यो में, एक तो मद्रास में और दूसरे बंगाल में, हिंदी का विरोध हो रहा है। हिंदी का विरोध कुछ शोर मचाने वाले कर रहे हैं, जिनका स्वार्थ अंग्रेज़ी से सधता है वे कर रहे हैं ; वहाँ की जनता नहीं कर रही है। यह दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की जो रिपोर्ट हैं उससे, राष्ट्रभाषा प्रचार सभा का जो कार्य बंगाल में हुआ उससे, और हिंदी सीखने वालों की संख्या मद्रास में और बंगाल में जिस प्रकार दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है, उससे साबित हो जाता है।'

कुछ उपयोगी सुझाव

उपर्युक्त बहस के दौरान ही डॉ० गोविंद दास ने इस बात पर बल दिया कि दक्षिण भारत में तथा अहिंदी भाषाभाषी क्षेत्रों में हिंदी किस प्रकार चलायी जायगी, इसके बारे में एक ब्योरे-वार योजना बनायी जानी चाहिए, और उस योजना में निम्न बातें अत्यंत आवश्यक हैं :

(१) सारे देश में हिंदी की अनिवार्य शिक्षा। आज, कल या परसों हिंदी इस देश की राजभाषा होने वाली है और यदि हिंदी की शिक्षा सारे देश में अनिवार्य नहीं की गयी तो यह, जिन क्षेत्रों की मातृभाषा हिंदी नहीं है, वहाँ के लोगों के हितों के विरोध में होगा। आज उनको यह बात नहीं सूझती, लेकिन अगले वर्षों में यदि इन क्षेत्रों के लोगों को हिंदी की अनि-वार्य शिक्षा नहीं दी गयी तो यह बात उनके हितों के विरुद्ध जायगी, हिंदी भाषाभाषी लोगों के हितों के विरुद्ध नहीं जायगी।

(२) पाठ्क्रम के अनुसार साहित्य तैयार होना चाहिए। मैं कई बार इस बात को कह चुका हूँ और आज फिर कहता हूँ कि इस समय जिस प्रकार साहित्य तैयार कराया जा रहा है, उससे अच्छा साहित्य नहीं तैयार होने वाला है। आपने विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों को यह काम सौंप दिया है। वे अपनी इच्छानुसार स्वयं इस साहित्य को तैयार करते हैं। मैंने पहले भी कहा है कि आपको इस प्रकार के विद्वानों को केंद्र में उधार लेना चाहिए और यहाँ पर ही आपको इस प्रकार का साहित्य तैयार करवाना चाहिए। वह हिंदी में ही नहीं, सारी भारतीय भाषाओं में तैयार होना चाहिए। यदि आपने इस प्रकार के लोगों को केंद्र में ला कर रखा तो, मेरा निश्चित मत है कि, कोई भी ग्रंथ ऐसा नहीं है जो एक वर्ष के भीतर तैयार न

हो जायं, और एक वर्ष के भीतर तैयार होने वाले ग्रंथ के छपने में चार या छः महीने लगेंगे। इस प्रकार डेढ़ दो वर्ष में हम अपनी अवश्यकता का पाठक्रम तैयार कर सकते हैं।

(३) पुस्तकालयों को अधिक से अधिक हिंदी की पुस्तकें दी जायँ। जब डॉ० श्रीमाली शिक्षामंत्री थे उस समय इस प्रकार की प्रणाली चलायी गयी थी। कुछ पुस्तकें ख़रीद कर दक्षिण में बाँटी गयीं। मैं चाहता हूँ कि यह बात और बढ़ायी जाये।

'सबसे बड़ी बात यह है कि हिंदी भाषाभाषी क्षेत्रों में और अहिंदी भाषाभाषी क्षेत्रों में हिंदी के पक्ष में वायुमंडल तैयार करना चाहिए। कोई भी बड़ा काम बिना एक प्रकार का वायुमंडल तैयार किये नहीं होता। गांधी जी ने जितने बड़े-बड़े काम किये उनके लिए वायुमंडल तैयार किये। लेकिन हमारी सरकार भूल गयी कि किसी भी बड़े काम के लिए एक वायुमंडल आवश्यक है। हिंदी के पक्ष में कम से कम अहिंदी भाषाभाषी क्षेत्रों में एक वायुमंडल के निर्माण की आवश्यकता है। जितने उपाय मैंने बतलाये हैं इस वायुमंडल के निर्माण में उन सब उपायों को आपको काम में लाना चाहिए।

अंत में मैं एक और बात कहूँगा कि देश को एक सूत्र में बाँधने के लिए हिंदी ही एक मात्र उपाय है।'

—सात्यकि

अभिमत

—'माध्यम' के प्रथम दो अंक मिले। देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। वास्तव में सुंदर और उपयोगी पत्रिका है। आप को बधाई है। मेरी शुभकामना है कि इसकी दिन प्रतिदिन उन्नति हो और इससे अधिकाधिक नर-नारी लाभ उठायें।

—श्रीप्रकाश, राजपुर (देहरादून)

—'माध्यम' मिल गया और मैं उसे पूरा देख भी गया। बहुत पसंद आया। आगे आप उसका रूप और निखार सकेंगे इसका पूर्ण विश्वास है। नयी प्रतिमाओं को अधिक से अधिक स्थान दें।

—हरिवंश राय बच्चन, नयी दिल्ली।

—'माध्यम' प्रथम श्रेणी की पत्रिका है। इतने उच्च स्तर की पत्रिका निकालने के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

—गुलाबदास ब्रोकर, बंबई।

—सादगी के परिधान में मनमोहक साहित्य भर दिया है आपने। आज ऐसे ही संदर्शन और संतुलन की आवश्यकता है। हिंदी के भविष्य-निर्माण में 'माध्यम' की भूमिका स्पष्ट है।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', पटना।

—'माध्यम' का दूसरा अंक मिला। बधाई स्वीकारें। 'माध्यम' का यह अंक विचारपूर्ण सामग्री के साथ ही अत्यंत सुरुचि-संपन्न कलात्मक दृष्टि का परिचायक है। 'सहवर्ती साहित्य' और 'प्रतिपत्तिका' दोनों ही स्तंभ काफ़ी पठनीय हैं। डा० विनयमोहन शर्मा और डा० रमेश कुंतल मेघ की रचनाएँ उत्तम लगीं। 'विवेचना' में 'समय और हम' पर हर्षनारायण की समालोचना काफ़ी बौद्धिक है।

—श्याम परमार, नयी दिल्ली।

—'माध्यम' का दूसरा अंक मिला। 'विवेचना' स्तंभ मुझे सबसे अच्छा लग रहा है। श्री हर्षनारायण की समीक्षा पसंद आयी। अलबत्ता उस पर हुई बहस का जो अत्यंत संक्षिप्त विवरण आपने छापा है, वह मुझे अपर्याप्त लगा। उसे हर बार अधिक विस्तृत होना चाहिए ताकि बहस की मूल प्रवृत्तियों को ठीक से समझा जा सके। 'प्रतिपत्तिका' के अंतर्गत श्री मलयज की टिप्पणी मुझे इस दृष्टि से बड़ी संतोषप्रद और, कुछेक उलझावपूर्ण बातों को छोड़ दें तो, काफ़ी साफ़-सुथरी लगी। 'सहवर्ती साहित्य' की सामग्री पिछली बार से कुछ बेहतर है।

—अशोक वाजपेयी, नयी दिल्ली।

—'माध्यम' सुंदर निकला है, मेरी बधाई लें। 'माध्यम' के प्रकाशन से साहित्य जगत की सृजनात्मक प्रवृत्तियों को विकासोन्मुख होने की दिशा में अच्छा योग मिल सकेगा।

—देवप्रकाश गुप्त, नयी दिल्ली।

—'माध्यम' का प्रवेशांक मिला था। हिंदी में यह अपने ढंग का एक मौलिक प्रयोग है।

—नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी, भोपाल।

—'माध्यम' में मुझे विविधता, ठोसता और जागरूकता मिली है। इसे पढ़ कर तृप्ति अनुभव होती है। लगता है, कुछ पढ़ा है। सचमुच 'माध्यम' की 'कॉकटेल' बहुत स्वादु है।

—सुरेश कुमार, हरिद्वार।

शब्द संख्या	प्रथम दो खंड प्रकाशित	पृष्ठ संख्या
प्रथम खंड २१६४८	आकार	प्रथम खंड ६१८
द्वितीय खंड २११२७	डिमाई चार पेजी	द्वितीय खंड ५९९

प्रति खंड का मूल्य पचीस रुपये

प्रकाशन के पूर्व आर्डर देने पर ५ खंडों का मूल्य सौ रुपये

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

प्रकाशक तथा मुद्रक : रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

माध्यम

वर्ष १ : अंक ४
अगस्त १९६४

संपादक - बालकृष्ण राव

हिन्दी साहित्य सम्मेलन - प्रयाग

वर्ष १ : अंक ४
निमित्तमात्र भव
अगस्त १९६४

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैंकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविताएँ

कहानियाँ

सहवर्ती साहित्य

माध्यम

का पाँचवाँ अंक

प्रस्तुत कर रहा है :

- 'सहवर्ती साहित्य' में 'कश्मीरी' की शंभुनाथ भट्ट 'हलीम' द्वारा चुनी और अनूदित रचनाएँ।

- विवेचना और समीक्षाएँ।

- डाक्टर नगेन्द्र तथा प्रोफ़ेसर शिवाधार पांडेय के लेख।

- कमल जोशी की कहानी।

- अवधनारायण की 'बंबई की डायरी' का पहला, मार्मिक पृष्ठ।

विवेचना

प्रतिपत्तिका

आवरण चित्र : जगदीश गुप्त

रूस में अठारह दिन

बालकृष्ण राव

जून १० से २७ तक—कुल अठारह दिन—मैंने सोवियत संघ में विताये। सच पूछा जाय तो पूरे अठारह भी नहीं, क्योंकि मैं १० जून की शाम को ५ बजे के आसपास मास्को के हवाई अड्डे पर उतरा था और २७ को दिन के बारह बजे से कुछ पहले मेरा हवाई जहाज़ मास्को से दिल्ली के लिए रवाना हुआ। हिसाब लगाया जाय तो अठारह क्या पूरे सत्रह दिन भी शायद न बैठें। पर मैं इसे अठारह दिन की यात्रा ही मानूंगा क्योंकि १० जून को मेरे मास्को पहुँचने के बहुत देर बाद सूरज डूबा था और २७ को प्रायः मध्याह्न तक मैं मास्को में ही था। एक बात और भी है जो मुझे अठारह की संख्या की ओर आकृष्ट करती है: सत्रह या उन्नीस दिन को हम भले ही अपर्याप्त मान लें पर अठारह दिन की अवधि को तो किसी तरह भी न.काफ़ी मानने की हिम्मत हम कर ही नहीं सकते—क्योंकि अठारह दिनों में समूचा महाभारत पूरा हो गया था! यदि आर्य संस्कृति, इतिहास और दर्शन पर युगों तक प्रभाव डालने वाला महाभारत अठारह दिन में पूरा हो सकता था तो अठारह दिनों में पूरी हुई अपनी रूस-यात्रा को ही मैं अपर्याप्त क्यों मानूं?

पर सचमुच अठारह दिन अपर्याप्त थे —बहुत, बहुत अपर्याप्त। २७ जून को मास्को से विदा होते समय मेरे मन में यही भाव था कि अभी-अभी ही तो यहाँ आया था, न कुछ जी भर देख पाया, न जान पाया। कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे एक बहुत तेज़ चलने वाली रेलगाड़ी में बैठे, खिड़की से बाहर झाँकते, बीच-बीच में सहयात्रियों से हँसी-मज़ाक करते, अठारह दिन का सफ़र काट दिया और अंत में जहाँ से चला था फिर वहीं वापस आगया। इसमें संदेह नहीं कि इस सफ़र में ऐसा बहुत कुछ देखा और अनुभव किया जिसमें से किसी एक के लिए यह सारा सफ़र किया जा सकता था, फिर भी यात्रा की समाप्ति पर एक अतृप्ति का अनुभव ही प्रधान था। और इस अतृप्ति को ही मैं अपनी यात्रा की मुख्य भावनात्मक उपलब्धि मानता हूँ।

इससे पहले भी एक बार (१९५७ में) मैं रूस गया था। उस बार मैंने दस दिन मास्को में विताये थे, चार लेनिनग्राड में। इन सात वर्षों में रूस के संबंध में जो कुछ सुना, पढ़ा, सोचा उस सबसे एक बार फिर वहाँ जाने की इच्छा बढ़ती गयी। और अकस्मात एक दिन यह अवसर मिल ही गया। मास्को में जून ८ से १० तक "समसामयिक अफ़्रीकी एशियाई लेखन" की समस्याओं पर विचार-विनिमय के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय परिगोष्ठी होने जा रही थी जिसमें भाग लेने के लिए प्रत्येक निमंत्रित देश को दो लेखक-प्रतिनिधि भेजने थे। भारत सरकार के तत्वावधान में चलने वाली 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्' ने मुझे और मैसूर-निवासी प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री आर० के० नारायण को इस परिगोष्ठी में भाग लेने के लिए मास्को भेजने का निश्चय किया—और हम दोनों को तार द्वारा सूचित करके तुरंत उत्तर माँगा। विदेश यात्रा के लिए तैयार होना थोड़े समय की अपेक्षा करता है, और समय हमें बहुत ही कम दिया गया था। फिर भी हम दोनों ने यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया और ६ जून को मास्को के लिए प्रस्थान करने के उद्देश्य से दिल्ली के पालम हवाई अड्डे पर पहुँच गये। पर हम उस दिन नहीं जा सके। मौसम इतना खराब था कि हमारा हवाई जहाज़ पालम के ऊपर कुछ देर मँडराते रहने के बाद बिना वहाँ उतरे ही आगे चला गया। हमें अगले विमान की प्रतीक्षा करने के लिए दिल्ली में ही रुक जाना पड़ा।

परिगोष्ठी ८ जून को आरंभ होकर १० को समाप्त होने वाली थी, पर अभाग्यवश हमें १० के पहले कोई हवाई जहाज़ मास्को जाने के लिए मिल ही नहीं सका। अतः परिगोष्ठी की समाप्ति के दिन हम लोग दिल्ली से चले और जिस समय, शाम के ५ बजे के करीब, हम मास्को के हवाई अड्डे पर उतरे उस समय तक वह समाप्त हो चुकी थी। हमें परिगोष्ठी में भाग न ले पाने का दुःख था तो अवश्य, पर विशेष नहीं—क्योंकि हम यह समझते थे कि औपचारिक भाषणों के अतिरिक्त उसके तत्वावधान में और कुछ होना संभव नहीं था। और औपचारिक भाषण न सुनकर कोई कुछ गँवाता तो है नहीं। हमें दुःख इसका था कि परिगोष्ठी में सम्मिलित न हो पाने के कारण हमने अनेक देशों के प्रतिनिधि लेखकों से मिलने और अनौपचारिक वातावरण में बातचीत करने, स्नेह-सौहार्द बढ़ाने, का अवसर खो दिया। फिर भी हम दोनों प्रसन्नता के साथ मास्को में प्रविष्ट हुए: श्री नारायण पहली बार मास्को देखने की इच्छा से और मैं सात वर्ष पुरानी स्मृतियों के नवीकरण की उत्सुकता से प्रेरित और उत्साहित थे।

मैं सचमुच १९६४ के मास्को को देखकर आश्चर्य-चकित रह गया : सात वर्षों की स्वल्प अवधि में इतनी प्रगति, इतना परिवर्तन—भारतवासी के लिए तो कल्पनातीत ही है। इतने दिनों में मास्को का कायापलट हो गया था : नींद से उठते हुए-से १९५७ के मास्को की जगह मैं देख रहा था एक नया मास्को, जाग्रत, सक्रिय, सर्वथा जीवंत। मास्को के मुख्य राजमार्गों में गोर्की स्ट्रीट की गणना होती है—उसी गोर्की स्ट्रीट में, हाल ही में बनकर तैयार हुए 'मिंस्क होटल' में हम ठहराये गये थे। अत्यंत 'आधुनिक' ढंग का होटल, हर जगह चहल-पहल, नीचे गोर्की स्ट्रीट में आती-जाती मोटरगाड़ियों और नर-नारियों की भीड़—मैंने श्री नारायण से पूछा कि उन्हें होटल के सामने गोर्की स्ट्रीट में खड़े होकर यूरोप-अमरीका का कौन सा नगर याद आता है। वे अनेक बार यूरोप और अमरीका हो आये है। उन्होंने कुछ देर सोचकर कहा, "यह स्थान लंदन की ऑक्सफ़र्ड स्ट्रीट की याद दिलाता है।" उस पर मैंने आपत्ति की। पूछा "ऑक्सफ़र्ड स्ट्रीट का भला कौन सा हिस्सा इतना सुन्दर है ?" श्री नारायण ने कुछ और सोचकर कहा, "नहीं, ऑक्सफ़र्ड स्ट्रीट नहीं, यह स्थान न्यूयार्क की फ़िफ़्थ एवेन्यू की याद दिलाता है।"

मुझे यूरोप गये सात और अमरीका गये पंद्रह वर्ष हो चुके थे। मुझे उस शाम गोर्की स्ट्रीट की चहल-पहल, मोटरगाड़ियों का अनवरत आवागमन, लोगों की भीड़ और उनके चेहरों पर स्पष्ट झलकने वाली निश्चिंतता और प्रसन्नता की आभा और ऊष्मा, दूकानों में आकर्षक सामग्री की विपुलता, सभी कुछ १९५७ के मास्को की अपेक्षा समृद्धि और सुविधाओं का प्रदर्शन-सा करने वाले पाश्चात्य देशों की याद दिला रहा था। श्री नारायण ने मेरे प्रश्न का जो उत्तर दिया उससे मुझे लगा कि मैं ग़लत नहीं सोच रहा था। १९५७ के मास्को में बहुत कुछ था, पर वह उल्लास, वह निश्चिंतता नज़र नहीं आती थी जो अब तो अंधा भी देख सकता है। १९५७ का मास्को अभिभूत करता था, आज का मास्को आकर्षित करता है।

शाम को हम दोनों परिगोष्ठी में आये हुए लेखकों के सम्मान में आयोजित जलपान में सम्मिलित हुए। वहीं पता चला कि हम दोनों की अनुपस्थिति के कारण भारत की ओर से परिगोष्ठी में डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने दो शब्द कह दिये थे। सुनीति बाबू उस जलपान में उपस्थित थे। संयोग से फ़्रांस के ज़ाँ-पॉल सार्त्र भी थे। प्रसिद्ध रूसी कवि सिमोनोव से मेरा पुराना परिचय था—सार्त्र उन्हीं के साथ आये थे। कई लोगों से भेंट हुई। वर्षों बाद मिलीं श्रीमती अत्तिया हुसैन जो लंदन में रहती हैं, अंग्रेज़ी में लिखती हैं पर अंतर्मन से भारतीय ही हैं। मालूम हुआ कि अत्तिया प्रतिनिधि के रूप में नहीं, अनौपचारिक व्यक्तिगत निमंत्रण के आधार पर परिगोष्ठी में सम्मिलित हुई थीं।

सवेरे लेखक संघ में जाने पर यह ज्ञात हुआ कि परिगोष्ठी में सम्मिलित लेखकों को साइबेरिया और उज़बेकिस्तान की यात्रा पर ले जाने का आयोजन है। श्री नारायण शीघ्र ही भारत लौटना चाहते थे, अतः उन्होंने यात्रा पर जाना अस्वीकार कर दिया। मैंने तो खैर स्वीकार किया ही।

हमारी यह यात्रा १३ जून को आरंभ हुई और २३ को समाप्त। यात्रा में मेरे साथ परिगोष्ठी में सम्मिलित कुछ ही लेखक थे—पाकिस्तान और मिस्र के दोनों प्रतिनिधि, अल्जी-

रिया, नैपाल और जापान के एक-एक प्रतिनिधि, विशेष रूप से निमंत्रित दो लेखक (श्रीमती अत्तिया हुसेन तथा एक अन्य) और सोवियत लेखक संघ के दो वरिष्ठ पदाधिकारी। जापान के प्रतिनिधि प्रोफ़ेसर कुरोदा के साथ उनकी पत्नी भी थीं और नेपाल के प्रतिनिधि, उपमंत्री श्री केदार मान 'व्यथित' के साथ उनके निजी सचिव थे । इनके अतिरिक्त कुछ दुभाषिये भी हमारे साथ थे । मैंने पहुँचते ही यह कह दिया था कि मैं हिंदी के माध्यम से ही बोलना-समझना चाहूँगा, अतः सोवियत लेखक संघ के अधिकारियों ने कृपापूर्वक मास्को विश्वविद्यालय की एक बहुत अच्छी हिंदी छात्रा (वीरा मकारिचेवा) को मेरे दुभाषिये के रूप में साथ ले लिया था। उसकी सहायता के कारण ही मेरे लिए यह संभव हो सका कि रूस की यात्रा में एक बार भी मुझे किसी औपचारिक या अर्ध-औपचारिक गोष्ठी में अंग्रेज़ी का सहारा लेने की ज़रूरत नहीं हुई। मन में बार-बार यह बात उठती थी कि कैसी विडम्बना है कि रूस में तो हिंदी से काम चल जाता है, भारत में ही नहीं चल पाता !

यहीं एक बात बताना चाहूँगा। जब तक हम लोग साइबेरिया के ब्राट्स्क नगर में पहुँचे तब तक मेरे सभी सहयात्री एक-दूसरे से परिचित ही नहीं हो चुके थे , अनेक बार एक-दूसरे को बोलते भी सुन चुके थे । ब्राट्स्क में एक दिन अरब लेखक सआद अल्दीन वाहबा ने मुझसे कहा, 'आप भलीभाँति अंग्रेज़ी जानने के बावजूद हिंदी ही बोलते हैं, तो क्या मैं यह समझूँ कि आप की गिनती "हिंदी फ़ैनटिक्स" (हिंदी कठमुल्लों) में की जाती है ?" इस प्रश्न से मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने पूछा कि 'हिंदी फ़ैनटिक्स' के बारे में उन्होंने कब और कहाँ सुना था। सआद ने बताया कि परिगोष्ठी में श्री नारायण और मेरी अनुपस्थिति के कारण सुनीति बाबू को भाग लेने का अवसर मिला था। अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि कुछ 'हिंदी फ़ैनटिक्स' को छोड़कर भारत के सभी लोग अंग्रेज़ी के पक्ष में हैं।' सआद ने बताया कि यह सुनकर उन्हें आश्चर्य और खेद हुआ था और उन्होंने काहिरा से प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्र 'अल जमहूरिया' (जिसके वे उप प्रधान संपादक हैं) एक टिप्पणी प्रकाशनार्थ भेजी थी जिसमें सुनीति बाबू की बात उद्धृत कर उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। उस दिन मुझे इसका दुःख हुआ कि मैं परिगोष्ठी में सम्मिलित नहीं हो सका। सआद के मन में सुनीति बाबू ने जो भ्रांति उत्पन्न कर दी थी उसे मैं पूरी तरह दूर कर सका—पर 'अल जमहूरिया' में ज़ो कुछ तब तक छप चुका होगा उसके कारण मिस्र में कुछ भ्रांति तो फैल ही गयी होगी। यदि सुनीति बाबू सचमुच यह समझते हैं कि देश का बहुमत अंग्रेज़ी के पक्ष में है, तो उनकी समझ का क्या कहना !

अपनी यात्रा में हम मास्को से चलकर सीधे इर्कुट्स्क पहुँचे—साइबेरिया के मध्य में, भारत की पूर्वी सीमा से कहीं आगे। रूस के विस्तार का कुछ अंदाज़ इस बात से होता है कि मास्को से दिल्ली की अपेक्षा इर्कुट्स्क की दूरी अधिक है—और इर्कुट्स्क से उतनी ही लंबी यात्रा और की जाय तब कहीं रूस की पूर्वी सीमा मिलती है। कहते हैं ऊँट जब तक पहाड़ के नीचे नहीं जाता तब तक अपने को सबसे ऊँचा समझता है। भारतवासी के लिए अपने देश की विशालता से स्वयम् आक्रांत रहना स्वाभाविक है, क्योंकि संसार के अधिकतर देश भारत से कहीं छोटे हैं। पर रूस पहुँचकर तो 'विस्तार' और 'दूरी' जैसे शब्दों का प्रयोग करते संकोच-सा होने लगता है।

हमारे लिए अपने देश की विशालता और उसमें समाहित जातियों, भाषाओं और संस्कारों का वैविध्य राष्ट्र के एकीकरण की बहुत बड़ी समस्या बन गया है। राष्ट्रीय चेतना और देशप्रेम की भावना भारतीय मानस में प्रतिष्ठित कराने की चेष्टा हमारे नेतागण जाने कितने वर्षों से करते आ रहे हैं। यह देख कर विस्मित हो जाना पड़ता है कि रूस में, जिसका विस्तार भारत से कहीं अधिक है और जहाँ भारत के समान अनेक जातियों के और अनेक भषाएँ बोलने वाले लोग रहते हैं, राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या कैसे सुलझा दी गयी है। हम मास्को से बैकाल झील तक और बैकाल झील से समरक़ंद में तैमूर की क़ब्र तक घूम आये, पर हमें सर्वत्र प्रतिक्षण पग-पग पर यह ज्ञात होता रहा कि हम रूस में ही हैं। ताशकंद, समरक़ंद और फ़रग़ाना में हमें मौसम, पेड़-पौधे, सड़क और मकान, लोगों के रूप-रंग और उनकी पोशाक और भाषा, मिलने-जुलने का ढंग और खान-पान, सभी कुछ साइबेरिया और मास्को से नितांत भिन्न मिले। वहाँ तो लगता था कि जैसे भारत के ही किसी प्रदेश में आ गये हैं। पर वहाँ भी ऐसा कभी नहीं लगा कि वह प्रदेश रूस का ही एक अंग नहीं है। इन नगरों में उज़बेकी भाषा, उज़बेकी संस्कृति और उज़बेकी साहित्य के प्रति सहज ममता ज्यों की त्यों बनी है, पर इस ममता के साथ रूसी राष्ट्रीयता का भाव और रूसी भाषा और साहित्य के प्रति आदर की भावना भी है। मैंने उज़बेकी कविताएँ सुनीं, उज़बेकी संगीत का आस्वादन किया, उज़बेकी नृत्य देखे। मात्र इतने से अनुभव के आधार पर यह कहना भले ही दुःसाहस हो पर कहे बिना रह भी नहीं सकता कि मुझे एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं लगा कि उज़बेकी संस्कृति और उज़बेकी व्यक्तित्व रूस के बोझ के नीचे दबे हुए हैं। वास्तव में अपनी संपूर्ण यात्रा में मुझे कहीं, कोई किसी प्रकार के दृश्य या अदृश्य बोझ के नीचे दबा नहीं जान पड़ा। इस पर भी यदि कहा जाय कि कोई विदेशी व्यक्ति सम्मानित अतिथि के रूप में १८ दिन की यात्रा करके उस बोझ को नहीं देख सकता पर बोझ है अवश्य और लोग उसके नीचे दबे हुए हैं, तो मैं केवल बँगला के प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय परशुराम की एक कहानी की याद दिला सकता हूँ जिसमें वैद्यराज ने नाड़ी देख कर मरीज़ से पूछा, 'तुम्हारे दाँत में दर्द होता है न ?' और मरीज़ के यह कहने पर कि 'दर्द नहीं होता' उन्होंने बड़ी गंभीरता से सिर हिला कर कहा 'होता अवश्य होगा, तुम्हें मालूम भले ही न होता हो'।

लगे हाथों एक बात और कह दूँ। यों तो इच्छानुसार कहीं भी आने-जाने में किसी प्रकार की रोक-टोक, दिक़्क़त या असुविधा नाम-मात्र के लिए भी नहीं थी, पर इतना ही नहीं, होटल के अपने कमरे में लगे टेलीफ़ोन के द्वारा होटल के ही अन्य कमरों से नहीं समस्त मास्को में किसी से भी सीधे संपर्क स्थापित किया जा सकता था। इतने विशाल होटल के प्रत्येक कमरे में स्वतंत्र टेलीफ़ोन का होना—जिससे सीधे डायल पर नंबर घुमा कर शहर के किसी भी टेलीफ़ोन से सम्पर्क स्थापित किया जा सके—न केवल तकनीकी श्रेष्ठता का प्रमाण है बल्कि इस बात का भी कि आज के रूस में सामान्य व्यक्ति के दैनंदिन जीवन पर किसी प्रकार के नियंत्रण की छाया भी नहीं पड़ती। विदेशी अतिथि भी सामान्य नागरिक के समान मुक्त अनुभव करता है।

ताशकंद तो नहीं, पर उज़बेकिस्तान के अन्य नगर कुछ पिछड़े-से ज़रूर जान पड़े। समरक़ंद और फ़रग़ाना में अनेक कच्चे मकान मिले, बाज़ार में गंदगी मिली, खुली नालियाँ मिलीं।

पर साथ ही साथ आधुनिक प्रगतिशीलता के यथेष्ट प्रमाण भी मिले। मेरे सहयात्री अरब लेखकों ने कहा कि समरक़ंद में प्रसिद्ध प्राचीन मक़बरों को जिस उपेक्षित दशा में रखा गया है वह देखकर उन्हें दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि यदि वे मक़बरे किसी इस्लामी देश में होते तो उन्हें कहीं अच्छी तरह रखा गया होता। संभव है उन मक़बरों की उपेक्षा की गयी हो, पर यह भी संभव है कि यदि उपेक्षा की जाती तो आज उनके अवशेष भी न रहते। जो भी हो, इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि इन इस्लामी पवित्र स्थानों को मात्र ऐतिहासिक महत्व के स्थानों के रूप में रखा जाना—और हमें दिखाया जाना—मुझे तो अच्छा लगा। मैं समझता हूँ कि आधुनिक सभ्यता के एक स्तर पर पहुँच कर मनुष्य अनिवार्यतः तीर्थस्थानों के धार्मिक महत्व की अपेक्षा उनके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व को अधिक मान्य और ग्राह्य समझने लगता है। तैमूर की क़ब्र और उलुगबेग की अनुसंधानशाला को देखकर मझे उपेक्षा का संदेह नहीं हुआ—न 'रेगिस्तान' के फाटक, आँगन और मदरसों को देखकर। उन मदरसों की दीवारों पर अंकित पुराने चित्र बहुत धुँधले हो गये हैं। हमने देखा कि अनेक कारीगर बड़ी सावधानी से उन रंगों के नवीकरण के कार्य में लगे हुए थे।

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व के स्थान हमने उज़बेकिस्तान में देखे। साइबेरिया में हमें आधुनिक यंत्रशालाओं और नवनिर्माण की योजनाओं का परिचय प्राप्त हुआ। इर्कुट्स्क से कुछ दूर विराट बाँध, प्रायः दो सौ मील उत्तर ब्राट्स्क नगर के पास विशाल बिजलीघर और अलुमुनियम का कारखाना, संसार की सबसे गहरी झील बैकाल पर चलने वाली अदभुत् राकेट-बोट, झील की तट पर आधुनिक संग्रहालय और प्रयोगशाला—इन्हें देख कर लगता था कि यह अतीत की अभिशप्त भूमि रूस को भावी समृद्धि का वरदान दे रही है। अलुमुनियम के कारखाने में प्रवेश करते समय दो-चार कारीगरों ने मुझे और मेरे दुभाषिये का कार्य करने वाली छात्रा वीरा को रोका। साथ के और लोग भीतर जा चुके थे। कारीगरों ने मुझसे पूछा, 'आप लोग लेखक हैं, कवि हैं, मगर देखते फिर रहे हैं कल-कारखानों को। इसमें आपकी रुचि कैसे हो सकती है?' उत्तर में मैंने कहा कि लेखक और कवि को कोई भी सामाजिक कार्य प्रेरणा दे सकता है, हम कल-कारखानों को विशेषज्ञ की दृष्टि से नहीं देख सकते पर जिस दृष्टि से हम देख सकते हैं उससे देखना विशेषज्ञ की दृष्टि से देखने की अपेक्षा कम सार्थक या मूल्यवान नहीं होता। इस वार्तालाप में मेरा उत्तर उल्लेखनीय नहीं है, उल्लेखनीय है उस कारीगर का प्रश्न। वह कारीगर सभ्यता के उस स्तर से ऊपर उठ चुका था जहाँ व्यक्ति यह सहज ही स्वीकार कर लेता है कि जो उसे प्रभावित करता है वह औरों को भी करता ही होगा।

सचमुच अठारह दिन की यात्रा में कोई कितना देख, जान, समझ सकता है? पर यदि अठारह दिन के बाद यात्री और अधिक देखने, जानने, समझने की प्यास लेकर घर लौटे तो उसके अठारह दिन व्यर्थ नहीं बीते।

● ●

कहानी का माध्यम ग्रौर आधुनिक भावबोध

रामस्वरूप चतुर्वेदी

साहित्य में काव्यरूपों के उदय, विकास और विघटन का अध्ययन अपने आप में तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही उसके माध्यम से सर्जनात्मक प्रक्रिया की गतिविधि को भी दूर तक समझा जा सकता है। महाकाव्य जो शताब्दियों तक न केवल इस देश में वरन सभी उन्नत देशों में सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बना रहा, समसामयिक साहित्य के परिवेश से सहसा क्यों अलग हो गया है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके किसी भी संतोषजनक उत्तर के अंतर्गत समूचे भावबोध के विकास का आख्यान आ जाता है। समकालीन संवेदना की सूक्ष्मता की दृष्टि से महाकाव्य का ढाँचा कैसे बेडौल हो गया है, यह परीक्षण मात्र काव्यरूप का इतिहास न बता कर, यथार्थ के प्रति बदलते परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन करता है। इसी प्रकार नये साहित्य में अकाल्पनिक गद्यवृत्तों की एक पूरी की पूरी शृंखला—संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, यात्रा-संस्मरण आदि—का जुड़ जाना एक आकस्मिक घटना न हो कर रचनाकार की नवविकसित संवेदनशीलता का परिचायक है। ये नये काव्यरूप भाव-संकुलता से अलग, मात्र भाषिक स्तर पर लेखक की नवीन सर्जनात्मक क्षमता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

काव्यरूपों के अध्ययन के प्रसंग में एक बात और स्मरणीय है, और वह यह कि इनका विकास या कि विघटन प्रायः किसी एक साहित्य विशेष तक सीमित न रह कर सभी उन्नत साहित्यों में कमोबेश एक रूप में मिलता है। महाकाव्य के क्रमशः अप्रचलन तथा अकाल्पनिक गद्यवृत्तों के उदय की बात कुल मिला कर यूरोपीय और भारतीय सभी साहित्यों पर लागू होती जान पड़ती है। विश्व की सीमाओं के संकुचित होने का यह संवेदनात्मक स्तर पर एक अतिरिक्त साक्ष्य माना जा सकता है। बहरहाल, यह स्थिति संप्रति हमारी विवेचना का विषय नहीं है।

काव्यरूपों और माध्यमों की समकालीन गतिविधि में एक अन्य उल्लेखनीय स्थिति है गीतकाव्य, ललित निबंध और कहानी के प्रसंग में। ये तीनों काव्यरूप हिंदी में, और किसी सीमा तक अन्य साहित्यों में भी, आधुनिक भावबोध को वहन करने में अक्षम होते जान पड़ते हैं। आरंभ में गीत, निबंध और कहानी की सम्मिलित चर्चा के बाद मुख्य रूप से कहानी के रचना-विधान

और रूपात्मक स्थानांतरण का विश्लेषण, विशेषतः समकालीन परिस्थितियों के अंतर्गत, प्रस्तुत निबंध का मुख्य उद्देश्य होगा।

गीत, निबंध और कहानी का प्रकृत रचना-विधान एक ही स्थिति या मनःस्थिति के अंकन योग्य होता है, इसे प्रायः सभी लेखक और साहित्य के अध्येता स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि उस एक स्थिति या मनःस्थिति की पकड़ का ढंग तीनों माध्यमों में अलग-अलग होता है। गीत के शिल्प में एक भाव को उत्तरोत्तर भी विकसित किया जाता है, और उसे कई कोणों से प्रस्तुत करने की चेष्टा भी हो सकती है। अर्थात उसमें चरम सीमा का विधान हो भी सकता है और नहीं भी। निबंध, या कि स्पष्टता के लिए कहें, ललित निबंध, चरम सीमा को नहीं नियोजित करता। एक मूल भाव को व्यक्त करने के लिए वह अपेक्षाकृत शिथिल और अनौपचारिक शैली का विन्यास करता है। उसके अंतर्गत भाव का विकास अधिक न हो कर, उसका लालित्यपूर्ण कथन और व्याख्या प्रधान होती है। कहानी किसी एक परिस्थिति या मनःस्थिति पर कई कोणों से आलोक फेंकती हुई सामान्यतः भाव-विकास और चरम सीमा के शिल्प को अपनाती है। पर इस पद्धति-गत भिन्नता के बावजूद ये तीनों काव्यरूप किसी एक विशिष्ट भाव को अंकित करने के लिए माध्यम होते हैं। और रचना-विधान की इस मौलिक एकता के आधार पर ही इन तीनों माध्यमों के प्रभाव की एकरूपता और सघनता एक मत से स्वीकार की जाती है।

अपने प्रभाव के नियोजन की दृष्टि से उपन्यास और कहानी के बीच यहाँ तात्विक अंतर देखा जा सकता है। कहानी चरम सीमा का उपयोग कर के, अपने अपेक्षया संक्षिप्त आकार में भाव-विकास की पद्धति पर बल दे कर, और किसी एक ही स्थिति को कई कोणों से आलोकित कर के, अपने अंतिम प्रभाव की सघनता और तीव्रता पर सारी दृष्टि केंद्रित करती है। पर उपन्यास की निष्पत्ति इस रूप में नहीं होती। उसकी रचना-दृष्टि (जिसका कहानी में अभाव रहता है) पाठक के सामने सहसा नहीं आती, वरन धीरे-धीरे उसके मन में विवृत होती है। इसीलिए जहाँ कहानी अपना प्रभाव पाठक के मन पर एकाएक जमा लेती है, उपन्यास का प्रभाव उतना तात्कालिक और सघन नहीं होता। उसकी रचना-दृष्टि अपेक्षया देर में, समूची कृति के बीच से अपना रूपाकार ग्रहण करती है, पर अपेक्षया देर तक अपनी गूँज-अनुगूँज उत्पन्न करती रहती है। कहानी का प्रभाव उतना गहरा और दूरगामी नहीं होता।

उपन्यास, नाटक या कविता में यह रचना-दृष्टि क्यों होती है, और कैसे बनती है, यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है। और इसी के साथ-साथ यह भी देखा जा सकता है कि कहानी और गीत में यह रचना-दृष्टि क्यों नहीं होती, या कि ठीक-ठीक कहें तो आज क्यों नहीं बन पाती, जिसके कारण इन माध्यमों की उपलब्धियाँ अब सामान्यतः तृप्तिकर भले मान ली जाएँ, महत्वपूर्ण नहीं मानी जातीं। ऊपर हमने उपन्यास के सिलसिले में 'गूँज-अनुगूँज' शब्द का प्रयोग किया है। यह गूँज-अनुगूँज, यानी प्रभाव का एक धीमा पर गत्यात्मक क्रम या सिलसिला, रचना-दृष्टि के द्वारा संभव हो पाता है। और यह रचना-दृष्टि स्वयं किसी कृति में निहित और नियोजित क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है। प्रत्येक उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण रचना में विभिन्न परिस्थितियों और मनः-स्थितियों की क्रमिक टकराहट से रचनाकार अपनी दृष्टि को व्यंजित करता है। हमारे सम्मुख

प्राय: यह समस्या आती है कि किसी कृति विशेष के किस पात्र या किन पात्रों के मंतव्य रचनाकार के अपने माने जा सकते हैं। 'कामायनी' में मनु या श्रद्धा या इड़ा या लज्जा या काम, किसका संवाद 'प्रसाद' का माना जाना चाहिए? प्राय: सबकी अलग-अलग बात होती है, कभी-कभी परस्पर विरोधी भी। तब यह कहा जाता है कि कृति में रचनाकार किसी माध्यम-चरित्र की अवतारणा करता है, जिसके द्वारा वह अपनी दृष्टि को व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ, 'कामायनी' में श्रद्धा को माध्यम-चरित्र माना जाता है। पर किसी भी पात्र को लेखक का प्रतिनिधि मान लेना कृति के रचनात्मक संघटन की उपेक्षा करना है, और पात्र तथा लेखक की एक बड़े कच्चे और अकलात्मक स्तर पर अभिन्नता स्थापित करना है।

रचना-दृष्टि का अवबोध किसी एक पात्र या पात्रों के माध्यम से नहीं होता। 'प्रसाद' वस्तुत: 'कामायनी' के किसी भी पात्र के मुख से नहीं बोलते, अत: किसी उद्धरण को सहसा 'प्रसाद' का मत नहीं माना जा सकता। कृति की मूल दृष्टि विभिन्न चरित्रों, स्थितियों और मन:स्थितियों के आपसी संघात तथा टकराहट में से उपजती है। रचना में निहित द्वंद्वात्मक संघर्ष और क्रिया-प्रतिक्रिया से ही रचना-दृष्टि का रूप बनता है, और 'सरल-सीधे' जीवन के साथ-साथ 'जटिल' जीवन का अंकन भी संभव होता है। गीत और कहानी का रचना-विधान ऐसा है कि उसमें मूलत: एक स्थिति या मन:स्थिति का ही चित्रण होता है, और इसीलिए वह किसी द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का अंकन नहीं कर पाती, जो आज के जटिल होते हुए जीवन-अनुभवों को व्यक्त करने के लिए नितांत आवश्यक है। मानव जीवन की रूमानी और अपेक्षया 'सहज' स्थितियों को गीत और कहानी ने काफ़ी सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। अब तक साहित्यिक परिदृश्य पर उनकी पूरी संगति रही। किंतु अब यथार्थ से जटिलतर होते हुए संबंधों को गीत तथा कहानी जैसे अपेक्षया सहज-सरल और एक-सघन-मन:स्थिति-प्रधान माध्यमों के द्वारा व्यक्त करना क्रमश: कम संभव होता गया है। इसी कारण समसामयिक साहित्य में ये गतिशील माध्यम न रह कर स्थिर माध्यम बन गये हैं।

यथार्थ के प्रति परिवर्तित और जटिलतर होते हुए संबंधों की नयी स्थिति प्रस्तुत निबंध की एक मूल उपपत्ति है। इससे हमारा क्या अभिप्राय है, यह चर्चा भी मानो समकालीन विश्व-दृष्टि की व्याख्या का यत्न होगा। अभी उतने तत्वपरक प्रसंगों में न जाने पर भी, कुछ ऐसे संकेत अवश्य दिये जा सकते हैं, जिनसे यथार्थ के प्रति परिवर्तित दृष्टि का कुछ आभास मिल सके। दो भिन्न साहित्यिक युगों के उदाहरणों से बात शायद कुछ अधिक स्पष्ट हो। वर्तमान शताब्दी के आरंभिक दशकों में हिंदी रचनाकारों ने अधिकतर यथार्थ को 'हृदय-परिवर्तन' और 'संयोग' के उपकरणों द्वारा पकड़ना चाहा था। प्रेमचंद, सुदर्शन, कौशिक के कथा-साहित्य में, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी के खंडकाव्यों में, 'प्रसाद' के आरंभिक नाटकों में यह दृष्टि साफ़ उभर कर आती है, जो मूलत: आदर्शवादी तथा उदात्तपरक चिंतनधारा पर आधारित है। पर इस दृष्टि की सीमा स्वयं आगे चल कर 'प्रसाद' ने ही समझ ली जब उनके उत्तरकालीन नाटक 'स्कंदगुप्त' के चरित्र विजया, भटार्क और शर्वनाग बदल कर भी नहीं बदलते—कई किस्तों में उनका हृदय-परिवर्तन संभव हो पाता है। यह यथार्थ को अधिक यथार्थपरक ढंग से देखने की चेष्टा है।

समसामयिक दृष्टि इसके बाद और यथार्थपरक हुई है। प्रत्येक घटना, चरित्र, स्थिति, मनः-स्थिति अब अपनी योग्यता पर समझे जाते हैं, उन्हें समझने के लिए पहले से बना-बनाया कोई तरीक़ा स्थिर नहीं किया जाता––कुछ-कुछ होम्योपैथी के सिद्धांतों के अनुसार, जहाँ बीमारी नहीं, केवल बीमार हैं, और प्रत्येक बीमार से जूझने का अलग ढंग है। यथार्थ से हर टकराहट को, अनुभूति के प्रत्येक क्षण को, अद्वितीय मान कर उसकी अपनी स्थिति में स्वीकार करना रचनाकार से हर बार एक नयी पकड़ की माँग करेगा। इस प्रणाली में स्पष्ट ही अधिक अमूर्तन-कौशल अपेक्षित होगा।

इस स्थिति की पूर्वस्थिति से तुलना दोनों दृष्टियों के अंतर को व्यक्त करती है। 'हृदय-परिवर्तन' या 'संयोगों' की कथा-दुनिया में सूक्ष्म मानवीय चरित्र की प्रायः पूर्वनिश्चित और स्थिर मानों पर स्थूल यथार्थवादी व्याख्या होती थी––मनुष्य देवता है, राक्षस है, या देवता होने के उपक्रम में राक्षस है। दो अतियों से बचने के लिए आदर्शोन्मुख यथार्थ के मध्यम मार्ग को भी आविष्कृत किया गया। पर इन सभी दृष्टियों में सर्जनात्मकता के सोपान पहले से स्थिर कर लिये गये हैं। यह पूर्वदृष्टि-निर्धारण रचना की स्वायत्तता को खंडित करता है। यह मानो जटिलता को जटिल स्तरों पर समझने के लिए न जा कर, जटिलता को सरल बना कर समझने की कोशिश है, और इस समझौते में यथार्थ की अच्छी पकड़ संभव नहीं। नया रचनाकार इसके विपरीत कुछ 'दिया हुआ' मान कर नहीं चलता, उसकी रचनात्मक प्रक्रिया अपने ही आंतरिक तनाव में से विकसित होती है, और इसीलिए संपूर्ण कलाकृति एक स्वायत्त रूप में निष्पन्न होती है। और किसी भी रचना की उत्कृष्टता की जाँच अंततः इसी दृष्टि से हो सकती है कि वह अपने संघटन में स्वायत्तता को, जो उसकी आंतरिक प्राण-शक्ति की भी परिचायक है, पा सकी है या नहीं।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि 'सरल' जीवन को ही कहानी क्यों अधिक सुविधापूर्वक अंकित कर पाती है, इसका मुख्य कारण कहानी का अपना संक्षिप्त आकार नहीं है। यह ठीक है कि आकार की संक्षिप्तता भी एक सीमा तक कथा-साहित्य में (कविता में नहीं) रचना-दृष्टि को व्यक्त करने में बाधक हो सकती है। पर मुख्य बात तो कहानी का अपना रचना-विधान है। इस संदर्भ में कहानी और एकांकी की सीमाएँ एक जैसी दिखायी पड़ती हैं। यथार्थ से जटिल संबधों को व्यक्त करने में वस्तुतः रचना की लंबाई का उतना विधायक स्थान नहीं होता जितना कि उसके गठन का। इसीलिए लंबी कहानी भी (स्मरणीय शरत् और मॉम की लंबी कहानियाँ 'सुमति', 'बिंदुर छेले', 'रेन') कहानी ही रहती हैं, उपन्यास नहीं हो जातीं। दूसरी ओर आकार में छोटे उपन्यास (कामू का 'द फ़ाल', 'द आउटसाइडर', अज्ञेय का 'अपने अपने अजनबी', देवराज का 'बाहर-भीतर') अपने रचना-विधान के कारण उपन्यास ही रहते हैं। मूलतः विधान और अंशतः आकार, इन दोनों दृष्टियों से कहानी, एकांकी, निबंध और गीत (अंतिम केवल विधान के कारण) समसामयिक जीवन-अनुभवों से जूझ कर किसी रचना-दृष्टि को विकसित नहीं कर पाते; इसीलिए उनकी प्रवृत्ति अबौद्धिकता की ओर अधिक दिखायी देती है। अपनी पुस्तक 'लॉजिक ऐंड क्रिटि-सिज़्म' में आई० ए० रिचर्ड्स के सिद्धांतों की समीक्षा करते हुए विलियम राइटर ने दो प्रकार के पाठकों की बात कही है—कुछ पाठक ऐसे होते हैं जो एक साधारण स्तर पर 'सरल' तृप्ति की

कामना करते हैं, और कुछ दूसरे अधिक जटिल तथा श्रमसाध्य अनुभूति की खोज करते हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार समसामयिक कहानी, एकांकी, निबंध और गीत के पाठकों का पहले वर्ग में होना अधिक संभाव्य जान पड़ता है। पूर्व वाक्य में 'समसामयिक' शब्द के द्वारा बात समकालीन रचनाओं तक ही सीमित कर दी गयी है। पिछले युगों में लिखित गीत और कहानियों के आस्वादन की प्रणाली स्पष्ट ही भिन्न होगी; वहाँ ऐतिहासिक संवेदना का तत्व कार्य करेगा।

जैनेंद्र और अज्ञेय के बाद हिंदी की तथाकथित 'नयी कहानी' समकालीन भावबोध से अपने को संपृक्त करने में असमर्थ रही है। उसने विषयवस्तु को बदल कर अपने आपको आधुनिक बनाना चाहा है। वहाँ आधुनिकता के उपकरण हैं भूदान, कैबरे—नर्तकी या दोनों। पर वास्तविक विकास संवेदना का होता है, यथार्थ के प्रति संबंधों का होता है। और इस दृष्टि से 'नयी कहानी' जैनेंद्र-अज्ञेय के पीछे चली गयी है। प्राक्प्रेमचंद काल से ले कर अज्ञेयोत्तर युग तक के हिंदी कथा-साहित्य का यदि विश्लेषण किया जाए तो उसके गठन का विकास-क्रम कुछ इस प्रकार दिखायी देगा—घटनाप्रधान—कथानकप्रधान—चरित्रप्रधान—संवेदनप्रधान। 'नयी कहानी' चरित्र-प्रधान की स्थिति से आगे संवेदन की प्रधानता को न स्वीकार कर के, कथानक की ही प्रधानता को स्वीकार करती है। इस माने में वह जैनेंद्र-अज्ञेय की तुलना में शायद प्रेमचंद के ज्यादा नज़दीक है। कुछ नये कहानीकारों ने घटना के महत्व को कम करना चाहा है, चरम सीमा का मोह छोड़ दिया है; किंतु अभी तक वे घटना के स्थूल रूप में ही उलझे हैं, और यथार्थ की नयी दृष्टि से कतराते हैं। पर चित्रण की स्थूल यथार्थवादी पद्धति (यहाँ 'यथार्थवादी' आदर्शवादी का उल्टा न हो कर, सूक्ष्म के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है), भाषा की सरलता-सहजता पर अतिरिक्त आग्रह, और परिणामतः भाषिक सर्जनात्मकता के स्थान पर साफ़गोई तथा प्रत्यक्ष कथन का प्रयोग कहानी को साहित्य की परिधि से हटा कर जनता-माध्यम (मास मीडिया) के क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर देता है। जनता-माध्यमों में व्यावसायिकता और पेशेवर हो जाने की प्रवृत्तियाँ प्रधान होती हैं, इसीलिए उनमें मौलिकता, सर्जनात्मकता और प्रयोग की संभावना कम रहती है। एक तो कहानी का रचना-विधान समसामयिक जटिल जीवन या चिंतन का वहन वैसे ही नहीं कर पाता, दूसरे वर्तमान युग में जनता-माध्यमों की लोकप्रियता की स्पर्धा में अपनी अबौद्धिक वृत्ति से प्रेरित हो कर कहानी और भी अधिक साहित्यिक सर्जत्मनाकता से विहीन हो गयी है। जनता-माध्यम के रूप में वह एक उपभोग्य वस्तु बन गयी है, और, उद्योग-धंधे की तरह चलती हुई, बाज़ार में माँग और खपत के सिद्धांत से अनुशासित होती है।

जनता-माध्यमों की अपनी विशिष्ट स्थिति और संगति है, तथा उनका अपना देय है। कहानी भी रेडियो, सिनेमा, टेलिविज़न और पत्रकारिता के साथ सर्जनात्मकता के स्थान पर तात्कालिक प्रतिक्रिया को अधिक महत्व देने लगी है। प्रायः सभी जनता-माध्यम मूल कला-माध्यमों के प्रसरण की स्थिति से संबद्ध हैं, और वर्तमान युग में संस्कृति की उपलब्धियों के ऊपर से नीचे की ओर संचरण को संभव बनाते हैं; इसी में उनकी अपनी सार्थकता है। कहानी का कला-माध्यम से जनता-माध्यम में क्रमिक रूपांतरण कुछ तो अपने रचना-विधान की सीमाओं के कारण हुआ, और कुछ वर्तमान जीवन की व्यावसायिक और पेशेवर मनोवृत्तियों के कारण। महत्वपूर्ण बात

यह है कि कहानी का जो और जितना अंश साहित्य में है, उसे जनता-माध्यम वाले रूप से मिलाना नहीं चाहिए। कहानी के इन दोनों पक्षों में (और इन दोनों पक्षों में अब दूसरे के प्रसार की ही संभावना अधिक है) स्पष्ट विवेक किया जाना चाहिए, विशेष रूप से साहित्यिक मूल्यांकन के प्रसंग में।

जनता-माध्यम और कला-माध्यम के बीच मूल अंतर सर्जनात्मकता का है। कोई भी कलाकृति सर्जनात्मकता की सघनतम अभिव्यक्ति होती है, जबकि जनता-माध्यमों में सर्जनात्मकता कम से कम होती है। कहानी की सर्जनात्मकता व्यापारिक और पेशेवर दबावों के कारण विघटित हो चुकी है, और उसमें मौलिक प्रयोगों की संभावना कम हो गयी है, उसका रचना-विधान समकालीन जटिल जीवन के अनुभावन और अंकन के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुआ है, और उसका भाषिक रूप संप्रेषण के स्थान पर उर्दू की तरह के प्रत्यक्ष कथन को स्वीकार करता है, इसीलिए उसके अधिसंख्य पाठक साधारण स्तर पर 'सरल' तृप्ति की कामना करते हैं, जटिल तथा श्रमसाध्य अनुभूति की खोज नहीं करते। कहानी का उपयोग पहले भी उपदेश और मनोरंजन के लिए अधिक हुआ है, अब फिर वर्तमान युग में वह अपने को प्रमुख रूप से मनोरंजन से जोड़ लेती है, और जटिलता या बौद्धिकता की विरोधी हो जाती है। प्रायः कहानी की ही समानांतर परिस्थितियों में हिंदी गीत (लिरिक) अपनी सर्जनात्मकता खोते हुए गाना (सांग) हो कर जनता-माध्यमों में सम्मिलित हो गया है। आंचलिकता पर बल देने वाली 'नयी कहानी' और गीत सहज-सरल भाषा अपनाते हुए सर्जनात्मकता से विहीन हो कर मानो लोकसाहित्य का स्मरण दिलाते हैं, और लोकसाहित्य प्रविधि-युग के पूर्व का जनता-माध्यम है।

इस प्रसंग में अब एक बहिःसाक्ष्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। प्रायः सभी समसामयिक साहित्यों में अधिकतर शुद्ध कहानीकारों की स्थिति काफ़ी अमहत्वपूर्ण है—चाहे केथरीन मेन्सफ़ील्ड का नाम लीजिए, चाहे साकी का या कि ओ हेनरी का। वे लोकप्रिय हैं, होंगे ही, पर समसामयिक साहित्यिक परिदृश्य पर उनकी स्थिति नगण्य है। इसके विपरीत जो महत्वपूर्ण रचनाकार हैं, उन्होंने यदि कहानियाँ भी लिखी हैं, तो वह उनके कृतित्व का काफ़ी छोटा और नगण्य पक्ष माना जाता है। कहानियाँ सार्त्र की भी हैं, कामू की भी, पास्तरनाक और हेमिंग्वे की भी, पर इन रचनाकारों की ख्याति या महत्व उनपर आधारित नहीं है। ये सभी लेखक उपन्यासकार, नाटककार, कवि या विचारक के रूप में जाने जाते हैं, उनकी कहानियाँ तो जैसे स्केचबुक के हिस्से हों। इस साक्ष्य का एक दूसरा पक्ष हिंदी में है; जहाँ 'नयी कहानी' के लेखक प्रायः मात्र-अथवा-प्रसिद्ध-कथाकार हैं : समसामयिक लेखन के अनुरूप संपृक्त व्यक्तित्व उनका नहीं है।

हिंदी में कहानी का जो हिस्सा साहित्य में रह गया है, उसके उल्लेख के साथ ही प्रस्तुत विवेचन को समाप्त करना उचित होगा। जब हम यह मान लेते हैं कि कहानी आधुनिक भावबोध और समसामयिक जटिल जीवन का संवहन करने में अक्षम हो गयी है, तभी एक व्यंजना यह भी उभरती है कि इस स्थिति के बावजूद जो लेखक कहानी के क्षेत्र में सर्जनात्मक प्रयोग कर सके हैं, उनके भावबोध की आधुनिकता निश्चय ही अधिक खरी और प्रामाणिक है। पर ऐसे रचनाकार हैं कितने ? नामों की चर्चा करनी पड़े तो कहा जा सकता है कि प्रभाकर माचवे, रघुवीरसहाय,

निर्मल वर्मा, कुँवरनारायण, मनोहरश्याम जोशी, विपिन अग्रवाल की कुछ कहानियाँ—और इन सबकी प्रकाशित कहानियों की संख्या काफ़ी कम है—ऐसी हैं, जो संवेदनप्रधान हैं और जिन्होंने कहानी के स्थिर माध्यम में थोड़ी गतिशीलता उत्पन्न की है। इन सभी कहानीकारों में कुछ विशेषताएँ समान रूप से मिलती हैं—संवेदन की सूक्ष्मता, मितकथन, अमूर्तन का प्रयास और जटिल तथा सामान्य-किंतु-संगत अनुभवों से जूझने का उपक्रम। इनकी कहानियों में घटना ऐसे द्रव अथवा समतुलित (न्यूट्रलाइज्ड) रूप में आती है कि एक से अधिक स्थितियों और मनःस्थितियों की टकराहट संभव हो पाती है, और द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का अंकन होता है और कहानी में अब यदि सर्जनात्मक स्तर पर जटिलता लायी जा सकती है तो यह शायद इस सूक्ष्म विधान और अमूर्तन के स्तर पर ही। स्थूल यथार्थवादी पद्धति से तो यह निश्चय ही नहीं हो सकता।

उपर्युक्त रचनाकारों की चर्चा यदि छोड़ दी जाए, क्योंकि वे स्वीकृत अर्थ में नये कहानीकार नहीं हैं, तो 'नयी कहानी' के अपने फैलाव में मुख्यतः तीन प्रकार की रचनाएँ दिखायी देती हैं: (१) ऐसी कहानियाँ जो प्रचलित अर्थ में कहानी हैं, जैसे 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'आर्द्रा', 'रोशनी कहाँ है', 'कोयला भई न राख'; (२) दूसरे प्रकार की कहानियाँ चमत्कारपूर्ण शिल्पयुक्त हैं, जैसे 'राजा निरबंसिया', 'पत्थर की आँख', आदि ; और फिर हैं (३) सुखद रूप से कुछ अटपटी लगने वाली मनःस्थितियों को अंकित करने वाली कहानियाँ, जैसे 'अदरक की गाँठ' 'प्रश्न और उत्तर', 'मैं खुद ही'। इनमें से पहले वर्ग की रचनाएँ तो शायद 'नयी कहानी' की कैसी भी चर्चा के अंतर्गत नहीं आतीं। दूसरा वर्ग शिल्पप्रधान कहानियों का है जो आकृष्ट करता है पर यह आकर्षण बहुत अस्थायी सिद्ध होता है। शिल्प-कौशल का आग्रह कहानीकारों की सहज कमज़ोरी रही है। पर यह बात अब अच्छी तरह समझी जाने लगी है कि, उदाहरणार्थ, प्रसाद की 'मधुआ' उनकी बहुचर्चित 'देवरथ' या 'पुरस्कार' से बेहतर कहानी है; अर्थात् असंघटित शिल्प रचना ही संगति को स्वयं खंडित करता है। तीसरे वर्ग की कहानियों में अनुभूति के खरेपन का कुछ आभास मिलता है। पर कहानी-क्षेत्र की प्रचलित चकाचौंध और सस्ती सफलता ने उसे आक्रांत कर रखा है; और इस प्रकार संभावना ने अपने को स्थापन में बदल लिया है पर इन सभी प्रकार की कहानियों का विधान स्थूल यथार्थवादी होने के कारण केवल एक स्थिति या मनःस्थिति में ही उलझा रहता है; द्वंद्वात्मक और गतिशील प्रक्रिया का अंकन नहीं करता, जो कहानी की अपनी प्रकृति और विधानगत अक्षमता है।

इस विश्लेषण और साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि कहानी को समकालीन साहित्य की समग्र स्थिति और दिशा-आधुनिकता के साथ संयुक्त कर सकने की संभावनाएँ कम हैं। और साहित्य की मूल दिशा से छिटक कर कोई काव्य-रूप फिर उसका अंग नहीं बना रह सकता। हिंदी की तथाकथित 'नयी कहानी' साहित्य में स्वीकृत और आदृत रहने पर समकालीन संवेदना को ही भोंथरा बनायेगी। साधारण पाठक, जो इस तरह की सहज सरल कहानियों को पढ़ने का अभ्यस्त है, कविता, उपन्यास तथा नाटक जैसे 'जटिल' रूपों को, जितना अवधान और सक्रियता चाहिए, दे पाने में मानसिक आलस्य का अनुभव करेगा। कहानी में नयी ज़मीनें तोड़ी जा सकती हैं,

और जैसा ऊपर संकेत किया गया, तोड़ी भी गयी हैं। पर यह प्रक्रिया अर्थशास्त्र की शब्दावली में कहना चाहें तो, अनार्थिक होगी, और दुष्कर तो होगी ही। कहानी में आधुनिक भावबोध की अभिव्यक्ति असंभव नहीं, असंभाव्य ज़रूर है—और साहित्य में या कि साहित्य-चिंतन में भी संभव-असंभव की चर्चा नहीं हो सकती, संभाव्य-असंभाव्य की ही होती है, होनी चाहिए, यहीं, ऊपरी विरोधाभास-सा लगने पर भी, जोड़ा जा सकता है कि आधुनिक भावबोध की प्रामाणिकता इससे भी जाँची जा सकती है कि क्या किसी लेखक विशेष ने सचमुच ऐसी कहानी लिखी है, जो साहित्य की आधुनिक वृत्तियों के अनुकूल है। पुनश्च यह भी कि कहानी का अधिकांश तो जनता-माध्यम के अंतर्गत चला गया है, जो भी कुछ हिस्सा साहित्य की परिधि में शेष है उसे हम ठीक-ठीक समझें। यह कहानी के हित में तो है ही, समकालीन साहित्य की प्रकृति और दिशा समझने के लिए भी ज़रूरी है। **(प्रयाग में संपन्न कहानी गोष्ठी में पठित निबंध।)**

—१६७-ए एलनगंज,
इलाहाबाद।

एक मन : चार मनःस्थितियाँ

भवानीप्रसाद मिश्र

समाधि से लौट कर

●

थोड़ी और देर
एकाध और वर्ष
तुम्हारे साथ के सारे दुःख
सारे हर्ष
थोड़ी और देर
हो जायँगे अतीत के ढेर !

और मैं सूने मन से
पास खड़ा रह कर
निहार लूँगा इस ढेर को कर !
एक पल अंधकार
मन को माँज देगा
एक पल तरुन सूरज
मँजे मन की आँख में
किरन आँज देगा !

आज की तरह
अंधकार और किरनों की झारी
बारी-बारी
नहीं बन पायगी स्मृति तुम्हारी--
थोड़ी और देर
रह जायगी वह अतीत के ढेर में बन कर
बुझती हुई एक चिनगारी !

और तब
दर्द की उस घड़ी में
अँधेरे से लदे किसी गीत की कड़ी में
गूँथ दूँगा
बुझती हुई चिनगारी से
निकलती हुई किरनें !
मजा आयेगा
जब कमजोर और अकेला एक आदमी
गायेगा गीत
निराशा की गली-गली में
गूँथ कर अँधेरे की कली-कली में
बुझती हुई चिनगारी की किरनें !
और भी मजा आयेगा
जब ताक़तवर लोग बग़लें झाँकेंगे
जब एक अँधेरा खायेगा
दूसरे सवेरा फाँकेंगे ।

विद्रोही नहीं हूँ

●

विद्रोही नहीं हूँ,
होना नहीं चाहता।
अच्छा नहीं लगता
अपने से बड़ों को
बकना-झकना !
लेकिन
नित्य प्रश्न उठते हैं,
कब तक बनाये रखना
ऐसी निरर्थक शर्म
कब तक ग़लत आज्ञापालन को
मानते रहना धर्म ?

विद्रोही नहीं हूँ
होना नहीं चाहता
मगर यह आध्यात्मिकता
अब ज्यादा टिकती नहीं
दिखती !
भौतिक जो तत्व हैं मुझमें
पल-पल उमड़ते हैं
बढ़ते हैं समुद्र-से
तीर मर्यादा के
हें-हें कर उठते हैं
रोकते हैं
डरते भी हैं रोकते
प्राणों के ज्वालामुखी फटते हैं
आसपास
जंगल हैं घास के
टोकते हैं
डरते भी हैं टोकते !

लेकिन अब कब तक
यह हें-हें, यह रोक-टोक ?
विद्रोही नहीं हूँ
होना नहीं चाहता--
थोक-थोक नालायक़ी
ग़ज़लों की तरह
अगर पेश करो
मेरा गुणज्ञ मन
गूँगे गगन की तरह
उसको वहन भर करे
यह भी क्या इच्छा है
यह भी क्या आशा है
सर्वसहा माटी मेरी
अपदार्थ एक ढेरी भर
कैसे बने--बनी रहे !
प्रभंजन-तत्व इच्छाएँ
वक्ष में कैसे मनें--मनी रहें ?
सागर और ज्वालामुखी
गगन और प्रभंजन
और धरती
मन के ये भौतिक तत्व
बाँधे नहीं बँधते।
कब तक आराधेगा
इनपर आज्ञापालन
कोरा बड़प्पन ?

अग्रजता एक बात है
दूसरी भी बातें
मगर ऐसी हैं
अविचारणीया नहीं हैं जो !
विद्रोही नहीं हूँ मैं
होना नहीं चाहता !

जैसे आज

●

जवानी कभी-कभी
अभी तक लौटती है !
जैसे आज
जब शाम को
नगारे पर चोट पड़ी
तो न जाने कितनी गहराई में पड़ा हुआ
दर्द, जैसे तड़प कर
उठ खड़ा हुआ
और आँखें
जो चार गज़ से आगे नहीं देखती थीं
क्षितिज पर जा लगीं

बुद्धि जो ठगी-ठगी थी
बिफर गयी
तकलीफ़ निखर गयी
ध्वनि के धुँधलके में
आसमान नीचे उतर आया
और मैंने ऐसे इतमीनान से
हाथ बढ़ाया
कि तारे हाथ में आ गये
और हम जो पीठ फेर के चले
तो बाक़ी बेचारे
पीछे-पीछे साथ में आ गये !

अल्प संकल्प

●

क़लम और हम
मिल कर करेंगे ख़म
बुलंदी आसमान की
ऐसा कभी सोचा था
कुछ दिनों इसकी
कोशिश की !

मगर धीरे-धीरे
हमारे विचार सोच में बदल गये
और अब
हम और क़लम दोनों
अकसर
शाम तक

नाहक़
कुछ लिखा-पढ़ी कर के
थक जाते हैं
ख़्याल अगर आते हैं
तो कभी हम कभी क़लम
कभी दोनों
मिल कर कह देते हैं
फिर कभी आना !

●

—वाई० जेड ४, सरोजिनीनगर,
नयी दिल्ली-३ ।

कहानी

एक इतिश्री

नरेश मेहता

यह बहुत ही अच्छा हुआ था कि हम लोग अपने प्रेम-संबंधों की इतिश्री लगभग कर चुके थे। दोनों ही नहीं जानते थे कि प्रेम को बनाये रखने से अधिक आसान उसे शेष कर देना होता है। सविता और मैं आरंभ ही हो रहे जाड़े के सुख को भोगते हुए वाइ० डब्ल्यू० सी० ए० के लाउंज में बैठे चाय की सुखद प्रतीक्षा कर रहे थे। कहा जा सकता है कि उन्मुक्तता का परितोष हम दोनों की आँखों में रहा होगा। मेरी आँखों में भी अवश्य वह था इसे इसलिए जान सक रहा था कि सविता मुझे जिस तरह से देखे जा रही थी उसमें एक उत्सुक दर्शक की रुचि स्पष्ट दिख रही थी। वह शायद मुझे देख कम ही रही थी, बाँच अधिक रही थी। जबकि इसके विपरीत सविता की आँखों में तुष्टि थी। इससे अधिक वह बंद मुट्ठी ही बनी रही। यह तो नहीं कह सकता कि मैं पूरी तरह हताश ही हुआ पर सविता अधिक सफल रही, ऐसा लगता रहा। संभवत: इसी कारण मेरी अपनी अधिकांश तुष्टि का अपहरण भी हुआ। मुझे खीझ इसी बात पर हो रही थी कि वह अब भी, जबकि हम अपने संबंधों की इतिश्री कर चुके हैं, अपने को अधिक चतुर सिद्ध करने में लगी हुई थी। वैसे तो वह लान-चेयर पर मात्र विश्राम करते भाव से ऐसे बैठी थी जैसे वह अपने किसी मातहत की वैयक्तिक कठिनाइयों को बड़ी मानवीय उदारता एवं पद की श्रेष्ठता के साथ छद्म दर्प से सुन रही हो, पर मुझे आपत्तिजनक लग रहा था। यद्यपि सविता सदा ऐसे ही बैठती रही है और आज के पहले कभी मुझे यह आपत्तिजनक भी नहीं लगा, बल्कि कहना चाहिए कि स्मृति में तो वह सदा इसी प्रिय मुद्रा में ही स्मरण आती रही है, लेकिन आज इस बैठने का बोझ मुझे ऐसा लग रहा था जैसे वह मुझपर ही हो, जैसे वह लान चेयर मैं ही हूँ।

—"सविता ! तो, अब ?"

मेरी इस बात पर वह किंचित भी नहीं चौंकी। मुझे आशा थी कि वह चौंकेगी क्योंकि प्रेम-संबंधों की इतिश्री के बाद लगभग पंद्रह मिनट की चुप्पी के उपरांत मेरा यह पहला प्रश्न था जिस जँगले से धूप लाउंज के पुराने क़ालीन पर गिर रही थी, वहाँ लौटने के पूर्व जो एक लंबा ठहराव आता है, धूप उसी ठहराव पर आ कर रुकी हुई थी। अधिक धूप न होने पर भी आलोक काफ़ी था। फलस्वरूप क़ालीन पर हम अपनी धुँधली छायाएँ स्पष्ट देख सकते थे। सविता ने इस मौसम में, खासकर आज के दिन अपनी भूषा के लिए वासंती रंग क्यों चुना था, नहीं कह सकता, पर वह उसकी त्वचा के रंग के साथ घुल गया था। उसने जिस तरह इस रंग को पहन रखा था उससे स्पष्ट था कि वह इसके प्रति सजग ही नहीं, अतिरिक्त प्रबुद्ध है। वह बोली :

—"तो, अब चाय पी जाए।"

सविता की बात की निर्द्वंद्वता में उतना नहीं जितना उच्चारण के ढंग में आपत्ति से कहीं अधिक खिल्ली उड़ाने का भाव था : कि, क्या हम ही वे दोनों हैं जिनमें इतना अधिक प्रेम था !

—"चाय ? अतीत के अपने संबंधों की याद में ?"

—"वैसे बुरा भी नहीं होगा, दिवाकर ! पर उसके लिए इतनी जल्दबाज़ी की क्या ज़रूरत है ? बेचारे को कम से कम एक दिन का तो अतीत हो जाने दो।"

—"उससे क्या होगा ?"

—"यही कि जो जितना पुराना अतीत होता है वह पुराने अचार की भाँति उतना ही मूल्यवान होता है। उसकी याद में तब हमें डिनर और भोजों का आयोजन कर के सिद्ध करना होता है कि वह कितना मूल्यवान था। किसी पहाड़ी डाकबँगले में जा कर घाटियों में भरते बादलों को देख कर तुम अपनी डायरी में ज़रूर ही लिखोगे कि "ओ —वि—! तुम मेरे निर्माण में टूट गयीं। एक पारिजात मेरी पूजा में अनायास चढ़ा दिया गया। मैं ऐसी पूजा को बराबर अस्वी-करना चाहता रहा पर मेरे होठों पर शिल्पी ने शिला रख दी थी. . . .ओ तुम ! !"

बात समाप्त कर वह हँसने जा ही रही थी कि चाय ले कर वही नौकरानी आयी जो मुझे पोर्च में खड़ा कर बड़े बेमन से मेरी चिट ले आयी थी। उसके उस तरह ले जाने से मैं इतना आहत हुआ था कि यदि सविता से मिलना ज़रूरी न होता तो मैं कामना करता कि वह चिट ले जाने से साफ़ मुकर जाए। अपने पूरे हावभाव एवं मुद्रा से वह किसी मठ की खूसट भिक्षुणी ही अधिक लग रही थी। उसकी दृष्टि में आरंभ से ही जो कठोरता थी वह इस समय भी बनी थी। लगता था कि वह पलकें झपकाने में विश्वास नहीं करती। उसमें कठोरता के साथ-साथ तीक्ष्ण उपेक्षा भी थी, न केवल मेरे ही लिए बल्कि हर दिखायी पड़ने वाली वस्तु एवं व्यक्ति के लिए। ट्रे रख कर लौटते हुए उसने ऐसी वितृष्णा से देखा जैसे मैं वह गंदी मक्खी होऊँ जो किसी पकवान पर मँडरा रही हो। वह बोली :

—"सविता ! तुम्हें कंसर्ट के लिए जाना है, याद है न ?"

—"हाँ, मुझे अच्छी तरह याद है।"

—"और सार्जेंट कोरा के आने का समय ?"

—"न केवल समय ही बल्कि गुलाबी फूलों वाली जो साड़ी तुमने मेरे लिए निकाल कर रखी है उसकी भी याद है. . . .क्या तुम अब संतुष्ट हो ?"

स्पष्ट था कि नौकरानी के खूसटपन पर सविता सहसा झल्ला आयी थी। वैसे नौकरानी ने झल्लाने वाली तो कोई बात नहीं की थी, जबकि इस तरह की बात हम लोगों के बीच में ज़रूर हुई थीं पर उस समय हर बार वह लिपस्टिक की तरह मुस्कराना होंठों में सहेजे रही थी। वह तो सविता ने चाय ढालनी शुरू कर दी थी और चाय के गिरने का हल्का-सा शब्द उभर आया था, वर्ना वह नौकरानी कुछ और भी कहना चाह रही थी। यह उसके व्यक्तित्व से ही लगता था कि किसी भी बात पर वह घंटों न केवल बोल ही बल्कि झगड़ भी सकती है। उसके लौट जाने पर मुझे कप देते हुए सविता ने जिस तरह साँस ली उसमें बोझहीनता का अनुभव था।

लाउंज की लंबी खिड़की के पास बीच में टेबल किये हम दोनों चाय पीते निश्चिंतता का स्वाँग किये बैठे रहे, जैसे हम किसी अन्य का बैठना कर रहे हों। यदि किसी तीसरे ने हमें इस तरह देखा होता तो उसे गहरी ईर्ष्या होती, क्योंकि ऐसे बैठने में समरसता का बोध होता है। लेकिन कुल मिला कर हमारा यहाँ इस तरह बैठना अधिक किताबी था। इस बैठने की औपन्यासिकता में मात्र इतनी ही कमी थी कि यदि सविता खिड़की से हाथ निकाल कर एक बार भी अपने गालों की चिकनी पुष्टता पर फेर लेती तो वह पूरे दृश्य का नहीं तो अक की समाप्ति तो लग ही सकता था ....। बाहर हल्की हवा थी। अक्तूबर की हवाओं में बड़ा साँसपना होता है। शाम शुरू हो रही थी। लान पर जाती हुई धूप में अनचक्की दो-एक तितलियाँ किलकारियाँ भरती तैर रही थीं। लान के पार, झाड़ियों के पीछे बाहर का बड़ा-सा फाटक आभास दे रहा था। साथ ही कुछ साड़ियों के रंग टूटे-फूटे दिख रहे थे तथा स्त्रियों के खिलखिलाने का चम्मचीपन भी था। वैसे इस समय लाउंज में बैठना अधिक सुखद नहीं था, क्योंकि दीवारें प्रायः अँधेरा थामे हुई थीं। चाहे खिड़कियाँ क्यों न हों पर लगता है कि दीवारें अपने में अँधेरा छिपाये रहती हैं। दूर एक टेबल पर अस्तव्यस्त पत्रिकाएँ अवश्य इस खालीपन में सजीव होने की चेष्टा कर रही थीं। फ़र्नीचर इतनी विभिन्न क़िस्म का था कि लाउंज को किसी अजायबघर का एक कोना कहा जा सकता था। हवाई जहाज़ की किसी कंपनी द्वारा प्रदत्त संसार का एक बड़ा-सा वैमानिक चित्र अलबत्ता अकेला ऐसा था जो वहाँ के बिखराव को अंतिम रूप से टूटने से रोके हुए था। सविता की प्रतीक्षा के लिए मुझे यहाँ बैठाल कर नौकरानी के चले जाने के बाद ही मैं यह सब देख चुका था।

इस समय तो मैं सविता को चाय पीते देख रहा हूँ, और सोच रहा हूँ कि देखूँ, इस बार वह नौकरानी पर झल्लाते हुए स्पष्टीकरण के माध्यम से स्वयं कुछ बोलती है या बिलकुल ही न बोल कर मुझे ही बोलने को बाध्य करती है, जैसे बोलना भी पुरुष का ही कर्तव्य है, उसी तरह जिस तरह कि भले ही घूम कर जाना पड़े पर मोटर का पल्ला पुरुष को ही खोलना होता है। लेकिन नहीं, इस तरह की बातें या अपेक्षाएँ तो संबंधों को सूचित करती हैं और हमने तो अभी-अभी अपने प्रेम-संबंधों की इतिश्री कर के यह पहली संबधहीन चाय ली थी। असंबंधता अनुभव करते हुए उसने पूछा, बल्कि कहा जाए कि कहा :

—"तुम्हारी ट्रेन कब जाती है?"

—"लेकिन आज तो मैं नहीं जा रहा हूँ।"

—"वह तो तुम शुरू में ही बता चुके हो।"

—"तब क्यों पूछा?"

—"सोचा कि अब तक तुम आज ही लौट जाने की सोच चुके होगे।....लेकिन किसी दिन तो जाओगे ही, उस दिन का ट्रेन-टाइम क्या होगा?"

—"थोड़ी देर में तब तुम मौसम और महीने के बारे में भी पूछोगी न?"

—"इसके बाद।"

मुझे आशा थी कि वह अपनी इस छोटी-सी जीत पर यदि हँसेगी नहीं तो मस्कराएगी ज़रूर। वह मुस्करायी भी, पर उसमें जीत की ख़ुशी का उतना भाव नहीं था। वह बोली :

—"दिल्ली अभी भी वैसी ही है न ?"

—"हाँ, क्यों ?"

—"ऐसे ही पूछा। मैं रोज़ डरती रहती हूँ कि कहीं दिल्ली न बदल जाए। दिल्ली है, इस विचार मात्र से मुझे यह लगता है कि मैं भी हूँ।"

उसकी आँखें हँस रही थीं, और इस बार वह फौवारे-सी फूट पड़ी। मैं जानता हूँ कि जब अपने को बहुत ज़्यादा छुपाना होता है तो सविता ज़ोर से हँसने लगती है, अन्यथा प्रायः तो उसका काम मुस्कराने से ही चल जाता है। इस बीच वह गंभीर हो गयी और होंठों में बुदबुदाने के ढंग पर बोलने लगी :

—"दिवाकर ! तुम मुझे किस फूल के साथ याद किया करोगे ? वैसे पारिजात बुरा नहीं रहेगा, पर क्या कोई और फूल मेरी स्मृति के साथ जोड़ सकना संभव नहीं होगा ? . . . . मेरा ख़्याल है, अभी सारे फूल आकुपाइड नहीं हुए हैं।"

—"और सविता तुम मुझे किस तरह. . . ."

मैं बहुत तेज़ प्रहारात्मक बात कह जाना चाहता था पर सविता ने उतनी ही तेज़ी से मुझे काटते हुए कहा :

—"एट द मोस्ट आइ विल रिमेंबर देहली इन बंच ! ! . . . .बात बहुत कड़वी हो गयी क्या ?"

और इस बार वह ऐसी ही प्रसन्न थी कि जैसे उसके पास इक्के की ट्रेल आ गयी हो और वह उसपर सब कुछ जीत सकती थी। मुझे पुनः जवाब देने के लिए उसने जिस बड़प्पन के साथ हाथ झिटकारते हुए कहा उसमें वह नर्सरी स्कूल की 'टीचर जी' ही अधिक लगी :

—"हर बात का जवाब नहीं होता ! दिवाकर, कुछ का बहुत कुछ पीना ही होता है। . . . .मानती हूँ कि कड़वी है, बट गल्प इट ! !"

सविता ने चाय के बाद से उत्तेजनात्मक ढंग की बातें कीं पर मुझे उससे सहानुभूति ही हुई, इसका कारण यह था कि सविता स्वयं तीन बार पहले धोखा खा चुकी थी और इस चौथी बार उसने प्रेम किया ही इसलिए था कि वह भी धोखा दे सके। लेकिन इसमें अच्छाई यही थी कि अपने इस मंतव्य को उसने छुपाया भी नहीं, स्वयं मुझसे भी नहीं। लेकिन यह जानना ही हम दोनों के लिए घातक भी सिद्ध हुआ। यदि यह मान भी लिया जाए कि वह अपने प्रयास में सफल हुई तो यह भी उतना ही सत्य है कि वह हमेशा-हमेशा के लिए अब टूटने भी जा रही है। हमारे आपसी संबंधों के दिनों में वह सदा इस बात पर तुली रही कि जल्द से जल्द परिणति का वह बिंदु आ जाए जब कि वह जल झाड़ते हुए फौवारे-सी उठ खड़ी हो। पर मैं उसे मिट्टी की तरह उसकी जड़ों तक थामे रहना चाहता था ताकि वह छिटक कर बढ़ती हुई ऊँची फुनगी ही बन जाए। और चूँकि हम दोनों एक दूसरे के ढंग को जान गये थे, इसलिए वह अपनी जड़ें सौंपने को तैयार नहीं थी और मैं छिटका जल बनने के लिए तैयार नहीं था।

मुझे वह शाम याद है और सविता को भी अवश्य ही याद होगी जब कि वह 'एयर फ़्रांस'

के सामने विज्ञापन की मुद्रा में खड़ी थी। दोनों हाथों से वह अपना नन्हा-सा बैग गोद में थामे थी। किसी की प्रतीक्षा करती लग रही थी। वह उन दिनों अपने तीसरे प्रेम के चक्कर में थी, जिसके बारे में बाद में मज़ाक में कहा करती थी कि 'वाज़ नॉट फ़ुली आकुपाइड बट ए पोर्शन वाज़ ऑन रेंट।' उस समय लगभग चार का समय रहा होगा और वह घर जाने के लिए किसी टैक्सी की राह देख रही थी। प्रायः दिल्ली में अपराह्न का समय स्त्रियों के बाज़ार करने का समय होता है। शामें तो मात्र स्ट्रॉल करने के लिए होती हैं। 'बिना किसी एंगेजमेंट के किसी शाम की कल्पना से ही मुझे मूर्छा आ सकती है, दिवाकर!'—तो, यह मेरी ओर से सविता का पहला साक्षात था। सचमुच का परिचय तो इतने साधारण ढंग से हुआ था कि उसे ले कर कोई भी स्मृति बना सकना मेरे लिए संभव न हुआ। इसलिए इस साक्षात वाले दिन पर ही मेरी स्मृति बारंबार टिक जाती है। ....इसके बाद एक दिन 'काटेज एंपोरियम' में किसी के साथ गया हुआ था। शो-केस की एक साड़ी का हरापन पहली बार अच्छा लगा। वैसे हरा रंग देख कर मुझे वैसे ही मतली आती है जैसे कि पीला रंग देख कर सिर दुखने लगता है। पर उस हरेपन में एक ऐसी बोलती हुई कोमलता थी जो स्पर्श चाहती-सी लग रही थी। तभी पीछे से स्वर सुनायी दिया :

—"बहुत ग़ौर से देख रहे हैं।"

मैं चौंका और देखा कि स्लीवलेस में, आद्यंत मयूरी रंग धारे सविता अपनी विज्ञापन वाली सुपरिचित मुद्रा में खड़ी थी।

—"ऐसे ही।"

—"किसके लिए ख़रीद रहे हैं यह?"

इस प्रश्न ने बिना किसी के चाहे ही जैसे एक दूसरे के सामने अनेक वैयक्तिक दूरियाँ पार करने के लिए आवश्यकता उत्पन्न कर दी। ....मित्र का साथ छोड़ कर मैं और सविता सामने 'वोल्गा' में चले गये। मैंने पाया कि वह न केवल अपने बाह्य को ही वरन अंतर को भी आकर्षक रूप में प्रस्तुत करने में पटु है। वह धुलेपन का बहुत अच्छा आभास देती है। दिल्ली की गतिशीलता न केवल वहाँ के व्यक्तियों के बाह्य में ही है बल्कि उनकी निपट आंतरिक भावभंगिमा में भी वह तेज़ी देखी जा सकती है। वहाँ हर व्यक्ति, हर चीज़ तथा उनके गुण-दुर्गुण सभी कुछ क्षिप्र हैं। सविता ने मुझे अनायास ही लिया था पर एक बार ले लेने के बाद हमारे सोचने के पूर्व ही हम काफ़ी दूरी पार कर चुके थे। दिल्ली की हर चीज़ पर मीटर लगा है और लोग बाध्य हैं अपने मूल्य की यात्रा करने के लिए। थोड़े-से समय में ही हम एक दूसरे को तौल चुके थे वाक्यों से, स्थितियों से, बल्कि कहना चाहिए, जेबों तक से। लेकिन यह भी सही है कि हम अपनी वास्तविकताओं से सर्वथा अपरिचित थे। इसका पहला प्रमाण जब सामने आया तब मुझे आश्चर्य ही हुआ था, परिताप नहीं कह सकता।

घटना कुतुबमीनार की है। सबसे ऊपर पहुँच कर दिल्ली में होने की बजाय दिल्ली पर होने के भाव मात्र से मुझे बड़ा सुख हुआ था। चारों ओर के क्षितिज में दिल्ली भरी हुई थी जिसपर दो-एक विमान भुनभुनाते उड़ रहे थे। सविता बड़ी देर तक नीचे झाँकती रही, उपरांत बोली :

—"यहाँ से कूद जाऊँ तो तुम क्या करोगे?"

—"घर लौट जाऊँगा।"

उत्तर दे कर मैं स्वयं अवाक हुआ था पर सुन कर वह किंचित भी नहीं।

—"घर लौट कर क्या करोगे? डायरी लिखने बैठ जाओगे?"

—"नहीं, पहले एक ताजमहल ख़रीद कर कमरे में सजाऊँगा।"

—"बनवाओगे नहीं?"

—"जब बना-बनाया मिल सकता है तब ओरिजिनल बनवाने में क्या तुक है? मेरी जगह अगर शाहजहाँ भी आज होते तो यही करते।"

वैसे हम दोनों हँस पड़े। शायद काफ़ी देर तक हँसते भी रहे। पर यह पहली फाँस थी जो हम दोनों ने स्पष्ट रूप से अनुभव की। यद्यपि अपराध-भाव मुझे था, इसलिए सविता कहती तो मैं दोष स्वीकार भी लेता, पर वह इस बीच प्रदर्शनी देखने वाली आँखों से मुझे देखने लगी थी।

आज मैं कह सकता हूँ, बल्कि सविता साक्षी है कि प्रत्येक ऐसे मार्मिक क्षण या स्थल पर, जबकि किसी एक ने दूसरे के सामने पूरी ईमानदारी बरतने में पहल की होगी, दूसरे के मन में तत्क्षण संदेह पैदा हुआ होगा। फलतः आधी स्वीकृति एवं आधी अस्वीकृति लिये आज यहाँ पहुँचे हैं कि हम अपने प्रेम की इतिश्री कर चुके हैं तथा विदा होने के पूर्व की चाय तक पी चुके हैं।

सविता जिस घटना को अनेक बार दुहरा चुकी है उसे मैं कुतुबमीनार वाली अपनी उस बात का जवाब मात्र मानता हूँ। वैसे मुझे आज भी सविता के इस कथन में कोई झूठ नहीं दिखायी देता कि उसने ओखला वाली इस घटना के दिन जान-बूझ कर मुझे ऐसा उत्तर नहीं दिया था। उस दिन हम लोग ओखला पिकनिक के लिए गये हुए थे। किनारे के एक पेड़ के नीचे दरी बिछाये तथा पूरा तामझाम फैलाये सविता, ग्रामोफ़ोन पर पंकज का 'ये रातें ये मौसम ये हँसना-हँसाना' बजाते हुए सहज लग रही थी। वह अकेले खिले फूल-सी सुलग रही थी। मुझे नहाने के लिए तैयार देख बोली :

—"तुम इसमें ग्रीक स्टेच्यू लगते हो।"

मैंने हँसते हुए कहा :

—"मैं तो स्टेच्यू लग रहा हूँ पर तुम अपने वेदिंग सूट में साक्षात वीनस लगोगी। चलो उठो।"

—"ना बाबा। यहाँ बहाव बहुत तेज़ है, बह जाने का डर है।"

—"लेकिन ऐसा डर तो किसी के लिए भी हो सकता है।"

—"हाँ, लेकिन किसी दूसरे का बह जाना क्या मेरा अपना होगा?"

कहने को वह कह गयी और सुनने को मैं भी सुन गया पर हठात दोनों को स्पष्ट हो गया कि हमें अपने प्रेम का उतना विश्वास नहीं है जितना कि संदिग्धता की आश्वस्तता का।

कब, कैसे और क्यों सविता ने दिल्ली के बाहर नौकरी की यह उसने बताना चाहा नहीं और मैं पूछ कर याचक नहीं बनना चाहता था। लेकिन मुझे अच्छी तरह याद है कि उस दिन स्टेशन पर हमारे बीच पहली बार, और वह भी इतनी देर तक, प्रेम तथा विश्वास का वातावरण बना रहा। बल्कि कहना चाहिए कि मूर्खों की तरह हम एक-दूसरे की बातें बिना मीन-मेख के मानते चले गये

थे। जैसे यही कि मुझे देर तक नहीं सोना चाहिए, इससे पेट ख़राब रहता है। सविता को कैसी भी लेडीज़ सिगरेट क्यों न हो, नहीं पीनी चाहिए। औरतों का सिगरेट पीना मुझे बड़ा ही उत्तेजक लगता है। और आश्चर्य यह कि बरसों में हम एक-दूसरे को जितना कुछ न दे सके थे उतना कुछ उस दिन प्लेटफ़ार्म पर खड़े हो कर मुस्कराते हुए वह अनायास गहती रही और मैं आवेश में अपने हाथ हिलाते हुए थामता रहा। हमें तब शब्दों के आश्वासन की भी कोई आवश्यकता नहीं दिखलायी दी, क्योंकि सौंपने की अनुभूति दोनों ही ओर अनुभव हो जाती है। क्या सब कुछ कहना ही होता है? ट्रेन चलने पर मुझे पहली बार लगा कि सविता जा कम रही है, बल्कि ज़्यादा तो रही जा रही है, पर मुझे वह कितना कुछ साथ में लेती गयी, इसकी प्रतीति उसने मुझे कभी नहीं होने दी।

'गल्प इट' कह कर वह हँसती रही। मैं बहुत कुछ कड़वा कहना चाहता था पर संकोच यही था कि कल यही सविता स्मृति बनने को है। बल्कि जिसका स्मृति बनना शुरू भी हो चुका है, उसे ऐसी बात क्यों कहूँ जिससे स्मृति तक कड़वी लगने लगे, इसलिए बड़ी सहज बात मैंने कही :

—"जब सिगरेट तुमने छोड़ दी है, सविता, तब यह धुएँ जैसी कड़वी बात कैसे कह लेती हो?"

लगा कि वह कुछ सकपकायी है। थोड़ी देर चुप रह कर उसने आभास दिया कि अपने होंठों में वह कोई चीज़ रोके हुए है जिसे वह झुठला ले जाने के लिए कृतसंकल्प होना चाहती है। खरगोश का एक बाल हवा में तैर कर चू पड़ने की तरह उसका बोल फूटा :

—"दिवाकर! क्या विदा एक छोटी-मोटी मृत्यु नहीं होती?"

—"हो, तो?"

—"कितना अच्छा होता कि हम ईसाई होते। तब मैं कनफ़ेशन करती कि मैं तुम्हारे विश्वास की रक्षा न कर सकी।"

—"कौन से विश्वास की?"

—"यही कि तुमने सिगरेटें न पीने के लिए कहा था और मैं ऐसा न कर सकी।"

—"यह बताने की आवश्यकता नहीं, सविता! क्योंकि तुम्हारी अँगुलियों का पीलापन बता रहा है कि काफ़ी पीती रही हो।"

—"तो तुम पहले से ही समझ गये थे? हाय, एक कनफ़ेशन भी किया और वह व्यर्थ गया....लेकिन तुम तो अब देर तक नहीं ही सोते होगे?....वैसे सिर्फ़ पूछ रही हूँ, कनफ़ेशन नहीं चाहती।"

और सविता हँसते हुए उठ खड़ी हुई। स्पष्ट संकेत था कि अब और बैठना न हो सकेगा। उसने हाथघड़ी देखी। जाती हुई शाम जा चुकने के बिंदु पर थी। मैं अब समझ गया था कि किसी उत्तर की किसी को भी अपेक्षा नहीं रह गयी थी। वह फिर बोली :

—"दिवाकर! क्या हम कभी भी सच नहीं बोल सकते? क्या कनफ़ेशन के समय भी?"

मैं पूरी तरह असुविधा अनुभव कर रहा था, झल्लाते हुए बोला :

—"तुम शायद वैसे कभी भूल से सच बोल भी जाओ पर कनफ़ेशन के समय तो कभी भी नहीं बोल पाओगी।"

लेकिन उसने मेरे झल्लाने की न केवल चिंता ही नहीं की बल्कि उपेक्षा की और वह बोली :

—"दिवाकर ! मुझे ऐसा लगता है कि व्यक्ति चाहे प्रेम भले ही सौम्यता से न करे, पर प्रेम की इतिश्री अवश्य पूरी औपचारिकता, सौम्यता के साथ होनी चाहिए।"

—"तुम्हें नहीं लगता कि हम लोगों ने बड़ी जल्दबाज़ी की ?"

वह कुछ और भी कहती पर नौकरानी अपने उसी अंदाज़ में आती दिखायी दी। आते ही नौकरानी जिस प्रकार चाय के बर्तन सहेज रही थी, उसी तरह सविता ने भी वस्तुस्थिति को सहेजते हुए कहा :

—"दिवाकर ! तो, अब ?"

सविता के इस लहजे में मुझे अपने ही लहजे की ध्वनि सुनायी दी, अतएव मैंने सविता के लहजे में जवाब दिया :

—"तो, अब चला जाए।"

—"तुम्हारी गाड़ी कब जाती है ?"

—"तुम्हारा कंसर्ट कब खत्म होगा ?"

—"कंसर्ट से आठ बजे तो लौट ही आऊँगी।"

—"मेरी गाड़ी भी साढ़े दस के बाद ही जाती है।"

—"अच्छा...!!"

और सविता ने एक बार फिर वैसे ही देखा जैसे उसने स्टेशन पर अपने को सौंपते हुए देखा था।...नौकरानी ने बत्ती जला कर घिरती हुई शाम को ही नहीं बल्कि सविता और मुझे दोनों को ही चौंका दिया।

९९-ए लूकरगंज, इलाहाबाद।

●●

पत्रकारिता : आदर्श और वास्तविकता

हेरम्ब मिश्र

प्रारंभ में जनसाधारण की दृष्टि में पत्रकारिता का अर्थ सामान्यतः समाचारों का संकलन और प्रसारण मात्र था। बहुधा लोग पत्र और पत्रकारिता को अविभाज्य रूप में ही देखते आये थे। किंतु पत्र और पत्रकारिता के अपने अलग-अलग इतिहास रहे हैं। समाचारपत्र का जन्म अगर चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था, तो पत्रकारिता का जन्म वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में माना जायगा जबकि इसे एक कला की संज्ञा मिली और इसका अपना एक आदर्श निर्धारित हुआ। इसी आदर्श के कारण पत्रकार का पद और पत्रकारिता का पेशा बहुत ऊँचा माना जाने लगा। जनसाधारण की दृष्टि में भी पत्रकारिता का अर्थ समाचारों का संकलन और प्रसारण मात्र नहीं रहा। पत्र, पत्रकारिता और पत्रकार का महत्व बढ़ना इसलिए भी निश्चित था कि इनका आधार मनुष्य की वह जिज्ञासा थी जो उसे अपने आसपास की, सारे देश की और विश्व की जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रारंभ से ही उत्प्रेरित करती आयी है। इसी जिज्ञासा की पूर्ति के साधन के रूप में पत्रों का आविर्भाव हुआ। मध्ययुगीन दासता की बेड़ियों के टूटने का क्रम प्रारंभ होने पर, ख़ास तौर से यूरोप की औद्योगिक क्रांति के बाद, जब समाज में नयी भावनाओं, नये विचारों और उनके अनुरूप नये मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी और लोकतंत्र के सिद्धांतों ने अपना प्रभाव तेज़ी से डालना प्रारंभ किया पत्रों को लोकमत के संरक्षक, सहायक और पथप्रदर्शक के रूप में एक नयी शक्ति माना गया और उनका स्थान और मान कहीं आगे बढ़ गया। पत्रों की स्थान-मान-वृद्धि के साथ पत्र से पत्रकारिता का जन्म हुआ––एक कला और साथ ही एक विज्ञान के रूप में। यहीं पत्रकारिता के उस आदर्श और दायित्व की नींव पड़ी जिसने पत्र और पत्रकारिता को 'चतुर्थ सत्ता' का आसन प्रदान किया। पत्रकारिता को 'चतुर्थ सत्ता' की संज्ञा यों ही नहीं मिल गयी। यह स्थान उसे आदर्श की महानता और दायित्व की गहराई के कारण ही मिला। पत्रकारिता के सारे आदर्श इन तीन बातों में ही समाहित हैं : (१) विशाल मानव-परिवार की एकता (विश्वबंधुत्व); (२) जन-सेवा (सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए प्रयत्नशील रहना); तथा (३) शांति-स्थापना। ये उद्देश्य अपने में इतने पूर्ण हैं कि इनमें मानव-कल्याण की सभी बातें––सामाजिक सुधार से ले कर झकझोर देने वाली आर्थिक क्रांति तक––आ जाती हैं। यह उस पुराने आदर्श का ही आशीर्वाद है कि पतनोन्मुख होने पर भी पत्रकरिता अपना प्रभाव बनाये हुए है। किंतु पतनोन्मुख पत्रकारिता पर आदर्शवाद का यह आशीर्वाद कब तक बना रह सकता है !

आज का पत्रकार, जो वास्तव में पत्रकार है, उन आर्थिक, सामाजिक और वैज्ञानिक संबंधो को देख रहा है जो मनुष्य की अनेक संकीर्णताओं को समाप्त करने के लिए आगे बढ़ते दिखलायी दे रहे हैं। दृष्टि की इस व्यापकता के कारण ही अनेक अवसरों पर एक सच्चा पत्रकार अंधराष्ट्रवाद और संकीर्ण देशभक्ति के विरुद्ध भी आवाज़ उठाता है। येल विश्वविद्यालय में पत्रकारिता विषय पर दिये गये अपने एक भाषण में विलियम लेविस ने कहा था : **"पक्षपात—चाहे वह देशभक्ति के नाम पर हो या और किसी तरह का—बेईमानी है। याद रखिए, यदि आपको किसी देश से द्वेष है तो हो सकता है कि दोष उस देश में नहीं, बल्कि आप ही में हो।"**

जनसेवा के संबंध में जे० बी० मेकी का निम्नलिखित कथन काफ़ी होगा : **"जो पत्रकार अपने कर्तव्य का पूरो तरह अनुभव करता है और अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखता है उसकी सबसे बड़ी चिंता यह होती है कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित कैसे हो। वह ग़रीब और पददलित का मित्र होता है।"** अपनी पुस्तक मॉडर्न जर्नलिज़्म में मेकी ने कहा है कि पत्रकार की न्यायप्रियता का तकाज़ा है कि वह 'धन' या 'उच्च पद' के प्रति पक्षपात न करे। पत्रकार का काम केवल घटनाओं को प्रस्तुत करना ही नहीं है, जैसाकि साधारणतः समझा जाता है। उसका कार्य इससे कहीं बड़ा है, वह सामाजिक, सार्वजनिक और राष्ट्रीय जीवन से संबंधित विषयों का आलोचक मात्र नहीं होता। वह समय की गति के साथ अपने क़दम बढ़ाता रहता है और ज़रूरत पड़ने पर जनता के हित में क़लम की जगह तलवार उठा लेता है।

पत्रकारिता के उदय-काल से ही पत्रकारों ने युद्ध और शांति के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक सोचना प्रारंभ कर दिया था। प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महायुद्ध के भयंकर नर-संहार ने अनेक ईमानदार और आदर्शवादी पत्रकारों को झकझोर कर उन तथ्यों का पता लगाने के लिए प्रेरित किया जो युद्ध के मूल में छिपे होते हैं। उनका पता लगाने के बाद वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि आम जनता किसी भी हालत में युद्ध नहीं चाहती, युद्ध तो कुछ मुट्ठी भर स्वार्थी लोगों के हित में उस पर लादा जाता है। आज का हर ईमानदार और समझदार पत्रकार यह स्वीकार करता है कि प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महायुद्ध दोनों मुख्य रूप से बाज़ार के बँटवारे के लिए या एक दूसरे का बाज़ार छीनने के लिए हुए थे।

पत्रकारिता जिस उद्देश्य को ले कर बढ़ी थी वह मनुष्य को देवत्व का संदेश देने वाला है तभी तो जे० बी० मेकी ने उसे पौराणिक जुपिटर के संदेशवाहक के रूप में चित्रित किया है और यह चेतावनी भी दी है कि पत्रकारिता में किसी तरह की भ्रष्टता का अथवा नैतिक भावना के साथ उसके संघर्ष का परिणाम अंत में बुरा ही होता है। इसी सिलसिले में उन्होंने पत्रसंचालकों के संबंध में कहा है। **"जो पत्रसंचालक सफलता के रहस्य को समझते हैं और जो अपने कब्जे की संपत्ति के मूल्यों को बनाये रखना और बढ़ाना चाहते हैं, वे यह अनुभव करते हैं कि वास्तविक समृद्धि सचाई के प्रयत्न में लगी शक्तियों के साथ मिल कर ही हो सकती है।"**

लोकतंत्र की रक्षा और उसके प्रसार का दायित्व भी मुख्यतः समाचारपत्रों पर ही है। किंतु पत्रकार को राजनीतिक नेताओं की तरह लोकतंत्र की मनमानी परिभाषा कर के उसे हास्यास्पद नहीं बना देना है। लोकतंत्र के प्रति, राष्ट्र के प्रति और जनता के प्रति पत्रकार के

कर्तव्य के बारे में डी० लॉयड जॉर्ज ने एफ़० जे० मेन्सफील्ड की 'कंप्लीट जर्नलिस्ट' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है : "**आज की एक सबसे बड़ी परिस्थिति, जो लोकतंत्र के प्रसार की ओर ले जाती है और जो उसे क़ायम रखती है, वह है हमारे समाचारपत्रों की रचना। ये समाचारपत्र राष्ट्र को सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का पूर्ण और यथार्थ विवरण देते हैं और ज्ञानगर्भित टिप्पणियों तथा आलोचनाओं से उनपर प्रकाश डालते हैं। प्रति दिन की यह शिक्षा जनता को स्वतंत्रता और स्वशासन का दायित्व ग्रहण करने के योग्य बनाती है। राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में पत्रकार जो योगदान करता है उसका बहुत बड़ा महत्व होता है। उसकी सेवाएँ अक्षय हैं। पत्रकार पर जनता को अपने सामाजिक जीवन, व्यवसाय, खेलकूद, कला, साहित्य, धर्म और नैतिकता से संबंधित विषयों से अवगत रखने का दायित्व होता है। सारा राष्ट्र उसका स्वाध्यायपीठ है और उसका पाठ्यक्रम संपूर्ण वर्ष बिना अवकाश के चलता रहता है।**"

ऊँचे आदर्श के कारण ही पत्रकारिता को 'चतुर्थ सत्ता' की संज्ञा मिली थी और पत्रकार का पद इतना ऊँचा माना गया था। पत्रकार को किसी ने नरेश कहा, किसीने शिक्षकों का शिक्षक, किसी ने लोकनायक और लोकगुरु और किसीने मर्करी।

इस वर्णन से पत्रकार और पत्रकारिता की एक ऊँची परिभाषा भी अपने आप सामने आ जाती है। किंतु ऐसी परिभाषा से कुछ भिन्न परिभाषाएँ भी की गयी हैं। टी० एच० एस० स्कॉट ने 'मास्टर ऑफ़ जर्नलिज़्म' में पत्रकार की एक 'कामचलाऊ' परिभाषा इस प्रकार दी है : "**पत्रकार वह व्यक्ति है जो थोड़े-थोड़े समय के अंतर पर प्रकाशित अपनी रचनाओं से जनमत को एक निश्चित दिशा में प्रभावित करना चाहता है।**" अनेक लोगों ने पत्रकार की सीधी-सादी परिभाषा बस इस प्रकार दी है : "**पत्रकार वह है जो समाचारों का संग्रह और संकलन करता है, समाचार तैयार करता है और फिर उन्हें प्रकाशित करता है।**" इससे भी सरल और सीधी परिभाषा ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी में इस प्रकार की गयी है : "**किसी पत्र का संपादन कर के या उसके लिए कुछ लिख कर जो अपनी जीविका चलाता है उसे पत्रकार कहते हैं।**" कुछ लोगों ने विभिन्न देशों की विधि-संहिता में पत्रकार संबंधी क़ानूनों के साथ की गयी परिभाषाओं को ही पत्रकार की परिभाषा मान लिया है। किंतु यह पत्रकारों का और पत्रकारिता का मखौल ही कहा जायगा। कोई भी सच्चा पत्रकार इस परिभाषा से संतुष्ट नहीं हो सकता।

व्यावहारिता और यथार्थता के नाम पर पत्रकार-जगत के अनेक 'पंडितों' ने यही माना है कि पत्रकार किसी एक विषय का पंडित न हो कर सभी विषयों का न्यूनाधिक ज्ञान रखने वाला होता है और वह आदर्श के फेर में ही बराबर नहीं पड़ा रह सकता। अपने देश के अधिकांश पत्रों की जो स्थिति है उसमें तो और भी नीचे दर्जे की परिभाषा करनी होगी। ब्रिटेन में समाचारपत्रों के उदय-काल में जिस तरह कुछ लोगों ने गुप्तचरों को संवाददाता, 'रजिस्टर-निरीक्षकों' को संपादक और 'क्लर्कों' को उपसंपादक बतलाया था, उसी तरह आज पत्रकारिता के वर्तमान युग में भी भारतीय भाषाओं के अधिकांश पत्रों की स्थिति को देखते हुए पत्रकार की परिभाषा के संबंध में अगर यह कहा जाय कि 'पत्रकार अख़बार के दफ़्तर के संपादकीय विभाग का क्लर्क, मुहर्रिर या

पेशकार है' तो यह कटु तो अवश्य होगा, किंतु सत्य यही है। भला इस परिभाषा को ले कर हम यह कैसे कह सकते हैं कि पत्रकार का दर्जा बहुतों से ऊँचा है। क्या उसीके आधार पर हम सी० पी० स्कॉट की उक्ति को दोहरा सकते हैं कि : **"हमारा पेशा सर्वाधिक गौरवपूर्ण पेशा है ?"**

सामने जो वास्तविकता है उसके अनुसार पत्रकार और पत्रकारिता की परिभाषा चाहे जो कर ली जाय, किंतु आदर्श पत्रकारिता और आदर्श पत्रकार की अपनी एक ऊँची परिभाषा अवश्य है। विकेम स्टीड ने आदर्श पत्रकार की परिभाषा इस प्रकार की है : **"आदर्श पत्रकार वह है जो प्राचीन ज्ञान, आधुनिक दर्शनों, वैज्ञानिकों के ज्ञान, इंजीनियरों की जानकारी, अपने समय के और पहले के इतिहास तथा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के मुख्य तथ्यों को अच्छी तरह बोधगम्य कर के इन सबको हृदय में सजा कर रखने में समर्थ हो और अपने इस ज्ञान में से अधिक से अधिक जितना उसके लाखों पाठक तत्परता से पचा सकें उतना उन्हें देता रहे।"** जहाँ तक ज्ञान-दान का संबंध है, यह परिभाषा अपने में पूर्ण है और इसमें जन-उद्धार की भी बात परोक्ष रूप में आ जाती है।

पत्रकारिता के आदर्श की बात काफ़ी हो चुकी। अब हमें यह देखना है कि आज वास्तविकता क्या है। सबसे पहले हम उस ब्रिटिश पत्रकारिता को ही लेते हैं जिसने प्रारंभ में सचमुच एक आदर्श प्रस्तुत किया था और यह दावा किया था कि **'ब्रिटिश पत्रों के प्रभाव की तुलना केवल चर्च, पार्लियामेंट और राजसिंहासन से ही की जा सकती है।'** ब्रिटिश पत्रकारों का यह भी दावा था—और काफी हद तक सही भी था—कि लोकतंत्र के विकास में हमारा योगदान सबसे अधिक रहा। किंतु आज उसी ब्रिटेन में सारे पत्रों को कुछ मुट्ठी भर लोगों के कब्ज़े में आया देख कर यह भय पैदा हो रहा है कि वे कुछ ही दिनों में लोकमत के समर्थक नहीं रह जायँगे। ब्रिटेन का सजग पाठकवर्ग यह भी देखने लगा है कि बड़े-बड़े विज्ञापनदाताओं का प्रभाव पत्रों पर कितनी बुरी तरह पड़ रहा है। तीसरी चीज़, जो किसी भी पाठक से छिपी नहीं है, वह है सरकार का दबाव या प्रभाव। 'शासन-गोपनीयता अधिनियम' और 'राजद्रोह-उत्तेजन अधिनियम' की ओट में आज भी ब्रिटिश पत्रों की स्वतंत्रता को सीमित रखा गया है। 'राजद्रोह-उत्तेजन अधिनियम' द्वारा तो न केवल अपराध करने पर, बल्कि अपराध किये जाने की आशंका मात्र पर पत्रों के विरुद्ध कार्रवाई की जा सकती है। न केवल युद्ध के समय बल्कि शांति के समय भी इन क़ानूनों की वजह से पत्रों कि स्वतंत्रता पर ख़तरा बना रहता है। आइवर टॉमस ने अपनी पुस्तिका 'दि न्यूज़पेपर' में बताया है कि सरकार के जनसंपर्क-अधिकारियों के साथ पत्रों का जो संबंध है उससे भी पत्रों की स्वतंत्रता के अपहरण का ख़तरा बन रहता है। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि ये अधिकारी सलाह देते-देते आदेश देने लगते हैं। इन अधिकारियों का काम होता है अपने मंत्रियों के कार्यों की प्रशंसा करना। आइवर टॉमस का कथन है कि इनके 'पहले से ही तैयार किये हुए वक्तव्य' उत्तम पत्रकारिता की हत्या करने वाले होते हैं।

आजकी पत्रकारिता की स्थिति से दुखी हो कर प्रसिद्ध ब्रिटिश पत्रकार आर० डी० ब्लूमफ़ील्ड ने कहा था : **'वे दिन लद गये जब संपादक ही सब कुछ था।'** ए० जी० गार्डिनर ने तो लार्ड नॉर्थक्लिफ़ तक की आलोचना करते हुए कहा है कि उन्होंने पत्रकारिता की स्थापना एक पेशे

के रूप में की, किंतु बाद में उसे एक व्यापार के रूप में बदल दिया। वाणिज्य और व्यापार के चंगुल में पड़े पत्रों पर एच० डब्लू० मैसिंघम ने जो कहा है उसके बाद और अधिक कुछ कहने को नहीं रह जाता : **"विशुद्ध रूप से सिर्फ़ वाणिज्य से ही संबंध रखने वाले पत्र समाजविरोधी होते हैं, और उन्हें होना भी चाहिए। वे युद्ध चाहते हैं, क्योंकि युद्ध से पत्रों की बिक्री होती है। वे अपराध पसंद करते हैं, क्योंकि इनसे पत्रों की बिक्री होती है। वे हर तरह के उत्तेजक मनोरंजन चाहते हैं, क्योंकि उत्तेजक मनोरंजन से पत्रों की बिक्री बढ़ती है। वे जुआ पसंद करते हैं, क्योंकि जुआड़ी अखबार खरीदते हैं। वास्तव में आज पत्रकारिता औरतों और बच्चों को जुआड़ी बना रही है। वह औद्योगिक समाज को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहती है, यानी वह चाहती है कि यह समाज अधिकाधिक पूँजी की सत्ता के अधीन होता जाय, क्योंकि इसकी आय और व्यक्तिगत स्वार्थ पूँजीवादी व्यवस्था में अपनी जड़ जमाये हुए है। इन पत्रों के संचालकों का विश्वास और किसी चीज में नहीं है।" (—१९२४ ई० में नॉटिंघम में हुई सहकारिता-कांग्रेस में पढ़े गये निबंध का एक अंश)**

पत्रकारिता की इसी स्थिति पर १९३२ ई० में स्टेपनी के बिशप ने अपनी व्यथा इन शब्दों में प्रकट की थी : **"दैनिक पत्रों में अधिकांशतः उन लोगों का वर्णन रहता है जिन्होंने जीवन-संग्राम में हथियार डाल दिये हैं। हम उन दस व्यक्तियों के बारे में तो पढ़ते हैं जो बेईमानी करते मिले हैं, हम उन लाखों व्यक्तियों के बारे में कुछ नहीं सुनते जिन्होंने अच्छे काम किये हैं।"** मज़ा तो यह है कि ये पत्रस्वामी अपने पत्रों को लोकतंत्र का समर्थक और पोषक बतलाते हैं। इन्हीं लोकतंत्रवादी पत्रों के बारे में टॉमस अर्ल वेल्वी ने कहा था : **"दानवीय उद्दाम वासनाओं का और अपराधों का प्रदर्शन ही आज लोकतंत्रवादी पत्रों का मुख्य व्यवसाय हो गया है।"** पत्रों की इस स्थिति को क़ायम रखने के लिए 'पत्रस्वामी' पत्रकारों को भी भ्रष्टाचार और दूसरे अनैतिक कार्यों की ओर ढकेल रहे हैं। संवाददाताओं के संबंध में तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि वे समाचार-संग्रह के सिलसिले में रिश्वत लेने और देने से भी नहीं चूकते। जहाँ पत्रकारों को अपराध-कथाओं, विलासभवनों की भोगलीलाओं, जुआड़ियों के अड्डों की हलचल और बड़े घरानों की लड़कियों के पलायन या अपहरण में ही दिलचस्पी रखने को बाध्य किया जाता हो, वहाँ उनका चरित्र और उनकी नैतिकता बहुत दिनों तक ऊँची कैसे रह सकती है? पत्रकारिता में रिश्वतख़ोरी का संकेत मेन्सफील्ड के निम्नलिखित वाक्य में ही मिल जाता है : **"कभी-कभी रिश्वतख़ोरी और भ्रष्टता संवाददाताओं के पक्ष से और उस पक्ष से, जिससे समाचार प्राप्त होते हैं, आती है।"** इसीलिए उन्होंने आगे यह सलाह दी है कि पत्रकार को यह बात साफ़-साफ़ समझ लेनी चाहिए कि न तो वह किसी के हाथ बिके और न रिश्वत स्वीकार करे।

अमेरिकी पत्रकारिता की दशा और भी विलक्षण है। सनसनी, उत्तेजना और अतिशयोक्ति अमेरिकी पत्रकारिता के तीन प्रमुख स्तंभ हैं। सत्य भी कभी-कभी सनसनीखेज़ और उत्तेजनात्मक होता है। ऐसी स्थिति में वह पाठकों को विशेष रूप से आकृष्ट करता है। इसी आकर्षण को ले कर आज समाचार को खामखाह सनसनीखेज़ और उत्तेजनात्मक बनाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। परिणाम यह होता है कि सत्य को असत्य के रूप में और असत्य को सत्य के रूप में चित्रित किया

जाने लगता है। अंग्रेज़ी में इसी तरह की पत्रकारिता को 'यलो जर्नलिज़्म' कहते हैं। 'यलो जर्नलिज़्म' का प्रमुख गढ़ आज अमेरिका को ही माना गया है। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने इसी स्थिति से क्षुब्ध हो कर कहा था : **"सच्ची बात को दबा देने के काम से ले कर झूठी बातों का सुझाव देने के काम तक, जितने तरह का झूठ मनुष्य जानता है, वे सब अमेरिकी पत्रों में अभिव्यक्त होते दिखलायी देते हैं। ऐसा निरंतर हो रहा है—आदतन और व्यावसायिक व्यवहार के रूप में।" (—जेम्स एडवर्ड रॉजर्स लिखित 'दि अमेरिकन न्यूज़पेपर्स' की भूमिका से)**

जेम्स एडवर्ड रॉजर्स ने अपनी पुस्तक में अंग्रेज़ लेखक चार्ल्स ह्विवले अमेरिका के 'लेसलीवीक' के संपादक जॉन ए० स्लीचर और फ़्रैंक मूंज़े के भी कथन उद्धृत किये हैं। चार्ल्स ह्विवले का कहना है कि न्यूयार्क से प्रशांत तट तक पढ़े जाने वाले समाचारपत्रों से संसार का कोई सभ्य देश संतुष्ट नहीं है। स्लीचर लिखते हैं : **मेरा विश्वास है कि इस देश के समाचारपत्र ५० वर्ष पूर्व जितने सही थे उतने आज नहीं हैं।"** फ़्रैंक मूंज़े ने रविवासरीय पत्रों की विशेष चर्चा करते हुए कहा है : **"पंद्रह वर्षों से किसी नयी बात का पता नहीं लगा है। इन पंद्रह वर्षों में हम नक़ल की नक़ल करते आ रहे हैं। आप जो कुछ कह सकते हैं वह यही है कि कुछ तो बहुत बुरे हैं।"** अंत में रॉजर्स ने स्वयं लिखा है : **"इस विषय का मेरा अध्ययन मुझे जिस निष्कर्ष पर ले आया है वह यही है कि अमेरिकी पत्रों की प्रकृति तत्वतः सनसनी पैदा करने वाली और व्यावसायिक है। मानवीय विचारों के सांस्कृतिक पहलुओं को तो गौण स्थान दिया जाता है और इसके परिणामस्वरूप समाज की नैतिकता पर इसका जो प्रभाव पड़ता है वह सनसनी के प्रति अनुराग और विशुद्ध भौतिक पदार्थों में दिलचस्पी की दिशा में ले जाता है।"**

क्या भ्रष्टता और अनैतिकता का प्रचार ही लोकतंत्र की सेवा है? जब पत्रों में काम करने वाले पत्रकार ही स्वतंत्र नहीं रहे, उनसे व्यापक स्वतंत्रता की आशा कैसे की जा सकती है? फिर, अमेरिका में हो या ब्रिटेन में, कौन-सा ऐसा पत्र है जो अपने संचालकों की मर्ज़ी के खिलाफ़ कोई जनहित की बात उठा सकता हो, किसी न किसी दल के नियंत्रण या प्रभाव में न हो, सरकार और विज्ञापनदाताओं के विचारों का ख़्याल न रखता हो? कुछ बातों को दृष्टि में रखते हुए हम ब्रिटेन के 'टाइम्स' और 'गार्जियन' को भी पूर्ण स्वतंत्र नहीं मान सकते। अनेक अवसरों पर वे भी अपनी राष्ट्रीय संकीर्णता में क़ैद हो जाते हैं।

भारत में स्वतंत्रता-आंदोलन के समय पत्रकारिता का जो चरित्रगठन हुआ था, उसमें कुछ ऐसे प्रबल तत्व ज़रूर थे जिनकी वजह से अभी इतनी क्षीणता तो नहीं आयी है जितनी ब्रिटेन, अमेरिका और अन्य देशों में आ गयी है। किंतु क्षीणता के लक्षण बहुत कुछ दिखलायी देने लगे हैं। व्यवसायवाद इसे और भद्दा बनाता जा रहा है। सी० एल० आर० शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'जर्नलिज़्म' में एक स्थान पर ठीक ही कहा है कि **'बड़े-बड़े व्यवसायियों के संपर्क में जो भी चीज आयी कि उसका पतन हुआ। पत्रकारिता का भी पतन कम उसीने किया है।"** शास्त्री की यह उक्ति उनके हृदय की गहराई से निकली एक बहुमूल्य अनुभूति है जो आसन्न संकट का स्पष्ट संकेत कर रही है। इसी तरह की बात इस शताब्दी के तीसरे दशक में ही गणेशशंकर विद्यार्थी ने कही थी :

"मैं यह धृष्टता तो नहीं कर सकता कि कहूँ कि संसार के अन्य सब बड़े पत्र ग़लत रास्ते पर जा रहे हैं और उनका अनुकरण नहीं होना चाहिए, किंतु मेरी धारणा यह अवश्य है कि संसार के अधिकांश समाचारपत्र पैसे कमाने और झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने के काम में उतने ही लगे हुए हैं जितने कि संसार के बहुत से चरित्रशून्य व्यक्ति। अधिकांश बड़े समाचारपत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं। इसी प्रकार के संचालन या दल-विशेष की प्रेरणा से उनका निकलना संभव है। अपने संचालकों या अपने दल के विरुद्ध सत्य बात कहना तो बहुत दूर की वस्तु रही, उनके पक्ष-समर्थन के लिए वे हर तरह के हथकंडों से काम लेना अपना नित्य का आवश्यक काम समझते हैं। इस काम में तो वे इस बात का विचार रखना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है? सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं। संसार भर में यह हो रहा है। इने-गिने पत्रों को छोड़ कर सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं। जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपना काम बना रखा है, उनमें बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हों कि हमें सचाई की भी लाज रखनी चाहिए, केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिए दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं। इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचारपत्रों और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है। हिंदी पत्रों के सामने भी यही मार्ग बनता जा रहा है।...यहाँ भी अब बहुत से समाचारपत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं।...आपके पास जबर्दस्त विचार हों, और पैसा न हो, और पैसे वालों का बल न हो, तो आपके विचार आगे न फैल सकेंगे, आपका पत्र न चल सकेगा। इस देश में भी समाचारपत्रों का आधार धन हो रहा है। धन से ही वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत से पत्रकार भी धन की ही अभ्यर्थना करते हैं। अभी यहाँ पूरा अंधकार नहीं हुआ है, किंतु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही समय पश्चात यहाँ के समाचारपत्र भी मशीन के सदृश हो जायँगे और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मशीन के पुर्ज़े। व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अंतर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफ़तों को बुलाने की चाह न रहेगी, रह जायगा केवल खिंची हुई लकीर पर चलना। मैं तो उस अवस्था को अच्छा नहीं कह सकता। ऐसे बड़े होने की अपेक्षा छोटे, और छोटे से भी छोटे, किंतु कुछ सिद्धांतों वाले होना कहीं अच्छा। पत्रकार कैसा हो, इस संबंध में दो रायें हैं—एक तो यह कि उसे सत्य या असत्य, न्याय या अन्याय के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। एक पत्र में वह नरम बात कहे तो दूसरे में बिना हिचक गरम कह सकता है, जैसा वातावरण देखे वैसा करे। अपने लिखने की शक्ति से हट कर पैसे कमाने, धर्म और अधर्म के झगड़े में न अपना समय ख़र्च करे और न अपना दिमाग़ ही। दूसरी राय यह है कि पत्रकार की समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है, वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है, वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिणाम का विचार रख कर लिखे और अपनी गति-मति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं है, लोकसेवा उसका ध्येय है। और अपने काम से जो पैसा वह कमाता है, वह ध्येय तक पहुँचाने के लिए एक साधन मात्र है।

संसार के पत्रकारों में दोनों तरह के आदमी हैं। पहले दूसरी तरह के पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति के युग में, पहली तरह के। उन्नति समाचारपत्रों के आकार-प्रकार में हुई है, खेद की बात है कि उन्नति आचरणों की नहीं हुई है। . . . .''

दूरदर्शी और भविष्यद्रष्ट्रा पत्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी को यह बात कहे आज तीन दशक हो रहे हैं। तब से अब तक अपने देश में पत्रकारिता का हाल क्या से क्या हो गया है, यह पत्रकार ही नहीं, समाचारपत्र के पुराने पाठक भी देख रहे हैं। पत्रकारिता में आदर्श की बात अब अव्यावहारिकता और मूर्खता मानी जाने लगी है।

विचारों में न सही, समाचारों में ही अगर आदर्श बचा रहे तो क्या यही कुछ कम है? यहाँ भी हम आदर्श के लिए आदर्श की बात छोड़ देते हैं तो फिर क्या व्यावसायिक दृष्टि से भी समाचारों के संबंध में ईमानदारी ज़रूरी नहीं है? क्या पत्रसंचालकों के लिए यह बात ग़ौर करने की नहीं है कि ज्यों ही जनता को यह संदेह होने लगता है कि सचाई छिपायी जाती है या समाचारों को जानबूझ कर ग़लत रूप में प्रकाशित किया जाता है, वह पत्रों पर अविश्वास करने लगती है और फिर उनकी बिक्री भी कम हो जाती है? किंतु प्रचारप्रिय संचालक इस पर ग़ौर करना शायद इसलिए ज़रूरी नहीं समझता कि उसे विश्वास है कि जनता उसके झूठ के जाल में फँस जाने के बाद उससे निकल नहीं सकती। अतः समाचारों के मामले में भी अब आदर्श की रक्षा होती नहीं दिखलायी देती। समाचारों में जैसी मिलावट शुरू हो गयी है वह जनकल्याण की दृष्टि से और लोकतंत्र की दृष्टि से बड़ी भयावह है। लार्ड इनवर क्लाइडने समाचारों के संबंध में लिखा है: **''हमें पत्रों में किसी न किसी तरह के प्रचार का बाहुल्य ही दिखलायी देता है। और यह प्रचार इस तरह किया जाता है कि केवल बहुत होशियार पाठक ही उसके जाल में पड़ने से बच सकता है। भ्रामक शीर्षक, बिगाड़ कर रखे गये उद्धरण, पक्षपातपूर्ण भावानुवाद, भाषणों के अंशों की काट-छाँट, भाषणों के कुछ अंशों पर मोटे-मोटे शीर्षकों द्वारा अत्यधिक ज़ोर--ये सारी बातें समाचार की बजाय विचार-नीति का परिणाम मालूम पड़ती हैं।''**

किसी समय पत्रकारिता में समाचार की पवित्रता को बनाये रखना सबसे बड़ा धर्म बतलाया गया था; किंतु आज समाचार के साथ व्यभिचार करना ही जैसे पत्रकारिता की कला, उसका सिद्धांत और दर्शन मान लिया गया है। विशुद्ध और निष्पक्ष समाचार तो दुर्लभ हो रहे हैं किंतु इस स्थिति पर आँसू बहाने वाला भी कोई है?

विचारों के प्रश्न पर समाचारपत्रों से किसी को कोई विशेष झगड़ा नहीं हो सकता; किंतु समाचारों के बारे में अनाचार को पाठक बहुत दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर सकते। प्रचार-कला में पत्र और पत्रकार कितने ही निपुण क्यों न हो जायँ, एक न एक दिन क़लई खुलना निश्चित है। कुछ ऐसे तथ्य होते हैं जिन्हें प्रचार से छिपाया नहीं जा सकता। समाचारों के बारे में जॉर्ज बर्नार्ड शा ने कहा है कि पत्रकार का पेशा राजनीतिक दर्शन से नहीं, समाचार से संबंद्ध है। प्रसिद्ध पत्रकार डीफ़ो के अनुसार समाचार मानव-समाज का पोषक तत्व और अवलंब है। ब्रिटेन के 'टाइम्स' पत्र ने समाचार के संबंध में लिखा था: **''समाचार ईमानदारी के साथ बिना काटे-छाँटे और मानव स्वभाव के निकृष्टतम पक्ष को छोड़ते हुए देना चाहिए। समाचार में रोचकता**

हो, किंतु सनसनी नहीं प्रभावात्मकता हो किंतु उन्माद नहीं, उसमें लोगों को विश्वास दिलाने की शक्ति हो किंतु हठधर्मी बनाने की नहीं, समाचार-संपादन में गंभीरता हो किंतु नीरसता नहीं।"

'डेली टेलीग्राफ़' ने भी, जिसे आज आदर्शवादी पत्र मानने में संकोच होता है, कभी कहा था कि समाचार निष्पक्ष भाव से बिना तोड़े-मरोड़े प्रस्तुत करना चाहिए। किसी सार्वजनिक प्रश्न पर किसी पत्र की कोई निश्चित नीति भले हो, किंतु उसके संबंध में अगर कोई समाचार पत्र में प्रकाशित हो रहा हो तो उसपर पत्र की नीति का रंग चढ़ाना अपराध है। पत्र की नीति के अलावा पत्रकार का निजी विचार भी अक्सर समाचार पर अपना रंग चढ़ाता रहता है। समाचार प्रस्तुत करते समय समाचार को कम से कम अपने विचार के प्रभाव से बचाना तो पत्रकार के हाथ की बात है ही। जहाँ पत्रकार अपने निजी विचार का रंग चढ़ाने की कोशिश करता है, वहाँ तो उसीको दोषी माना जायगा, न कि मालिक को। विख्यात ब्रिटिश पत्रकार सी० पी० स्कॉट ने जो बात कही थी उसके प्रकाश में अगर हम समाचारों के विषय में आज एक-एक पत्र की जाँच करें तो शायद एक भी पत्र आदर्श की कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा। उन्होंने कहा था: **"पत्र पार्टी के प्रचार-यंत्र से कुछ बड़ी चीज़ है। उसका संपूर्ण जनता के प्रति एक कर्तव्य होता है। उसे एक सार्वजनिक संस्था की-सी वस्तु होना चाहिए। हर पक्ष को यह अधिकार है कि उसकी बात सुनी जाय और उसका समाचार प्रकाशित हो। पत्र को एक राजनीतिक संस्था से बड़ी चीज़ होना चाहिए और उसे सारे समाज की सेवा करनी चाहिए। उसका पहला कार्य है समाचार देना, और सारे समाचार देना। किसी भी हालत में समाचारों की छँटनी या उनमें उलट-फेर नहीं होना चाहिए और न उसे रंजित करना चाहिए। तथ्य पवित्र होते हैं और किसी पत्र के लिए अपनी अभिव्यक्ति के अधिकार का और प्रकाशन का उपयोग प्रचार के साधन के रूप में करना एक अभिशाप है।"**

एक स्वतंत्रताप्रेमी पत्रकार की सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि क़लम उसकी है, कालम (पत्र के स्तंभ) किसी और के। पत्र कुछ ख़ास व्यक्तियों या दलों के हाथ में हैं और पत्रकार उसमें वेतन पाने वाला एक कर्मचारी मात्र है। यहीं यह स्पष्ट हो जाता है कि पत्रकारिता का आदर्श की लीक पर चलना संभव नहीं। जब हम देखते हैं कि कुछ पत्र पूँजीवादियों के हाथ में हैं, कुछ पर पार्टियों का अधिकार है, कुछ किसी पार्टी के गुट विशेष से प्रभावित हैं, कुछ की नीति सरकार और विज्ञापनदाताओं के नाराज़ होने के भय से इधर-उधर नहीं हो पाती और कुछ केवल सनसनी, उत्तेजना और मनुष्य की हीन प्रवृत्तियों का स्पर्श ले कर निकलते हैं तो समझ में नहीं आता कि पत्र का, पत्रकार का और पत्रकारिता का कोई एक सामान्य आदर्श, एक धर्म और एक स्वरूप कैसे माना जाय। आज भी हम पत्रों को 'चतुर्थ सत्ता' का नाम देते आ रहे हैं, किंतु यह 'चतुर्थ सत्ता' तो अपने में ही विभाजित है और कोई उसकी टाँग पकड़ कर इधर खींचता है तो कोई हाथ पकड़ कर उधर। ऐसी सत्ता को सर्वसाधारण की एक ठोस और केंद्रित सत्ता कैसे माना जाय? अपनी इस दुर्दशा में वह संपूर्ण जनता पर अपना एकच्छत्र प्रभाव डालने में भला कैसे समर्थ हो सकती है? जब साधारण जनता की आवश्यकताएँ और समस्याएँ सामान्य

हों और उसका हित मूलतः एक हो, यह विभाजित सत्ता क्या उसका पथप्रदर्शन कर सकती है ?

वस्तुतः 'चतुर्थ सत्ता' शब्द भाषणों और लेखों में इस्तेमाल करने के लिए या, अधिक से अधिक, पत्रकार को जब-तब थोड़ी-सी आत्मतुष्टि देने के लिए बच रहा है। पंडित कमलापति त्रिपाठी का 'पत्र और पत्रकार' नामक पुस्तक से नीचे उद्धृत उद्गार इस आत्मतुष्टि की ही भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति है : **"साधक के लिए साधना का, त्यागी के लिए उत्सर्ग का, तपस्वी के लिए कष्ट-सहन तथा अनासक्ति का, योद्धा के लिए संघर्ष और रण का, कवि के लिए अनुभूति की अभिव्यक्ति का, कलाकार के लिए संसृति के गूढ़ और रहस्यमय चित्रों के चित्रण करने का, आलोचक के लिए जीवन की स्थूल और सूक्ष्म धारा के विवेचन का, साहित्य के लिए लौकिक और अलौकिक, यथार्थ और भावुक जगत को प्रकाश में लाने का पथ एक साथ ही उपस्थित करने में सिवा पत्रकारिता के आज कौन समर्थ है ? ज्ञान और विज्ञान, दर्शन और साहित्य, कला और कारीगरी, राजनीति और अर्थनीति, समाजशास्त्र और इतिहास, संघर्ष और क्रांति, उत्थान और पतन, निर्माण और विनाश, प्रगति और दुर्गति के छोटे-बड़े प्रवाहों को प्रतिबिंबित करने में पत्रकारिता के समान दूसरा कौन सफल होता है ? जीवन, समाज, संस्कृति और विश्व का उत्कृष्ट दर्पण बनने में पत्रकार-कला के समान आज दूसरा कौन है ? अन्याय का प्रतिरोध करने में, नव विचारों और कल्पनाओं का वाहन बनने में, नवरचना के संदेश का अग्रदूत होने में तथा अंततः जीवन-सागर में उठने वाली लहरियों, हिलोरों, तरंगों तथा तूफ़ानों का प्रतिनिधित्व करने में पत्रकार-कला की सजीव प्रतिमा के रूप में आधुनिक पत्र अपना सानी नहीं रखते। यही कारण है कि व्यापक मानव-समाज पर उसका अभूतपूर्व प्रभाव है।"**

है कोई पत्रकार जो अपने हृदय पर हाथ रख कर कह सके कि वह दमन, उत्पीड़न और शोषण के अंत के लिए या राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रोत्थान, देशप्रेम या सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष कर रहा है ? जो 'साधक के लिए साधना का, त्यागी के लिए उत्सर्ग का, तपस्वी के लिए कष्ट-सहन तथा अनासक्ति का, योद्धा के लिए संघर्ष और रण का . . .' पथ उपस्थित करता हो ? जो 'जीवन, समाज, संस्कृति और विश्व का उत्कृष्ट दर्पण' हो ? जो 'अन्याय का प्रतिरोध करने' वाला 'नव विचारों और कल्पनाओं का' वाहक हो ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें त्रिपाठी जी के भावुक उद्गार की अपेक्षा विद्यार्थी जी की यथार्थवादी विश्लेषणात्मक दृष्टि में ही मिलता है और इस सत्य को हमें आंतरिक व्यथा के साथ स्वीकार करना पड़ता है।

—लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

●

अपनी इक्कीसवीं वर्षगाँठ पर

कृपाशंकर कश्यप

आज मृत्यु के इक्कीसवें द्वार पर
हेमंत फिर टूटता है
और मेरी नसों से पतझड़ की एक नदी
डालियाँ चरमरा कर टूटती हैं
टहनियाँ भी
आज मृत्यु का यह द्वार भी टूटता है

जिनके अनुपात में मैं बढ़ रहा हूँ--
गाँव,
मित्रता,
और मेरी उम्र
किसीने चुरा लिये हैं

किसीने मुझे इस बसंत के बीच ला खड़ा किया है
जहाँ मेरी परछाइयाँ दीवार बनी खड़ी हैं
कि धूप मुझतक पहुँच नहीं पाये

मुझे घेरे हुए जो नीली हवा थी
वह अब बुझ गयी है

माँ ने मृत्यून्मुख किया था मुझे
विदा किया था मेरी मुट्ठियों में एक दिशा-ज्ञान दे कर
किंतु आज सूखी पत्तियों के एक वृत्त से
मेरी दिशाएँ संपृक्त हैं

मेरे साथ सीधी पगडंडियाँ नहीं अब
किसी अंधे शहर का भविष्य है
मरे हुए कुत्तों का क़ाफ़िला है
और चाँदनी रात में टूटी कौओं की नींद

●

१९ एस० पी० हाल,
लखनऊ।

एक कविता

सच्चिदानंद सिन्हा

●

हर दिन
मेरा बढ़ा हुआ नाखून है
इससे जीवन को नोचता हूँ
इस गैंडे को कुछ होता नहीं,
बढ़ा नाखून टूटता है,
जिंदा कुछ निकल आता है–
रक्त-पिपासु अधर चूमता है
संतों को, ऊधा को, ऊषा को।

उस गैंडे को अपनी उँगली पर
नाचती शिशु की मुस्कान को
दिखा कर मैं कहता हूँ—
देख फिर खरोचूँगा,
यह आग है या फूल है,
इससे बहस कोई नहीं—
मैं इसीसे फिर नोचूँगा तुम्हें
क्योंकि नाख़ून फिर उग आयगा।

●

—चार्लि विला,
मसूरी।

आदमी माने 'ब्रेक' का बंडल

शिवप्रसाद सिंह

प्रिय भाई,

आपका पत्र गहरी वेदना जगा गया। आपने 'होली के हुड़दंग' को जिन शब्दों में याद किया है, उसके लिए दोष किसे दूँ। गाली-गलौज, कीचड़-काँदो, क्या यही वसंत है? आपकी खीझ मैं समझ रहा हूँ। मेरा ख्याल है, आप-जैसी ही खीझ अनेक लोगों के मन में भरी होगी। उस 'दृश्य' की भी आपने खूब याद दिलायी। हाँ, वह वीभत्स था; मगर शिवपूजा के इस देश में उसे वीभत्स इसीलिए माना जायेगा कि वह निहायत पशु-धरातल पर स्थापित था। आपने लिखा है कि मनुष्य इतना छिछोरा और लंपट क्यों होता जा रहा है। ऐसी हैवानियत लोगों में क्यों आती जा रही है? आपको वसंत में ऐसा कुछ नहीं लगता कि वह मनुष्य के मन के सारे बंधन तोड़ डाले।

आपके पत्र को पढ़ते मुझे कई-कई बातें एक साथ याद आ गयीं। यहाँ तो अक्सर यही रोना सुनायी पड़ा कि होली बड़ी फीकी गयी। अब वह मस्ती का आलम रहा नहीं। न तो वह हुड़दंग है, न वह असीम खुलापन।

वसंत में क्या सचमुच आपको ऐसा कुछ नहीं लगता, जो थोड़ा विचित्र, थोड़ा रहस्यमय, थोड़ा अकुलाहट से भरा हो? क्या आपको प्रकृति में कोई परिवर्तन नज़र नहीं आता, यह और बात है कि कभी-कभी वसंत प्रकृति के वसंत से थोड़ा पहले ही आ जाए, पर ऐसा तो मानने का मन नहीं होता कि वसंत आये और प्रकृति में कोई परिवर्तन ही न हो। मुझे तो हर बार जब वसंत आता है, लगता है कि कुछ कहीं खो गया है। एक बड़ी बेढंगी क़िस्म की चेतना यह भी, कि सहसा लगे कि भीतर से कुछ फूलने-फूलने को हो रहा है। कभी-कभी तो गंध और रंग की मिली-जुली छटा ही ऐसी हो जाती है कि बरबस तन-मन पर एक अनजानापन पारदर्शी खाल की तरह चढ़ जाता है। अपने को अपनी आँखों देखते शकल अपहचानी भले न लगे, पर कुछ है तो ज़रूर ऐसा कि जिसके स्पर्श से हवा पहले से अधिक अपरिचित लगती है, नाकों में गंधों की एक अनजानी सजगता जैसे जी उठी हो और उसीका एक डला लगे कि अभी-अभी फिसल कर गले के नीचे उतर गया हो जो जिस्म के हर हिस्से को बंधनहीन बनाने लगा हो।

और शायद इस बंधन से हीन होने के कारण ही रंगों में नयी चटक और गंधों में अनोखी गमक का रहस्य खुलता है। आपको यह बात अजीब लग रही होगी, है भी कुछ। आपने हेनरी

मिशाक (Heneri Michaux) का नाम सुना है? बहुत अनोखे व्यक्ति हैं ये । संसार का कोई भी तीखा से तीखा नशा इन्होंने छोड़ा नहीं। वे दवाइयाँ भी खाते रहे ये, जिनकी शीशियों पर लाल अक्षरों में लिखा रहता है 'ज़हर'। मज़े की बात यह कि ये नशे में धुत पड़ जाने वाले ऐसे-वैसे इन्सान भी नहीं जो बेहोश हो रहें। इन्होंने गहरे से गहरे नशे की हालत में अपने तन और मन की हर स्थिति पर ध्यान दिया और उसकी गहरी अँधेरी घाटियों में रोशनी की लहरें देखीं। इन्हीं अनुभवों पर आधारित इनकी एक मज़ेदार किताब अभी-अभी आयी है, नाम है 'लाइट थ्रू डार्कनेस' यानी अँधेरे के भीतर से रोशनी। लिखते हैं : **"आदमी ब्रेक (बंधन) का प्राणी है, यानी उसका पूरा अस्तित्व 'ब्रेक्स' पर आधारित है।"** यहाँ तक आपकी और मिशाक की बात एक जैसी है, पर ज़रा आगे सुनिए : **"इनमें से यदि एक टूट जाये तो वह खुशी से चिल्ला उठता है, आज़ादी! आज़ादी!! पर उस समय भी बेचारे पर जाने कितने-कितने 'ब्रेक्स' का शासन बना ही रहता है। याद रखना चाहिए कि नये रूप, नये विचारों की गति हमेशा 'ब्रेक' न लगने पर ही संभव है।"**

आप शायद चिढ़ जायें : "हटाइये भी, किस पियक्कड़ लेखक की चर्चा छेड़ दी आपने।" मैं मानता हूँ कि लेखक पियक्कड़ है, पियक्कड़ ही नहीं, गंभीर नशाखोर या विषपायी, पर एक बात उन्होंने ज़रूर पते की कही है, वह यह कि आदमी माने ब्रेक का बंडल। हालाँकि उन्होंने यह सब हिकारत और घृणा से कहा है और वह इन्हीं बंधनों को तोड़ने के लिए ज़हरीली से ज़हरीली दवा खा कर अपने को मुक्त अनुभव करते रहे हैं, पर यदि बात सच हो तो हमें यह सोचना नहीं चाहिए कि इसका कहने वाला अच्छा है या बुरा है।

"मगर इस 'ब्रेक के बंडल' से होली का क्या संबंध है भला?"

मैं समझता हूँ कि संबंध है और बड़ा गहरा है। होली ही से क्यों, सारे अस्तित्व से इसका संबंध है। संबंध ही नहीं, कार्य-कारण संबंध भी कह सकते हैं इसे। अब वसंत को ही लीजिए। वातावरण में कुछ बदला है। एक अदृश्य शक्ति के भीतर रासायनिक परिवर्तन की बाढ़ जैसी आ गयी है। प्रकृति के स्थूल रूपों के भीतर उसकी लहरें गुनगुनाने लगी हैं, धक्के पर धक्के लग रहे हैं। अदृश्य हवा अचेतन बाँस की बाँसुरी के छिद्रों में बँध कर तरह-तरह के मोहक स्वरों में फूट पड़ती है। क्यों? वह इसलिए कि एक सूक्ष्म और शक्तिशाली पदार्थ को एक नियमित मार्ग में बाँधने का प्रयत्न किया गया। समतल पर बहते हुए, शिथिल गति से चलने वाले पानी को बाँध कर नियमित ढंग से गिराने का फल हुआ विद्युत। और यह विद्युत भी तब तक एक अदृश्य पदार्थ ही रहती है, जब तक की बंधनों में नहीं बँधती। अलग-अलग क़िस्म के बंधनों ने इसे कभी बल्ब की रोशनी, कभी पंखे की हवा, कभी हीटर में ताप देने वाली आग में, यानी नाना रूपों में बदल दिया। है न?

वसंत में भी कुछ ऐसा ही परिवर्तन होता है। हमें आपको यदि यह महसूस नहीं होता तो शायद इसलिए कि हमारा शरीर उस शक्ति की अभिव्यक्ति का ठीक यंत्र नहीं रह गया है। अब देखिए न, इस सूक्ष्म पदार्थ की प्रक्रिया से प्रकृति में क्या अंतर आ जाता है। नये लाल-लाल पत्तों से मोटी भद्दी डालें ढँक जाती हैं। कठोर डंठलों को चीर कर मुलायम कलियाँ झाँकने

लगती हैं। फूलों में एक अजीब क़िस्म की मादक गंधों के झकोरे उठने लगते हैं,....जैसे वृक्ष, लता, पौधे सभी में कोई अदृश्य कारीगरी रंग और गंध के माध्यम से अपना करतब दिखा रही हो और यह भी इस गति, त्वरा और शक्ति के साथ कि लगता है, स्थूल प्रकृति इसे सम्हालने में परेशान हो, मगर उस परेशानी में भी वह झूम-झूम जाती हो। मानो यह एक ऐसा नशा है जो हर अस्तित्व को उसके होने का सारा अर्थ दिये जा रहा हो।

कालिदास ने वसंत की इसी सर्वव्याप्त अदृश्य सूक्ष्म शक्ति को तो लक्ष्य कर के कहा था :

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामा पवनः सुगंधिः।
सुखा प्रदोषा दिवसाश्चरम्याः सर्वे प्रिये चारुतरं वसंते।।

इस अद्‌भुत नशीले तत्व को अनुभव न करना इस बात का सूचक है कि हमारे अंदर कहीं न कहीं कोई यांत्रिक गड़बड़ी है, कहीं न कहीं रास्ता जाम है।

किंतु क्या जड़ प्रकृति और मनुष्य दोनों का यंत्र एक जैसा ही है? क्या हमें अपने जीवन में इस जड़ प्रकृति का अनुसरण करना ही चाहिए? नहीं। हमारा यंत्र प्रकृति के अन्य प्राणियों या वनस्पति-जगत की अपेक्षा कई गुना सूक्ष्मतर और शक्तिशाली है। जाने इस सूक्ष्म प्रकृति को कितने-कितने लाख वर्षों तक निरंतर श्रम करना पड़ा होगा, मानवीय यंत्र के निर्माण और परिष्कार के लिए। मैं तो उस दिन की याद कर के ही अभिभूत-सा हो जाता हूँ जिस दिन 'स्थल प्राणमय कोश' वाली इस प्रकृति के भीतर मनोजगत का स्पर्श हुआ होगा। जिस दिन स्थूल चेतना वाले प्राणी के अंदर कल्पनाशील मन की उत्पत्ति हुई होगी, उस दिन सूक्ष्म 'ईथर' के भीतर जाने कितना शक्तिशाली विस्फोट हुआ होगा। एक नयी सूक्ष्म चेतना जब स्थूल पदार्थ से जुड़ी होगी, तो जाने कितने प्रकार की बहुविध गंध और रोशनी की लहरों से सारा अस्तित्व थरथरा गया होगा। इसी दिन प्रकृति ने एक ऐसे प्राणी को जन्म दिया जो यंत्र तो था ही, उसका चालक भी बना दिया गया। हाँ, यह ज़रूर है कि वह सार्वभौम सत्तासंपन्न चालक अब भी नहीं है। अभी भी प्रकृति की देखरेख में काम करने वाला यानी अपरेंटिस ही है। सूक्ष्म प्रकृति के कॉस्मिक राज्य में मनुष्य अधिकार-प्राप्त उपनिवेश है, प्रकृति का सबसे प्रबुद्ध प्रतिनिधि। इसीलिए उसके जीवन की प्रक्रिया दुहरी है। वह ख़ुद गतिशील मोटर भी है और उसका ड्राइवर भी। इसीलिए उसके लिए 'ब्रेक' का उपयोग भी बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है।

मनुष्य की सार्थकता किस बात में है? मुझे लगता है कि उसकी सार्थकता पशु से भिन्न सिर्फ़ इस अर्थ में है कि उसे सभी अनुभूतियों और तन्मात्राओं को मनोजगत के स्तर पर अधिक से अधिक भोगने का प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात् उसे उद्रेक के क्षणों में, भावातिरेक की अवस्था में कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह पशु या वनस्पतियों की तरह 'अस्तित्व' को स्थूल शरीर या प्राणमय कोश के भीतर कम से कम भोगे। ऐसा तो संभव नहीं कि इस भोग को वह स्थूल शरीर से पूरी तरह बचा कर रख पायेगा, पर प्रकृति की, जिसने उसे मनोमय कोश का रिक्थ प्रदान है, यह अभीप्सा ज़रूर है कि मनुष्य के भोग में अधिक से अधिक भाग मनोमय कोश का किया ही हो।

जाने कितनी शताब्दियों से साहित्य, कला, धर्म-दर्शन आदि प्रकारांतर से यही प्रयत्न करते आ रहे हैं कि मनुष्य के मनोमय लोक का सूक्ष्म विकास हो सके, पर जब तक इस प्रक्रिया को सही रूप में समझ नहीं लिया जाता, तब तक यह संभव नहीं है कि वसंत आये और उसमें असीम कीचड़-काँदो का प्रयोग न हो।

मोटर का रूप प्राणमय कोश है, और गति मनोमय जगत का प्रतीक। दोनों में प्रबल गणात्मक भेद है। एक स्थूल है, दूसरा सूक्ष्म। दोनों का संयोग जितनी बड़ी उपलब्धि है, उतनी ही बड़ी ख़तरे की चीज़ भी। यदि गति तीव्र हुई, औसत से अधिक तीव्र, तो यंत्र टूट सकता है, और यदि गति आयी ही नहीं तो यंत्र जड़ हो कर रह जायेगा। इसीलिए गति और यंत्र की संधि पर 'ब्रेक' की ज़रूरत पड़ी। हमें अपनी यात्रा पर निकलने के पहले क्या सावधानी से यह देख लेना ज़रूरी नहीं है कि 'ब्रेक' ठीक से काम कर रहा है या नहीं?

ब्रेक ठीक से काम कर रहा है, इतना जान लेना भी शायद पर्याप्त नहीं है। यह भी जानना कम आवश्यक नहीं है कि ब्रेक कब लगे और कैसे लगे। यंत्र और गति की समरसता के लिए 'कब' और 'कैसे' की जानकारी भी अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। अचानक तीव्रतम गति के उद्रेक के साथ ही यदि 'ब्रेक' मारा गया तो दुर्घटना हो सकती है, आग लग सकती है।

ब्रेक के इस अचानक प्रयोग से एक बार भयंकर ऐतिहाससिक अग्निकांड हो गया था, वह आपको ज्ञात ही होगा। दुर्घटनाओं को भूल जाने की प्रवृत्ति हमें छोड़ देनी चाहिए। क्योंकि ये घटनाएँ हमें निरंतर सही संतुलित जीवन-यात्रा के लिए शिक्षा-संकेत देती रहती हैं।

वह भी वसंत का समागम ही था। वनस्थली में उसका पैर पड़ा ही था कि दूज के चाँद के समान टेसू के फूलों से डालें लहक उठीं थीं। चारों ओर मादक गंध और मधुप-राग से भरे हुए नाना आकार के फूल अचानक खिलखिला पड़े थे। और सहसा एक ही फूल की पंखुरी में पहली बार भ्रमर और भ्रमरी एक साथ बैठ कर मधुपान करने लगे थे। हरिण और हरिणी की आँखों में प्रियाल के फूलों की धूलि इस तरह छा गयी थी कि वे ज़मीन पर गिरे सूखे मर्मर करते पत्तों के बीच विचित्र रहस्य से भरी कुलाचें भरने लगे थे। उसी समय अकंप दीपक की लौ के समान अडिग, बिना बरसने वाले बादल के समान गंभीर और बिना लहर वाले ताल के समान अचंचल एक योगी के चरणों में झुक कर एक तरुणी ने प्रणाम किया था, मानों फूलों के गुच्छे से लदी हुई कोई लाल-लाल कोपलों से ढँकी लता झुक गयी हो और जब उस तरुणी ने अपने चिकने मुलायम हाथों से मंदाकिनी के कमलों के सूखे हुए बीजों की माला को योगी के गले में डाल दिया था तो गंभीर समुद्र में पूनों के चाँद को देख कर सहसा ज्वार का वेग उमड़ पड़ा था।

उसी समय ग्लानि से पीड़ित हो कर संयम का अचानक 'ब्रेक' लगा। उस स्थिति का वर्णन कालिदास से ही सुनिए :

स्फुरन्नुदर्चि सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुःकिल निष्पपात।
तावत्सवह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥
तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्रइवावभज्य।
स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः॥

तीसरा नेत्र खुलते ही आग की लपटें निकल पड़ीं और इस आग ने कामदेव को जला कर राख में बदल दिया। जैसे बिजली किसी पेड़ पर गिर कर उसे तोड़ डालती है, वैसे ही अपनी तपस्या में बाधा डालने वाले कामदेव को जला कर, नारी से विरक्त हुए भूतपति भूतगणों के साथ अंतर्धान हो गये।

'ब्रेक' लगा ज़रूर, मगर इससे मन के भीतर भी बहुत कुछ जल गया। शिव सौंदर्य से विरक्त हो गये। यह स्वयं में एक मानसिक असहजता की स्थिति है। परिणाम में शिव को काफ़ी समय तक विक्षिप्तता का बोझ ढोना पड़ा। उन्हें स्वयं पार्वती के पास जाना ही पड़ा। इस बार गति सहज थी, प्रक्रिया स्वाभाविक, शिथिल वल्कलों वाली पार्वती का हाथ थामते समय शिव क्रुद्ध नहीं हुए, मुस्करा पड़े :

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचालवाला स्तनभिन्नवल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललंबे वृषराजकेतनः।।

यह सही है कि ब्रेक के न लगने से ही गति संभव है, किंतु विना ब्रेक की मोटर का तो भगवान ही मालिक है। कालिदास ने एक ऐसे व्यक्ति का जीवन भी हमारे सामने प्रस्तुत किया है जिसकी मोटर का 'ब्रेक' काम नहीं करता था। वह है 'सूर्यप्रभव वंश' में ही उत्पन्न राजा अग्निवर्ण। जिस वंश की दिव्य कथाएँ कहते कालिदास को भी अपनी प्रतिभा पर संदेह होने लगता है, उसी वंश में राजा अग्निवर्ण भी पैदा हुआ, जिसके मनस्तत्व की अग्नि केवल कड़वे धुएँ और दाह का कारण वन गयी। वह अपने 'अस्तित्व' को शरीर या प्राणमय कोश के भीतर भोगने वाला पशु बन कर रह गया। जिस वंश के यश ने कवि के 'काव्य-चापल्य' को प्रेरित किया था, और 'रघुवंश' का सृजन कराया था, उसी की समाप्ति एक ऐसे राजा द्वारा हुई जिसके शव को पुरोहित और मंत्रियों ने चुपके से राजोद्यान में ही चिता पर रख दिया ताकि रोग के कीटाणु प्रजा में न फैल जायें :

तं गृहोपवन एक संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशांतिमपदिश्य मंत्रिणः संभृते शिखिनिगूढ़माधधुः।।

ऐसी भयावह परिस्थिति संभवतः तब आती है जब यंत्र चालक की सत्ता को पूर्णतः अस्वीकार कर देता है। इतना ही नहीं, वह चालक पर पूर्ण अधिकार कर लेता है और उसके भीतर यह धारणा मजबूती से विठा देता है कि यंत्र जिस तरह चल रहा है, वही विकास का सही पथ है। मनुष्य का स्थूल शरीर और उसकी प्राणशक्ति जब मन पर हावी हो जाती है तो यही स्थिति होती है। उस समय मन प्राणों के साथ एकाकार हो कर शारीरिक बुभुक्षा की तृप्ति को ही चरम उद्देश्य मान लेता है। इस धारणा में मन और उसकी सारी शक्तियाँ घायल हो जाती हैं। क्योंकि एक तरफ़ उसकी अंतर्निहित दिव्यता उसे ऊपर उठने की प्रेरणा देती है, दूसरी तरफ़ प्राणों का बल उसे लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए नीचे की ओर खींचता है। इस खींचातानी के कारण एक अजीब तरह की थथम उपजती-पनपती है जो लौकिक सुखों

के भीतर भी संदेहशील आहत मन को एकरस नहीं होने देती। परिणामतः नाना प्रकार की मानस-ग्रंथियों का जन्म होता है और मनुष्य अपनी सारी ताक़तों के रहते हुए भी असहाय प्राणी बन कर रह जाता है। इस थथम और असहायता को दूर करने के लिए भी एक शक्तिशाली 'ब्रेक' की ज़रूरत है जो चालक और यंत्र की अधिकार-सीमाओं को अलग-अलग बाँट रखे और कभी भी मोटर को यह मौक़ा ही न दे कि वह चालक के कब्ज़े से बाहर हो सके।

आप हँस कर व्यंग्य के साथ कहना चाहेंगे :

"क्या ख़ूब, आपने तो आदमी को बिल्कुल मोटर बना दिया। भले आदमी, यह क्यों नहीं सोचते कि आदमी मोटर की तरह अलग-अलग यंत्र नहीं है। वह सामाजिक प्राणी है। अपने-अपने घर की चहारदीवारी में बंद हो कर मोटरें लड़ें या दुर्घटनाग्रस्त हों, हमसे कोई मतलब नहीं, पर समाज में तो उनकी 'वीभत्स दौड़' नहीं ही होनी चाहिए ?'

मैंने इसीलिए तो आदमी को 'ब्रेक' नहीं कहा, 'ब्रेक का बंडल' कहा है। सामाजिक 'ब्रेक' भी तो एक 'ब्रेक' ही है न। आपका समाज यदि अवसर-अनवसर हमेशा 'ब्रेक' लगाने की कड़ाई को ही अपनी शक्ति मानता है तो माने, मगर याद रखिए, यह गति स्वस्थ समाज का लक्षण कभी नहीं बन सकेगी। होली का यह 'वीभत्व' दिन समाज के स्वास्थ्य का प्रमाण है। इस दिन 'ब्रेक' हट गया तो अच्छा ही हुआ, गति के वेग में कीचड़-काँदों बह कर आया तो आया, धारा के प्रवाह में कूड़ा-कतवार उतराया तो उतराया, अंततः सोयी शक्ति को अभिव्यक्ति तो मिली। मैं तो समझता हूँ कि इस तरह के त्यौहार साल में दो-तीन बार होते तो ज़्यादा अच्छा होता, क्योंकि आज की ज़िंदगी पहले से कहीं अधिक जड़ हो गयी है। तमाम नालियाँ सूखे हुए कीचड़ से पटी हैं। इन्हें अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सावधानी से और कई बार ख़ूब साफ़ करने की ज़रूरत है। और जब ये साफ़ रहेंगी तो मनोजगत की गति का थोड़ा-सा अंश भी इनमें बह कर सारे शरीर को खींच जाया करेगा। और नहीं तो अच्छा पानी भी, काफ़ी तादाद और तीव्र गति से आया हुआ पानी भी, इनमें रुक कर सड़ेगा और तरह-तरह के घिनौने कीड़ों को जन्म देगा।

"लेकिन 'ब्रेक' तो ऐसे ही बहुत ढीले हैं भाई, देखते नहीं आप। सड़कों पर, गलियों में, ट्रेनों में, प्लेटफ़ार्म पर, सिनेमाघरों में सर्वत्र छेड़छाड़, धक्का-धुक्की मची रहती है, सीटियाँ बजती हैं, बोलियाँ कसी जाती हैं। इतना ही नहीं, बहुत निचले स्तर पर उतर कर पाशविक व्यवहार भी होते ही रहते हैं। इसपर भी आप 'ब्रेक' ढीला करने की बात करते हैं ?"

"ये भूले हुए लोग हैं, जो ज़िंदगी को पशु-धरातल पर भोगने की क्रिया से ही परिचित हैं। इनका प्रेम, सेक्स, दोस्ती, मित्रता सभी कुछ सड़ी हुई नालियों में बहते कीटाणुओं से प्रेरित होता है। असल में इसमें इनका दोष भी नहीं है। सामाजिक 'ब्रेक्स' ने जिन गंदी प्रणालिकाओं यानी नालिकाओं का निर्माण किया है, ये उसीकी उपज हैं। आप मनोजगत के अनेक आवश्यक तत्वों को, जो गति के ही रूप हैं, यदि वर्ज्य और अस्पृश्य मान लेंगे तो धीरे-धीरे स्वच्छ पानी भी सड़ने लगेगा ही। यदि आपके समाज में मनोजगत के स्तर पर भोगे जाने वाले स्वाभाविक प्रेम तक को शंका की दृष्टि से देखा जायगा, और उसे बाँधने या घेरने का प्रयत्न होगा, तो वह विवश हो कर रुकेगा और उसमें सड़ाँध पैदा होगी। यह क्रम धीरे-धीरे जीवन को गड्ढों में गिरा कर सड़ने

के लिए विवश करेगा। परिणाम सामने है। ब्रेकहीन जीवन अग्निवर्ण की तरह **'पंकशेष घर्म-पल्लव'** यानी तालाब का सूखा कीचड़ बनकर रह जाता है तो अतिब्रेक के कारण जीवन-शक्ति के अभाव या उसकी विकृति के कारण कीड़ों से बिलबिलाते हुए कीचड़ की तरह सड़ा करता है। यही है कीचड़-काँदो का रूप।

आवश्यकता इस बात की है कि लोगों को बताया जाय कि मनोमय कोश का जीवन शारीरिक जीवन से कई गुना अधिक सूक्ष्म, सुंदर और आनंददायक है। प्रेम को शरीर से भोगने की अपेक्षा मन से भोगना इन्सानियत के बड़प्पन का सूचक है। शरीर झुठलाने या तिरस्कार करने की चीज़ क़तई नहीं है, पर शरीर की भूख या विकृति को, ऊँचे मूल्यों का बलिदान दे कर तृप्त करना बहुत अच्छी बात नहीं है।

—हिंदी विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

● ●

देशप्रेम

दुष्यंतकुमार

●

देश-प्रेम
जब संकट आता है
समाचार-पत्रों में डोंडी पिटवा कर
कहलाया जाता है।

अखबारी सत्य
मेरे गले नहीं उतरता।
काग़ज़ पर बनते हुए चित्र
मुझे बाँध नहीं पाते।
लोगों के भीतर बजता हुआ संगीत
मैं समझ नहीं पाता।
कण-कण में रमने वाले प्रभु की सत्ता
मुझे दिखायी नहीं देती
और
अक्सर ऐसा होता है
कि भाषणों से भरी सभाओं
और प्रदर्शन की भारी भीड़ों में
मैं अकेला हो कर
साथ खोजने लगता हूँ।

लोग
युद्ध और मातृभूमि की बात करते हैं,
लड़ने-मरने का संकल्प करते हैं,
मुझसे वह भी नहीं होता।

बार-बार सोचना पड़ता है मुझे
क्या कायर हूँ,
धुरीहीन,
द्रोही,
सिद्धांतहीन ?

—वरना क्यों
आज
जब सभी लोग
नारे लगाते हैं,
मेरे कंठ से एक शब्द नहीं फूटता ?

आज
जब सभी लोग
आँसू बहाते हैं,
मेरी आँख से एक बूंद तारा नहीं टूटता,
और मैं
(तटस्थ राष्ट्र की तरह)
भीड़ में साथ खोजने के लिए
रह जाता हूँ।

●

—सहायक संचालक,
भाषा विभाग,
भोपाल (म० प्र०)।

कहानी

पराजय

शानी

कई पल निकल गये थे और बेबी अब तक ख़ामोश भी पड़ गयी थी, लेकिन नीचे से आ रही आहटों से साफ़-साफ़ लग रहा था कि शाहिदा का ग़ुस्सा अभी नहीं थमा। वह बराबर बड़बड़ाती हुई मुझे सुनाने के लिए बर्तनों को पटक-झटक रही थी ताकि कुछ देर पहले की मेरी हरक़त के लिए मुझे अच्छी तरह चोट पहुँचायी जा सके।

यों मेरे भीतर भी ग़ुस्सा क्या कम था? अपने पर क्रोध आ रहा था कि धैर्य का मुझमें सिरे से अभाव है और किसी भी समस्या के आने पर मैं अपना संतुलन खो बैठता हूँ। शाहिदा पर क्रोध था कि बीवी हो कर भी वह मुझे नहीं समझती, बच्ची से ज़्यादा दीगर घरेलू कामों को अहमियत दिये जाती है और परिणामत: बच्ची का भविष्य ख़तरे में पड़ गया है। इस मनहूस मुहल्ले पर क्रोध आ रहा था कि आसपास ढंग का एक भी घर या बच्चा नहीं, जिससे मिल-हिल कर हमारी बच्ची खेल-कूद सके और. . . .

"ऐ, घर पर हो कि नहीं? बेगम, ओ बेगम वहू . . . . "

अचानक बाहर के दरवाज़े के पास से कोई अधबूढ़ी-सी आवाज़ आयी और क्षण दो क्षण बाद निचले बरामदे में चप्पलें चटकने के साथ साड़ी की फरफराहट की आहट गुज़रने लगी।

मैं घर के ऊपरी हिस्से वाले अपने कमरे में बुत बना खड़ा था। नीचे की जानकारी आहट से लेने के सिवाय दूसरा उपाय न था, अत: कौन आ-जा रहा है, यह उत्सुकता व्यर्थ थी। आवाज़ से मैंने अनुमान लगाया कि सदरवाली ख़ाला है, कोई खबर ले कर आयी होंगी। थोड़ी देर बाद शायद शाहिदा किचन से बाहर आयी, सलाम-दुआ के बाद उन्हें अदब से बैठाया और उनकी ख़ैरियत पूछने लगी।

"ऐ, बुरा न मानो तो एक बात पूछूँ, बेगम,"—सदरवाली ख़ाला ने शाहिदा की बात टाल कर निहायत हमदर्दी से पूछा: "यह तुम्हारा चेहरा क्यों तमतमा आया है?"

इधर मेरा माथा ठनका और कान खड़े हो गये।

"ऐसी कोई ख़ास बात तो नहीं, ख़ाला,"—शाहिदा ने उदास स्वर में जवाब दिया: "इसी कमबख़्त मुहल्ले ने, माटी मिला, नाक में दम कर रखा है। जब देखो चखपख़ लगी रहती है। मैं तो आजिज़ आ गयी हूँ। किसी तरह इससे पिंड छूटे तो जान को राहत मिले।"

"हाय-हाय, ऐसा भी क्या हो गया, वहू?"—ख़ाला ने उसी लटके से पूछा और मैंने

कल्पना की कि आदत के अनुसार सदरवाली खाला ने अपनी नाक पर उँगली धर ली होगी।

"कोई एक दिन की बात हो तो कहूँ, खाला,"—शाहिदा ने कहा : "रोज़ कोई-न-कोई बात, कोई-न-कोई नयी उलझन. . . .लगता है, या तो मुहल्ला हमारे क़ाबिल नहीं या हम ही मुहल्ले के लायक़ नहीं। खुदा के लिए एक एहसान हमपर करो, जैसे भी हो किसी और मुहल्ले में एक मकान दिलवा दो. . . ."

"ऐ, मकान की क्या कमी है बहू,"—खाला बोली : "पैसे फेंको, हज़ार मिलते हैं. . . . लेकिन बेगम, यह तो तुम लोगों का खुद का मकान है न ?"

"यही तो, कमबख़्त, एक रोना है। लेकिन अपना है तो क्या हुआ ? इसे किराये पर उठा देंगे। किसी तरह मुहल्ले से तो जान छूटे. . . ."

और सदरवाली खाला के आग्रह पर शाहिदा ने आज की घटना बतानी शुरू की तो क्रोध के मारे मेरा धैर्य छूटने लगा. . . .जी में आ रहा था कि फट-फट सीढ़ियाँ उतरता हुआ तुरंत नीचे जा पहुँचूँ और पूरी ताक़त से चिल्ला कर शाहिदा को डांटूँ : ठीक है, मुहल्ले का अपराध नहीं, तुम भी बेक़सूर हो और बेबी भी; लेकिन यह व्यंग्य किस पर किये जा रहे हैं ? मेरी ग़लती तो नहीं है न कि मैं तुम लोगों के ढर्रे पर नहीं चल पाता ? या अल्लाह, मुझे उठा ले। मेरी आँखें ही छीन ले ताकि यह सब मैं अपनी नज़रों से न देख सकूँ।

"यह देखो, यह. . . ."—अचानक शाहिदा ने तमतमाये स्वर में कहा : "इसकी पाँच साल की नन्हीं-सी जान और उनके भरपूर हाथ का तमाचा. . . ."

कहते-कहते शाहिदा की आवाज़ भर्राने लगी : "कितनी ज़ोर से मारा है कि उँगलियों के मोटे-मोटे रोल उभर आये हैं. . . ."

उसके बाद शाहिदा नहीं बोल पायी। लेकिन मुझे लगा कि उसकी भर्रायी आवाज़ आ कर मेरे गले में फँस गयी है और भीतर से कुछ उफनता हुआ बाहर आना चाहता है। मेरी आँखों के सामने नीचे की कल्पित तस्वीर खिंच आयी कि पिछले बरामदे की बड़ी चटाई पर सदर-वाली खाला बैठी हैं, उनके सामने बेबी को बगल में खींच कर उसे दिखाती हुई शाहिदा खड़ी है; और बुरी तरह सहमी हुई बेबी के गालों पर हमदर्दी का हाथ फेरती हुई खाला कह रही है : "ऐ, आग लगे उसके गुस्से को ! सचमुच बेरहम ने बच्ची की जान ही निकाल कर रख दी है। अरे, इतनी ही समझ होती तो बच्चे बच्चे क्यों कहलाते ?"

और मुझे लगा कि सैकड़ों लोगों के वृत्त में घिरा अकेला और असहाय मैं गर्दन झुकाये खड़ा हूँ, हर उँगली मेरी ओर बेरहमी का संकेत करती हुई उठी है और मैं लज्जा के मारे बौना हो गया हूँ। न घर वाले, न बाहर वाले. . . .न अपने और न पराये, क्या मुझे समझने के लिए कोई तैयार नहीं ? क्या सब अकेले मेरा ही दोष है ? बच्ची को ले कर जो कुछ भी आये-दिन होता रहा है, क्या उसके लिए शाहिदा कहीं और कभी भी अपराधी नहीं है ? माना कि जो कुछ आज हुआ उसमें मुझसे ज़्यादती हो गयी लेकिन रात-दिन की घुटन आखिर किस तरह से बाहर आती ? और फिर वैसे अवसर पर क्रोध क्या स्वाभाविक नहीं था ?

जब बेबी की उम्र कहीं आने-जाने योग्य नहीं थी तो यही मुहल्ला अभी साल दो साल पहले इस बुरी तरह सालता न था। यों जब से मैंने होश सम्हाला, यह खटकता ज़रूर रहा है। दूसरे साफ़-सुथरे मुहल्लों के अच्छे-भले पड़ोस और सलीका-शऊर वाले लोगों को देख कर कोफ़्त भी होती रही है; लेकिन चाह कर भी इस मुहल्ले से छूटने का उपाय न था, क्योंकि मकान अपना पुश्तैनी था। सारे मुहल्ले में धोबी, बढ़ई, मज़दूर और निचले दर्जे के लोग और उन्हींके गंदे-बेहूदे बच्चे! किससे मिलें-जुलें और कहाँ बैठें-उठें। शायद इसीलिए बरसों गुज़र जाने के बाद भी हमने मुहल्ले के किसी से कोई संबंध नहीं रखा था....

पर यह सब तभी तक चल पाया जब तक कि बेबी चलने-फिरने और बाहर निकलने लायक़ न थी। उसके चार-पाँच की उम्र तक पहुँचते ही, जितनी सख़्ती हम लोगों ने बरती थी उसकी सारी बखिया अपने-आप उधड़ने लगी और तब से रोज़-रोज़ की उलझन शुरू हो गयी है।

चाहे उसपर कितनी ही तेज़ नज़र क्यों न रखी जाय, ज़रा अवसर पाते ही वह निकल भागती और थोड़ी देर बाद हम लोग देखते कि वह सामने वाले धोबी के गंदे बच्चों और विशेषकर कमला के साथ धूल-मिट्टी खेल रही है। शायद ही कोई एक दिन ऐसा गया हो कि मैंने इस बारे में शाहिदा को हिदायतें न दी हों या डाँट-फटकार न बतायी हो, पर एक अरसे तक उसका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा और अंत में हार कर शाहिदा ने कह दिया कि बच्ची उससे सम्हलती नहीं, मैं जो मुनासिब समझूँ, कर लूँ।

आखिर कुछ प्रयत्न मैंने भी किये। भीतर वाला कमरा बदल कर मैं सामने बैठने लगा ताकि उसके आने-जाने पर नज़र रख सकूँ। बाहर का दरवाजा ज़्यादा से ज़्यादा बंद रखवाने लगा जिससे कि उसका आसानी से निकल कर भागना संभव न हो और गाहे-ब-गाहे बात-बात में उसे याद दिलाने लगा कि वह हम लोगों की बात नहीं मानती, खराब बच्चों के साथ खेलती है, इसलिए मैं नाराज़ हूँ।

"तो क्या तुम हमारे लिए साइकल नहीं लाओगे?"—बड़े भोलेपन से अपनी गर्दन को ज़रा-सा टेढ़ी कर के बेबी मुझसे पूछती। दरअसल, साइकल की उसकी फ़रमाइश बड़ी पुरानी थी जिसे मैं लगातार टाले जा रहा था।

"कभी नहीं"—मैं बनावटी क्रोध से कहता : "जो अच्छे बच्चे होते हैं वे माँ-बाप का कहा मानते हैं। हम मना करते हैं कि तुम गंदे बच्चों के साथ मत खेलो। कमला-अमला के घर न जाओ, तुम तो मानती नहीं। ज़रूर तुम हमारी बेटी नहीं हो।"

"और कमला के साथ न खेलें तो ला दोगे?"

"बिल्कुल।"

"क्यों?"

"क्योंकि तब तुम हमारी बेटी हो जाओगी।"

"अच्छा! अब से कमला के घर नहीं जायँगे। पापा! हमें है न, कमला गन्ने नहीं देती। दिखा-दिखा कर खाती है और माँगों तो कहती है कि...."

मुझे एक तीर-सा सीने में लगता। जैसे-तैसे अपने मुँह के स्वाद को सम्हाल कर मैं कहता : "छीः-छीः बेटी, यह तो निहायत खराब बात है! तुम्हें जो चाहिए हमसे कहो, अम्मी से माँगो. . . ."

पर इन बातों का भी कोई असर पड़ता दिखायी नहीं दिया। अक्सर दफ़्तर से लौटने पर देखता कि बेबी मुहल्ले के दो-तीन और बच्चों के साथ पिछले दिन की धमकी, वादा, डर या लालच, सब भूल-भाल कर खेल में मशगूल है।

"सुनो, ऐसे बात बनेगी नहीं,"—मेरा हर प्रयत्न निष्फल होता देख शाहिदा ने एक दिन कहा : "मैं तो कब से कह रही हूँ कि इसे नर्सरी में डाल दो। वहाँ जाने-आने लगेगी तो यह सब अपने-आप छूट जायेगा।"

यह बात स्वयं मेरे मन में न थी, ऐसा नहीं। लेकिन कमबख्त स्कूल वाले छह साल से कम-उम्र के बच्चों का दाखिला ही नहीं लेते और नर्सरी भेजने का मतलब है हर माह के खर्च में एक और बढ़ौतरी।

झल्ला कर बोला : "तुम तो जान-बूझ कर अनजान बनती हो। यहाँ नर्सरी भेजने की हैसियत होती तो. . . ."

"तो चुप बैठो। और जैसा चलता है, चलने दो,"—वह दो टूक कहती : "पैसे भी खर्च न हों और इस मुहल्ले में रह कर आँच भी न आये, यह तो होने का नहीं। भई, बच्चे आखिर हमसे-तुमसे तो खेलेंगे नहीं।"

शाहिदा की बात चाहे जितनी सीधी, साफ़ और ठीक हो, लगा कि उसने मेरे पुरुषार्थ को छू दिया है। तिलमिला कर बोला : "आखिर तुम किस मर्ज़ की दवा हो? लाख बार कहा कि दरवाज़े पर ताला डाल कर रखो। घर के भीतर रह कर बच्ची मर जाय, मुझे मंजूर है. . . ."

बहस और क्रोध में आदमी अक्सर बेमानी बातें कर जाता है। मेरी बात भी उतनी ही निरर्थक थी, क्योंकि दिन-दिवाले बाहर ताला डाल कर घर का काम चलाया जाय, यह कभी भी संभव न था।

कितनी साध थी कि मेरे बच्चे साफ़-सुथरे और सलीक़ेमंद हों, अच्छी ज़बान बोलें, अच्छी आदतें सीखें और दूसरों के सामने मुझे झेंपना न पड़े, लेकिन सब-कुछ व्यर्थ होते अपनी आँखों से देख रहा था। देख रहा था कि वह वाहियात और गंदी आदतें सीखने लगी है, उल्टी-सीधी ज़बान बोलती है और सारे सलीक़े-शऊर दूर ठिठके हुए मुझे मुँह चिढ़ा रहे हैं. . . .

इसी घुटन का आज विस्फोट हो गया तो घर में हंगामा मच गया है और सबके निकट मैं ही अपराधी ठहराया जा रहा हूँ।

कई दिनों से देख कर भी सब अनदेखा कर रहा था। परिणामस्वरूप इस मामले में शाहिदा भी कुछ लापरवाह हो गयी थी और बेबी भी। कुछ शायद वह कोफ़्त थी और कुछ झल्लाहट एक कर्ज़ वाले के तकाज़े की, बाज़ार से लौटते ही देखा कि सामने का दरवाज़ा खुला है, बेबी बदस्तूर कमला के घर के सामने डटी है और दोनों तालाब में कपड़े धोने का अभिनय करते हुए धोबियों का खेल खेल रहे हैं. . . .

कहना आसान नहीं है कि मुझपर क्या प्रतिक्रिया हुई। लगा कि बस यही देखना बाक़ी था। और उसके बाद मेरी गर्दन और कनपटी की नसों का तनाव, एक ज़ोर की दहाड़भरी पुकार, बेबी का डरते-डरते लौटना और....

"अच्छा चलती हूँ, बहू।"

नीचे से सदरवाली ख़ाला की आवाज़ आयी। वह शायद उठ खड़ी हुई थी। शाहिदा के सलाम का जवाब देती हुई बोली: "जीती रहो, जीती रहो। छीः, इस तरह जी छोटा नहीं करते, बहू। मैं बाबा को समझाऊँगी...तोबा, पढ़ा-लिखा हो कर वह यह क्या हरक़तें करता है!"

थोड़ी देर में ख़ाला भी चली गयीं। और पढ़ा-लिखा तथा समझदार मैं अपनी दाहिनी हथेली को दबाये हुए फिर भी वहीं खड़ा रहा। न हिलने-डुलने की तबीयत हो रही थी और न नीचे जाने का साहस था। नीचे किस बहाने जाता? आखिर शाहिदा से क्या कहना-सुनना बाक़ी था? बेबी से किस तरह आँखें मिलाता? या अल्लाह, तमाचा पड़ते ही अपने छोटे-से गाल पर एक हाथ रख कर वह किस क़दर चिल्ला कर रोयी थी।

और थोड़ी देर से खड़े रहने के कारण अपनी काठ हो गयी टाँगों को मोड़कर मैं धीरे-से उसी जगह बैठ गया और दोनों घुटनों की कोरों पर अपनी आँखें रख लीं।

कई दिनों बाद आया हुआ वह रविवार था---छुट्टी और आराम का दिन। लेकिन और सप्ताहों-जैसा सुख मेरे भाग्य में उस दिन नहीं था। दोपहर को अपने कमरे में घुसने के बाद कई घंटे तक बाहर निकलना संभव नहीं हुआ।

इस बीच घर का यह तनाव भरा वातावरण दूर हो चुका था और शाहिदा मुझसे बात भी करने लगी थी। वैसे उस घटना के बाद वाला एक समूचा दिन मैंने किस कठिनाई से बिताया था, इसे याद न करना ही बेहतर है। बहुत धीरे-धीरे वह कुहासा छँटा था लेकिन पूरे दो दिन बेबी मेरे पास तक फटकी नहीं। उसके बाद दो-एक बार आयी भी तो छोटी-मोटी सूचना ले कर कि पापा चल कर नाश्ता कर लो, नहाने का पानी निकल गया है या अम्मी याद कर रही हैं, आदि। और इतना कह कर अलग तथा दूर से लौट गयी।

कुछ तो शायद इसीलिए उस अपराध-भाव से मैं मुक्त नहीं हो पाया था। लगता, जैसे वह एहसास उसी सघनता के साथ दिल-दिमाग़ पर छाया हुआ है और जब जब बेबी सामने पड़ कर निकल जाती, वह और भी अधिक गहरा जाता और एक सालती हुई वेदना बेतरह कचोट कर मुझे उदास कर जाती। वहाँ कहीं संतोष था तो यही कि उस दिन के बाद बेबी फिर कभी बाहर निकलती दिखायी नहीं दी या कमला के यहाँ नहीं गयी।

बाहर अँधेरा होने में बहुत देर थी लेकिन मेरा कमरा तभी झुटपुटा गया था। इसके अलावा कई घंटों की लगातार बैठक से भी थकान होने लगी थी। मैं वहीं से एक प्याला चाय के लिए आवाज़ देना चाहता था लेकिन फिर हाथ-पाँव सीधे करने के लिए स्वयं ही उठ गया।

सहसा खिड़की से नज़र पड़ी कि बाहर का गेट खुला रह गया है। बकरी-भेड़ों से सामने के छोटे से बाग़ीचे की सुरक्षा कितनी कठिन हो जाती है, सोचते हुए मैंने किवाड़ के पल्ले खोले पर बरामदे में आने से पहले दहलीज पर ही ठिठक गया।

बरामदे के आख़िरी कोने में बहुत-सी धूल-मिट्टी बिखरी हुई थी और उससे हाथ-पाँव तथा कपड़ों को बेतरह सनाये बेबी कमला के साथ सहमी हुई खड़ी थी। क्षण भर में बेबी के चेहरे को ठीक से देख नहीं पाया था पर जब उससे आँखे मिलीं तो भीतर से जैसे कलप कर रह गया। अपना सूखा हुआ मुँह लिये वह भयभीत आँखों से मेरी ओर यूँ देख रही थी जैसे डरी हुई हिरनी हो।

"बेबी!"––मैंने अपने भीतर की ग्लानि को दबाते हुए पुकारा पर वह वहाँ से नहीं हिली। एक बार उसने अपने बगल में खड़ी कमला की ओर देखा और फिर से गर्दन झुका कर खड़ी हो गयी।

मेरा ध्यान कमला की ओर गया। हमेशा की तरह उसके कपड़े मैले-कुचैले, बाल धूल-सने, हफ़्तों से अनसँवरे तथा सारा शरीर गंदा था। इस बच्ची को इतने ग़ौर से मैंने इससे पहिले कभी नहीं देखा था। एकाएक चौंकते हुए भी यह स्वीकार करने का मन नहीं हुआ कि मेरे डर के मारे कमला के प्राण सूखे जा रहे हैं। शायद ज़रा-सा अवसर पाते ही वह बेतरह निकल भागेगी....

धीरे-धीरे बढ़ कर मैं पास तक पहुँचा। बेबी की भयभीत आँखों पर नज़र पड़ी तो सहसा उस दिन की घटना कौंध गयी जब एक क्षण के लिए मेरा कलेजा बिल्कुल सफ़ेद हो गया था। उस दिन एकाएक तमाचा पड़ते ही अपने इसी मासूम गाल पर एक छोटा-सा हाथ रख कर यह किस क़दर चिल्ला कर रोयी थी!

"कुछ नहीं, बेटी, कुछ नहीं...."––बड़ी कठिनाई से अपनी आवाज़ को सम्हाल कर मैंने पराजित भाव से कहा : "खेलो....तुम लोग शौक़ से खेलो...."

और जल्दी से मुँह मोड़ कर मैंने उनकी ओर पीठ कर ली।

––द्वारा मध्यप्रदेश संदेश,
जयाजी चौक,
ग्वालियर-१।

● ●

युद्ध और कविता

श्रीराम वर्मा

युद्ध व्यक्ति का नहीं, समूह का अनुभव है। एक समूह का दूसरे समूह के प्रति अनुभव। एक समूह के अनुभवों की दूसरे समूह के अनभवों से टकराहट। इन दो समूहजन्य अनुभवों से दोनों समूहों को पृथक-पृथक या समान अथवा समानांतर अनुभव प्राप्त होते हैं जिनका अंतिम निर्णय युद्ध के बाद ही संभव है। किंतु इतना निश्चित है कि वह अनुभव सारे अनुभवों से बड़ा होता है; महत्वपूर्ण होता है।

जिन्हें समूह से चिढ़ है, वे इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि युद्ध व्यक्ति का नहीं, बल्कि व्यक्ति-व्यक्ति का, प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है, और इसीलिए वह अनुभव बड़ा और महत्वपूर्ण है। यदि वह प्रत्येक के लिए महत्वपूर्ण नहीं है तो या तो वह युद्ध ही नहीं है अथवा उस आपतकाल में वह 'प्रत्येक' व्यक्ति नहीं है, मनुष्येतर है। जिसके लिए जितना ही वह महत्वपूर्ण है, वह उतना ही व्यक्ति है। जिसके लिए जितना ही वह महत्वहीन है, उतना ही वह व्यक्ति नहीं है। 'महत्व-पूर्ण' का अर्थ यहाँ यद्ध की अनिवार्यता से कदापि नहीं है, उसके अनुभव की महत्ता से है, उसके प्रति दायित्व-बोध से है, जागर्ति से है।

अक्सर कहा जाता है, युद्ध की प्रवृत्ति, मनुष्य में सदैव रही है। जैसे सभी रस हृदयों में शांत पड़े रहते हैं और परिवेश और भावों की उद्दीप्ति से वे जाग उठते हैं, उसी प्रकार तनाव और संघर्ष के संक्रांति-विंदु तक आते-आते युद्ध अनिवार्य हो जाता है। इस युद्ध के पीछे मानव-मूल्यों के संघर्ष होते हैं, बढ़ती हुई जनसंख्या की अबाधित विस्तार-भावना होती है, मनुष्य के भीतर बार-बार जन्म लेती प्रतीक-पुरुषता होती है और अगत्या मनुष्य का अतिजीवन होता है।

इस युद्ध के अनुभव से सभी देश परिचित हैं। जहाँ यद्ध हुए हैं, वे तो परिचित हैं ही, जहाँ युद्ध नहीं हुए, वे भी परिचित हैं कमोबेश। हमारा देश उन देशों में रहा है, जिसने युद्ध नहीं देखे, लेकिन युद्ध के समाधान दिये हैं। और इस समाधान ने, शांतिवादी प्रवृत्ति ने भारत के प्रति एक चौंधभरी आदर-भावना जगायी है संसार के अन्य देशों में। लेकिन जब हमारा देश स्वयं उस गत्याचक्र में फँस गया है, तब एक ओर हमें वे समाधान फीके लगने लगे हैं और दूसरी ओर यूरोप की दृष्टि में भारत के प्रति जो रोमांटिक भाव था, वह मिटने लगा है। जॉन मेंडर के शब्दों में भारत 'अंतर्राष्ट्रीय शेरों के बीच मेमने' जैसा लगने लगा है। अचानक हम एक मानसिक अवरोह की स्थिति

में आ गये हैं और स्वयं को इतने निकट से पहचानने लग गये हैं कि हमारा अतीत जैसे हमारा साथ नहीं देता, हमारा वर्तमान हमें विकलांग बना कर छोड़ देता है और हम उस गति को स्वीकार कर पाने में असमर्थ से हो जाते हैं जो वैज्ञानिक युग की सामान्य परिणति है।

हमारा देश एक प्रायद्वीप है। पर पूरा प्रायद्वीप, जिसमें गाँवों की संख्या आज भी सबसे ज्यादा है, इस युद्ध के अनुभव से सदैव कटा रहा है। हम अपनी पूर्वप्रतिज्ञा दुहरायें, तो कहना पड़ेगा, हमारे ग्रामीण व्यक्ति नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने युद्ध के प्रति अपने दायित्व को नहीं समझा। **"मनुष्य के मस्तिष्क को उन्होंने संकुचित से संकुचित सीमाओं में बाँधे रखा है, जिससे वह अंध-विश्वासों का असहाय साधन बन गया है, परंपरागत चली आयी रूढ़ियों का गुलाम बन गया है और उसकी समस्त गरिमा तथा ऐतिहासिक ओज उससे छिन गया है। उस बर्बर अहम्मन्यता को हमें नहीं भूलना चाहिए, जो अपना सारा ध्यान ज़मीन के किसी छोटे-से टुकड़ेपर लगाये हुए, साम्राज्यों को टूटते-मिटते, अवर्णनीय अत्याचारों को घटित होते, बड़े-बड़े शहरों की जनसंख्या का क़त्लेआम होते चुपचाप देखती रही। इन चीज़ों की तरफ़ देख कर उसने ऐसे मुँह फेर लिया है, जैसे कि वे कोई प्राकृतिक घटनाएँ हों। वह स्वयं भी हर आक्रमणकारी का असहाय शिकार बनती रही है, जिसने उसकी तरफ़ किंचित भी दृष्टिपात करने की परवाह की है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दूसरी तरफ़, इसी प्रतिष्ठाहीन, गतिहीन और सर्वथा जड़ जीवन ने, इस तरह के निष्क्रिय अस्तित्व ने, अपने को बिल्कुल भिन्न, विनाश की अनियंत्रित, उद्देश्यहीन, असीमित शक्तियों को भी जगा दिया था और मनुष्य-हत्या तक को हिंदुस्तान की एक धार्मिक प्रथा बना दिया था। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन छोटी-छोटी बस्तियों को जात-पाँत के भेद-भावों और दासता की प्रथा ने दूषित कर रखा है, कि मनुष्य को परिस्थितियों का दास बना दिया है, कि अपने आप विकसित होने वाली एक सामाजिक सत्ता को उसने एक कभी न बदलने वाले स्वाभाविक प्रारब्ध का रूप दे दिया है, और, इस प्रकार उसने एक ऐसी प्रकृति-पूजा को प्रतिष्ठित कर दिया है; जिसमें मनुष्य अपनी मनुष्यता खोता जा रहा है।"**

मार्क्स का यह कथन जितना १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम काल में सत्य था, उतना ही आज भी सत्य है। किंतु आज इस स्वतंत्रता के युग में वे कौन से कारण हैं, जो ग्रामीणों को अहं की वह स्फीति नहीं प्रदान करते जिससे वे जाग सकें? शायद देश ने इसपर कभी सोचा ही नहीं। सोचा भी तो काग़ज़ की नावें बनायी गयीं। और काग़ज़ की नावें इस अथाह अज्ञान-सागर में वह कर गल गयीं। एकाध ने कुछ कोशिश की, लेकिन भूदान कर के जब वे लौटे, तो पता चला, वह ज़मीन ऊसर थी, बाद में वह जायगी और उसीके लिए फौजदारियाँ हो रही हैं।

मैं कहूँ कि ग्रामीण मानस पूरे देश का मानस है तो अत्युक्ति न होगी। रूढ़ियाँ सर्वत्र हैं। छुआछत कहाँ नहीं है? जिस प्रकार की छुआछूत मिट रही है, उसके स्थान पर नयी ढंग की छुआ-छूत जन्म लेती जा रही है। इसी तरह नयी जातियाँ बनती जा रही हैं, जिनके आधार संपन्नता और प्रतिष्ठा है। इसी प्रकार गृहकलह, मुकदमे, मारकाट सर्वत्र है। घूस, चोरी, डकैती कहाँ नहीं है? आर्थिक कष्टों से कौन पस्त नहीं है? और अंत में, वह शिक्षा जो स्वतंत्रचेता बनाती है, जो जड़ता से हटा कर गति के नित नये आरोह प्रदान करती है, कहाँ है? इस दृष्टि से क्या कोई वस्तुतः शिक्षित

है। अतः भारत आज भी उसी ग्रामीण वन्य अंधकार में है, जहाँ कभी वह था। यह सत्य है कि जंगल कट गये हैं और इस्पात के कारख़ाने खड़े तो हो गये हैं, लेकिन आदमी अभी भी उसी अँधेरे में है। वह स्वतंत्र नहीं हुआ। हवा का जितना भार उसके चतुर्दिक है, उससे कहीं ज़्यादा भार उसके आंतरिक लोक में परतंत्रता का, अँधेरे और घुटन का और सबके बावजूद घोर अज्ञान का है, जिसका उसे भान तक नहीं। परिणाम यह है कि हम अभी भी अतीत में हैं, हमारे वर्तमान को भविष्य में बदलने की कोशिशें या तो सतही हैं या उन कोशिशों के पैर पीछे हैं। क्योंकि इस देश के पास न तीव्रता है, न गति, ऐसी स्थिति में वह दुर्दम्य वैज्ञानिकता कहाँ हो सकती है जिसे आधुनिक युग अतीत की ओर से चक्रांत शिला की तरह घूम कर तत्काल वर्तमान आलोकित कर देता है? केवल इस देश के पास कल्पना की उड़ान और मानसिक शांति अवश्य है जो विलासिता और आलस्य के रूप ग्रहण करती रही है और जिससे कुल मिलाकर जड़ता आती गयी है।

युद्ध का संकट तीव्रताओं की अपेक्षा रखता है। एक बम का फूटना बराबर होता है सौ विचारों के उत्तेजन के। वे सौ विचार अगर इस ग्रामीण मानस वाले देश से प्रस्फुटित हों तो देश अतीतवादी न हो कर तात्कालिक की ओर ध्यान दे। किंतु इस ग्रामीण मानस की बनावट ही इतनी पेंचदार है कि वह बिखरी और टूटी हुई स्थिति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकती। और खंडित मस्तिष्क से खंडित विचार ही अनुस्यूत होते हैं और खंडित विचारों से खंडित सत्य ही बनते हैं। परिणामतः वास्तविक पूर्ण सत्य की उपलब्धि नहीं हो पाती।

इस ग्रामीण मानस ने विज्ञान को आंतरिक स्तर पर प्रश्रय नहीं दिया। यदि कभी दिया तो असंतुलित ढंग से, जिसका परिणाम यह है कि सारे देश में वैज्ञानिक बुद्धि का अभाव है, चिंतन और आचरण में वैषम्य है। सरकार, व्यापार, शिक्षा और संस्कृति के हर छोर पर यह ग्रामीण मानस जड़ता, जातिवाद और अवमूल्यन की सृष्टि कर रहा है।

इसके पीछे शिक्षा की अवैज्ञानिक स्थिति एवं आर्थिक असंतुलन दो मुख्य कारण हो सकते हैं। हमारी शिक्षा, जो मैकाले की मानस-पुत्री है, हमें पंगु बनाती है। वह एक ढाँचे में हमारी बुद्धि को कस देती है। हम क्रूसित हो जाते हैं या विकलांग भिखारी बन जाते हैं। यानी कि हम एक बुद्धिमान बेकार बन जाते हैं। बुद्धिमान नहीं बल्कि पढ़े-लिखे बेकार। बेकार अपने लिए, परिवार के लिए, राष्ट्र के लिए भी इसीलिए। उस निराशा के साथ जब हम पाते हैं कि अयोग्य के स्थान पर योग्य ज़्यादा बेकार हैं, तब कुंठाएँ और बढ़ती हैं, निराशाएँ और बढ़ती हैं। हम एक ही जीवन में कई बार क्रूसित होते चलते हैं। फिर हम लौट आते हैं कुछ ईर्ष्याएँ और अमर्ष और असूया ले कर प्रेत-जीवन में जहाँ अपरिग्रह और अहिंसा और सत्य अमूर्त सिद्धांत बन कर रह जाते हैं, काग़ज़ी और थोथी बकवास मालूम देते हैं, सूप से पछोर दिये गये कदन्न बन जाते हैं। न कहीं कोई विश्वास होता है, न कोई आस्था। ऐसे अद्वितीय एकाकीपन और सर्वहारापन के कुहाच्छन्न तल में ऊभ-चूभ आदमी राष्ट्रप्रेमी हो सकता है? यह एक प्रश्न है और इसका उत्तर इस पूरे देश के पास क्या है?

चीन के सीमातिक्रमण के समय एक तरफ़ सत्य और अहिंसा के रास्ते को धक्का पहुँचा था, बल्कि उसी समय यह भी पता चला कि पूरे देश में सत्य और अहिंसा नहीं है और अंत में एक

सांस्कृतिक संकट उपस्थित हुआ था और तब अखबारों ने जनता में एकता के दर्शन किये थे। वह एकता क्या जड़ता का प्रतिरूप नहीं थी ? या क्या वह अन्यमनस्कता नहीं थी ? या क्या कुछ अवसरवादी नेताओं की स्वार्थ-लिप्सा का परिणाम नहीं थी ? दान दिये गये थे, या लिये गये थे ? उस दान में भी कितना हड़पा गया था ? कितना चोरी गया था ? न मिलने वाली रसीदें इसका उत्तर हैं। इसी तरह फौज में भर्ती होने की स्थिति को राष्ट्रप्रेम कह कर खूब दुहाई दी गयी। ओमप्रकाश दीपक ने पाया कि **'सिर्फ जिनकी मसें ही भीगी हैं ऐसे नौजवान, विवाह या गौने के शीघ्र बाद'** चले जा रहे हैं सेना में भर्ती होने के लिए। उन्होंने यह नहीं सोचा कि बेचारे नौजवान अगर देर करते जाते, तो नौकरी ही नहीं मिलती। नवोदित कवि रतनलाल रैना 'शांत' ने इसका उत्तर देते हुए कल्पना १४३ में लिखा है: **"सेना में खूब भरती होने लगी तो सर्वथा इस कारण नहीं कि लोग मातृभूमि के एक भाग को विदेशियों से छुड़ाना चाहते थे। इसके और भी महत्वपूर्ण कारण थे—बेरोज़गारी आदि।"** हाँ, इतना और अपनी ओर से जोड़ दूँ कि राष्ट्रप्रेम के नाम पर ट्रेनिंग के लिए जो प्राध्यापक गये थे, लौट आये, क्योंकि उन्हें स्नान के लिए थोड़ा दूर जाना पड़ता था। आराम कम था।

जिस देश में राष्ट्रप्रेम का ऐसा विकृत रूप हो, उस देश में युद्ध की कविता का स्वरूप क्या होगा ? इसका उत्तर पाने के लिए पत्रिकाओं की प्रकृति, प्रकाशकों के स्वरूप और अंत में लेखकों की दृष्टि पर विचार करना होगा; और तब पता चलेगा कि इस देश की युद्ध-कविता का स्वरूप कुछ है भी या नहीं।

मोटे तौर पर पत्रिकाएँ सस्ते और गंदे साहित्य को प्रकाश में लाती हैं, ताकि जनता का दिल और दिमाग़ सदैव एक लिबलिबेपन से भरा रहे, उसे प्रेम, रोमान्स और शरीर-लिप्सा के अलावा कुछ सूझे ही नहीं। फ़िल्म देखने के बाद जो समय बचता है, उसमें कहीं अपने को और अपने समाज को वह पहचान न जाय, इसलिए बेहद ज़रूरी है कि उनके दिल और दिमाग़ को नाली की सडाँध और बदबू बराबर दी जाती रहे ताकि वे उसीमें कुलबुलाते रहें, मैनहोल के नीचे सड़ते रहें और आजीवन वे अपनी यातना को आनंद समझते रहें। पत्रिकाएँ खूब बिकें, प्रकाशक थैलीशाह होता जाय। बस। कमोबेश सभी प्रकाशक पत्रिकाओं का स्तर ऐसा ही रखते हैं। और ये पत्रिकाएँ ही जनता की वास्तविक पत्रिकाएँ हैं। व्यावसायिक उद्देश्य वाला प्रकाशक अक्सर रो कर कहता है, क्या करें, जनता की कोई सुरुचि नहीं, वह सिनेमाई चीज़ ही पसंद करती है। उसे या तो हनुमानचालीसा चाहिए, या क़िस्सा साढ़े तीन यार। बस। लेकिन थैली की सुरक्षा के बदले वह कोई सुरुचिशील आंदोलन चलाये, यह वह नहीं चाहता। क्योंकि यदि उसने ऐसा किया तो जनता कुछ और चाहेगी। शायद तब तक वह मर चुका होगा या ऐसा करना ही उसकी मृत्यु होगी। जो नवोदित पत्रिकाएँ होती हैं, वे संपादक की यशलिप्सा को शांत कर के समाप्त हो जाती हैं। उनमें बुद्धि और कलात्मक सुरुचि के स्थान पर गाली-गलौज ज़्यादा हुआ करता है। इन दोनों के बीच वे पत्रिकाएँ होती हैं जो सस्ती नहीं कही जा सकतीं, लेकिन वे हर वर्ग का ध्यान रख कर निकाली जाती हैं। उनमें सब कुछ होता है। केवल जागर्ति-भावना को छोड़ कर। उनमें फ़ोटोग्राफ़ी की उच्चतम कला के उदाहरणों से ले कर मानसिक शांति अथवा

प्रेम की आध्यात्मिक ऊहापोह तक होती है। इस प्रकार की चीजें कमोबेश सभी वर्ग पढ़ता है। सुरुचि की रक्षा भी होती है। इन पत्रिकाओं के मालिक मिलशाह लोग होते हैं। उनकी औद्योगिक क्षमता का लोहा सरकार भी मानती है। उनके निजी अखबार भी होते हैं।

हिंदी में कुल मिला कर यही तीन तरह की पत्रिकाएँ हैं। लेकिन अलावा कभी-कभी महान उद्देश्यों से एकाध पत्र निकलते हैं, लेकिन वे थैलीशाहों और मिलशाहों की प्रतिद्वंद्विता में काल-कवलित हो जाते हैं। सरकार कभी भाषा और साहित्य के सुरुचिपूर्ण विकास पर ध्यान नहीं देती। बल्कि उसका कोई निजी ऐसा पत्र भी नहीं है जिसकी तुलना किसी विदेशी सरकारी पत्र से की जा सके। फलतः जन-जागरण या क्रांति या विकास की, पत्रिकाओं के स्तर पर कोई स्थिति नहीं है।

और साहित्यकार, जो पुराने हैं, वे प्रकाशक हैं या प्रकाशक के मित्र हैं या सरकारी हैं, यानी वे या तो विपथगामी हैं या मर चुके हैं। वे सोने के दुपट्टे और चाँदी में लिपटे पान के बीड़े में कहीं इतने स्वर्गीय हो चुके हैं कि उनकी आवाज़ उनके कानों तक भी नहीं पहुँच पाती। जो नये हैं वे अक्षरजीवी हैं, अतः प्रकाशक-रूपी पूँजीपति के मज़दूर हैं। इससे इतर स्थिति में वे सर्वहारा हैं। बिना गले की आवाज़ों वाले इस युग में अक्षरजीवी का दर्जा वाग्जीवी से बहुत छोटा है। वह मध्य वर्ग का सबसे असहाय प्राणी है। परिणामतः वह इन तीन तरह की पत्रिकाओं के अनुकूल ही कुछ रच पाता है जो बुद्धिहीनता, रूढ़िवादिता और कुरुचि का द्योतक होता है। इस असंतुलन और वैषम्य की स्थिति में अधकचरे मूढ़मग्ज़ लोग सामने मैदान में आ जाते हैं जो अंततः गहराई में कहीं उतरते ही नहीं। संपादक, लेखक और प्रकाशक तीनों के ऐसे संबंध से एक 'पीली' पत्रकारिता जन्म लेती है, प्रतिभा चूहे और शेर के बीच की नस्ल बनती है, ख़ामख़ाह के लिए 'स्नॉबरी' का वातावरण तैयार होता है।

एक बार उर्दू के एक बड़े कवि ने अंग्रेज़ी पढ़ाते-पढ़ाते कहा था : हिंदी में यदि उच्च वर्ग का कोई व्यक्ति हुआ होता, जैसे बँगला में रवींद्र या उर्दू में इक़बाल थे, तो हिंदी की यह स्थिति न होती। सवाल होने का शायद तब होता, जब उच्च वर्ग का व्यक्ति मैकाले की बाबूगीरी से बच गया होता, या बनिया न हुआ होता। जो हिंदी के मध्य या निम्नवर्गीय लेखक हैं भी, वे चाहे प्राध्यापक हों, चाहे बेकार, वे अपने और अपने देश के बारे में 'कोटेशन' में सोचते हैं, वे परोपजीवी हैं विदेशी लेखकों या इंग्लैंड के। उनके लिए अपनी भाषाओं और साहित्यों का अध्ययन ज़रूरी नहीं लगता। उन्हें अंग्रेज़ी या अंग्रेज़ी के माध्यम से अन्य विदेशी साहित्यों का अध्ययन ज़्यादा उपयोगी प्रतीत होता है। यह एक सीमा तक उचित भी हो तो भी उन्हें अन्य भाषाओं की ज़रूरत आदान-प्रदान की दृष्टि से क्यों नहीं लगती। दूसरे देश, विशेषकर चीन और रूस या इंग्लैंड और अमेरिका, बड़ी तेज़ी से भारत की कला और साहित्य सीख रहे हैं, लेकिन हिंदी का लेखक सोया हुआ है। जो वाग्जीवी है, वह भी 'वाग्भूषण' को ही 'सर्वश्रेष्ठ' माने बैठा है। क्योंकि वह नेता है। शमशेर के शब्दों में **'जितनी ही एक जाति दूसरी जाति को अंदर से समझने में समर्थ होती है, उतनी ही वह स्वयं अंदर से समर्थ होती है।'** लेकिन इस सामर्थ्य को पा लेने की ज़रूरत न लेखक को है, न सरकार को, न ही शोध के विद्यार्थी को। यद्यपि यह भी देखा जा रहा है कि भारत

का लेखक रहता इस देश में है लेकिन मानसिक जीवन उसका पश्चिम में ही रहता है। वह कृष्ण, शंकराचार्य या विवेकानंद को कोई अहमियत नहीं देता, यहाँ तक कि रवींद्र और वल्लतोल भी इसके लिए कोई मानी नहीं रखते। इसका सूर्य पश्चिम से निकलता है और डूबता है उसके हृदय के अंतराल में।

एक दूसरा लेखकों का वर्ग है, जो अतीती है। उसे फ़ायड में कामसूत्र दीखता है, हवाई जहाज़ में पुष्पक विमान। उसकी सभी व्याख्याएँ अतीतवादी है। उसे हर आधुनिक समस्या का समाधान अतीत में मिल जाता है।

पहला वर्ग युद्ध के विषय में सोचते हुए भले ही जॉन मेंडर की तरह भारत के आधुनिक तंत्र को 'माया-प्रसूति' न माने, पर आगे वह सोचेगा भी तो यूरोप के युद्ध को मद्देनज़र रखेगा। वह भारत के भूगोल और ऐतिहासिक तनाव को भुला देगा। और उसके समाधान पाश्चात्य समाधान होंगे। उसकी भाषा तो होगी अपनी ही लेकिन वह भारत भूमि पर हुए आक्रमण को आल्प्स के किनारे देख सकेगा, अन्यथा उसकी अनुभूति छिछली या सतही होगी, पक्व नहीं हो पायेगी। उसके लिए पूरा देश एक झाड़ी की तरह है जिसमें भाषा के छोटे पैरों की छलाँग उसे उसी झाड़ी में गिरा देगी, वह कूद नहीं पायेगा, फँस जायेगा, पर ऐसा वह चूँकि पश्चिम की सहमति से करेगा, इसलिए पश्चिम को लाभ होगा और उसे प्रसन्नता तो होगी ही। क्योंकि तब वह भूसे-भरी खलरी होगा, प्रतिभासंपन्न मौलिक कलाकार नहीं।

दूसरा वर्ग शाश्वत को बिना माने एक क़दम आगे नहीं सोचता है। अतः युद्ध है, तो शांति भी है। गीदड़ हैं तो शेर भी हैं। शायद युद्ध के लिए वह यज्ञ को अनिवार्य मान सकता है। या अवतारार्थ प्रार्थना-गीत लिखने का मशविरा दे सकता है। वह बर्फ़ देखता है, कुहरा देखता है, तोप, बंदूक़ और मशीनगनों की पर्वतभेदी आवाज़ नहीं सुनता। वह वस्तुतः प्रेत होता है, आदमी नहीं, प्रेत। लेखक नहीं, प्रेत-लेखक।

इन दोनों के बीच अवसरवादी लेखक होते हैं, जो सामयिकता पर बिना सोचे-विचारे बल देते हैं। क्योंकि सामयिक रचना एक प्रकार अच्छा नुस्खा होती है, संघर्ष और प्रतिभा से बचने के लिए, यश की उपार्जना के लिए, दाँतों से पैसे पकड़ने के लिए। ये अवसरवादी लेखक, सरकार और प्रकाशक के आगे-पीछे **'बिना तोरण के ही बंदनवार'** रचते रहते हैं। ये सारस-पंक्तिनुमा लेखक कभी शादी-व्याह में मंगल-गीत गाते हैं, कभी खादी के फूल चुनते हैं, कभी गजरे बनाते हैं, कभी लाल तारे की बलैयाँ लेते हैं और कभी त्योहारों के प्रति ममत्व बढ़ाते हैं। यही लेखक युद्ध की कविता भी करते हैं सच्चे देशभक्त बन कर। उनके पास दिल का खज़ाना होता है, अनुभूति नहीं होती। फिर वे च्युत क्यों हों इस देशभक्ति से। वे अच्युत जो ठहरे। तब वे कुछ पुराने प्रतीक, पुरानी लय, बंसी और शंख, भेरी, तूर्य, तांडव ले कर चले आते हैं उसी पानीपत के मैदान में जहाँ छपक-छपक तलवार पुरानी चमकी थी। उनको बोमदी ला और चुशूल से कोई मतलब नहीं होता रणनीति, कूटनीति, भूगोल, इतिहास, विज्ञान, युद्ध के आधुनिक तौर-तरीक़े, युद्ध-भूमि की नवीन प्रणालियों का प्रत्यक्ष दर्शन, यह सब धरा रह जायगा, **'जब लाद चलेगा बंजारा'।** इसलिए कृष्ण ही सहाय हैं, राम ही रक्षक हैं!

और ये प्रकाशकों के पिट्ठू बन जाते हैं। इन्हीं की पुस्तकें मोर्चे पर सबसे पहले पहुँचती हैं और फ़ौज पढ़ती है जासूसी और अश्लील साहित्य। प्रकाशक इन पिट्ठुओं की आड़ ले कर फ़ौज के अवकाश को जासूसी और अश्लील बनाने के लिए अपने सस्ते साहित्य की खपत करता है।

ऐसी स्थिति में हर संपादक, हर प्रकाशक इस बात को बड़े गर्व से चिल्ला कर काफ़ी हाउस या पर्टियों में और कभी-कभी तो लिखित रूप में भी कहता है, हिंदी में युद्ध-कविता या युद्ध-साहित्य नहीं लिखा जा रहा है। लिखा भी जा रहा है, तो अच्छा नहीं लिखा जा रहा है। ओमप्रकाश दीपक ने, जो एक सधे हुए हिंदी के लेखक समझे जाते हैं, एक लेख में लक्ष्मीकांत वर्मा के नाटक 'सीमांत के बादल' के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं पाया, जो युद्ध-साहित्य के नाम पर अच्छा कहा जा सके। 'ज्ञानोदय' के एक विशेष स्तंभ में डॉ० नामवर सिंह ने अपने पूर्वग्रह भरे विचारों द्वारा काफ़ी अखबारी और सतही तौर पर ऐसी कविताओं पर विचार किया है, जो युद्ध से संबद्ध हैं। उनकी चर्चा यहाँ व्यर्थ होगी। किंतु प्रश्न यह है कि थैलीशाह संपादक या पत्र के मिलशाह मालिक युद्ध से संबद्ध क्या वास्तविक रचना को स्वीकार करते हैं ? मैंने एक साहित्यिक मासिक के संपादक को बारह कविताएँ इस संदर्भ में, अरसा हुआ, भेजी थीं, वे लौट आयीं। उनमें से कुछ 'नयी कविता' के संपादकों ने सहर्ष छापीं। उस साहित्यिक मासिक के संपादक को युद्ध से संबद्ध कविताएँ नहीं मिलतीं। मिलती हैं, पर संपादक के मन में युद्ध-कविता का स्वरूप कुछ भिन्न है। वह कदाचित देशभक्ति के प्रति किये गये व्यंग्य को अच्छी नज़र से नहीं देख सकता। वह क्रोध और कटुता को अप्रिय मानता है। वह 'युद्ध की दस्तक' को 'अजनबी' की तरह लौटते हुए नहीं पाता। वह नहीं जानता कि उसकी जनता का आधा हिस्सा सो रहा है और आधा नेताओं को जगा रहा है। और नेता आपस में टकरा रहे हैं। देश को भाषा और भूगोल के स्तर पर इस संकटकालीन स्थिति में भी विभाजित कर रहे हैं। स्वर्ण-नियंत्रण और महँगी, खंडित एकता और फ़ौजी तैयारी के नाम पर केवल झूठे दावे उसे बेमानी नहीं लगते। वह ऐसी कविता चाहता है जो मात्र देशप्रेम की अभिधात्मक भाषा को सँजो रही हो, जिसमें एकता का शंखनाद गूँज रहा हो। बस।

और उसी साहित्यिक पत्रिका के संपादक ने जनवरी १९६४ के अंक में प्रथम अनुच्छेद में लिखा : **"यह सदी इतनी क्रूर हुई कि इसमें दोनों विश्वयुद्ध हुए, हिंदुस्तान का बँटवारा हुआ. महात्मा गांधी की हत्या हुई हंगरी में अमानुषिकता का नंगा नाच हुआ। जैसे यह सब काफ़ी नहीं था और नवंबर की २२ को अमरीका के राष्ट्रपति श्री केनेडी की हत्या कर दी गयी।"** इस पूरे अनुच्छेद में कहीं भी चीनी आक्रमण की चर्चा नहीं है, यह ध्यातव्य है।

अस्तु, कुछ युद्ध-कविताएँ लिखी ज़रूर गयीं, जिनके पार्श्व में कवि की निजी अनुभूति की आँच थी, किंतु उनका स्वरूप यहाँ इसलिए उल्लेख्य है कि उनसे मेरा आंतरिक पार्थक्य या लगाव है। हमारे देश का कोई भी कवि वैसा नेता नहीं है, न उस नेता की तरह ही है, जिसकी आवाज़ देशव्यापी हो, इसलिए वैसी कविता जो इस कविता से दूर रहने वाली जनता का उद्बोधन करे, असंभव है। फिर भी वह आंतरिक दवाव, जो कवि का अनुभूत है और जिसके कारण वह कुछ रचता है, कुछ कवियों की कविताओं में अवश्य मिला। उदाहरणार्थ, शमशेर की कविता 'सत्यमेव ज़यते।' किंतु युद्ध की आकस्मिक परिस्थिति में वह कवि के आत्ममंथन, आत्मनिर्णय से उपजी

निवेदन मात्र थी। शायद इसीलिए उक्त कविता में गालियों का प्रयोग (लेनिन और मार्क्स को जला देने की आकांक्षा) निजी स्तर पर ही कोई मानी रखती है, इससे इतर इतना महत्वपूर्ण प्रयोग व्यर्थ हो गया। डॉ० नामवर सिंह का ग़ुस्सा इस प्रयोग पर चूँकि पूर्वग्रहपूर्ण है, इसलिए उसकी चर्चा कर के समय क्यों ज़ाया किया जाय। पर इतना सत्य है कि कोई भी कविता आत्म-निवेदन नहीं है। किंतु नवोदित कवि 'धूमिल' की 'भय और दिग्विजय' के बीच की असंतुलित मनःस्थिति इस देश के पूरे वातावरण को एक विशिष्ट संदर्भ में ठोस व्यंग्य के रूप में प्रस्तुत कर देती है, जहाँ कैलाश वाजपेयी के शब्दों में **'हमारा आकाश छोटा हो गया है'** और हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं। ऐसी ही दुखी और व्यंग्य-विद्रूप की मनःस्थिति नागार्जुन की कविताओं में सर्वत्र मिलती है, किंतु उसकी पद्धति, उसका रूप इतना सतही, हलका और अखबारी है कि उससे युद्ध एक विशेषण मात्र बन कर रह जाता है जो आम जनता के लिए भी उतना ही बना हुआ है। इसी प्रकार नरेश मेहता की कविताएँ हैं जिनमें युद्ध का आरोप तो है, उनकी अर्जित कृत्रिम शैली भी है, पर कहीं भी अनुभूति की आँच नहीं है। केवल कुँवरनारायण और लक्ष्मीकांत वर्मा में ऐतिहासिक बोध और रोमांटिक तेवर मिलता है। शेष अपने विषय में कहूँ तो इतना ही पर्याप्त होगा कि मेरी कविताएँ उद्बोधनात्मक नहीं है, उद्बोधन किसी भी रचना का उद्देश्य भी नहीं होता (ऐसा हो जाय, यह अलग बात है)। किंतु वे युद्ध के संदर्भों को ले कर करारी चोट अवश्य करती हैं, उनमें एक तटस्थ व्यक्ति समग्र परिस्थिति को झेलता हुआ उस व्यंग्य को व्यक्त करता है जिसे युद्ध ने इस देश के असमंजस से उठा कर उजागर कर दिया है।

लेकिन एक कलाकार के लिए आंतरिक दबाव सबसे अनिवार्य इकाई है। इसलिए यह ज़रूरी नहीं कि वह किसी क्रांति, किसी युद्ध या किसी भी महान घटना से प्रेरित हो ही। वह हो या हो सकता है, या वह न हो या नहीं हो सकता, यह उसके आंतरिक दबाव पर ही निर्भर करता है। क्योंकि कोई भी कला स्वयं एक बहुत बड़ा उद्देश्य है और उद्देश्य का उद्देश्य नहीं हो सकता, इसलिए कलाकार से हर संकट या अनिवार्य स्थिति के अवसर पर कला के स्तर पर कुछ माँग करना कोई मानी नहीं रखता। कविवर पंत से एक भेंट के दौरान मुझे ज्ञात हुआ कि उन्हें चीनी आक्रमण रचनात्मक स्तर पर प्रभावित नहीं कर सका। शायद वह डाकेज़नी जैसी चीज़ थी। इस ईमानदारी को कला के लिए निहायत ज़रूरी मानना एक अनिवार्य और अहम बात है। ३८० कलाकारों को एकत्र कर के माओत्से तुंग या कोई भी नेता भले मोर्चे के अनुकूल साहित्य-निर्माण का नैतिक उपदेश दे दे, उससे कला का निर्माण नहीं संभव होता, प्रचार या यंत्र-निर्माण भले ही हो जाय, क्योंकि रचना-प्रक्रिया के स्तर पर अनुभूति के स्तर वे नहीं होते जो घटित को अनिवार्य मान लेने से हुआ करते हैं। न ही इससे कोई कवि या कलाकार, जो अपने स्वतंत्र अनुभव-जगत में लीन है, देशद्रोही क़रार दिया जा सकता है। कविता या कोई भी कला यदि माध्यम भी है तो उससे बड़े और सशक्त माध्यम दूसरे हैं जिनकी हत्या किये बिना उनका उपयोग किया जा सकता है, जिनमें कवि या कलाकार दूसरे तौर पर योग दे सकते हैं। यह अलग बात है कि कवि या किसी भी कलाकार को आधुनिक विज्ञान, यंत्र, वाहन, कूटनीति, रणनीति, उनके प्रभावस्वरूप ऐतिहासिक परिवर्तन, विघटन, अवमूल्यन आदि का ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि देश और काल

से परे कोई प्रतिभा नहीं होती, वह उसके आधार पर अपने को ऊँचे उठा अवश्य सकती है, यदि वह सके। किंतु खेद है कि हिंदी के कवि—अधिसंख्य कवि—स्वर्णनियंत्रण और उससे उत्पन्न विपन्न परिस्थितियों, सीमावर्ती प्रदेशों के नाम और उनके भूगोल, देश की विफल होती राजनीति और उसके कारणों, हिमालय और बर्फ़ की चौंध से नौजवानों के अंधेपन, मार्गावरोध, सीमा के अपरिचय से उत्पन्न कठिनाइयाँ, कश्मीर और पाकिस्तान आदि सबसे या तो अपरिचित हैं या अपरिचित रहना चाहते हैं। वे जैसे यह भूल गये हैं कि भारत की नागरिकता के स्तर पर (कला से पृथक ही सही) उनके कुछ कर्तव्य हैं या हो सकते हैं।

ऐसी स्थिति में कलाकार और जनता और नेता और सबके लिए युद्ध एक मोहक विशेषण मात्र रह जाता है जिसके नाम पर जो कुछ भी हो सकता है, या हुआ है, चाहे गोष्ठी, चाहे सम्मेलन, चाहे संसद में भाषणमालाएँ, वे सब अव्यय हैं, संज्ञा नहीं। शार्दूलविक्रीडितों के इस देश में सभी कुछ ऊपर से द्रुत है लेकिन अंततः वह विलंबित या निलंबित हो कर रह जाता है। आज के संदर्भ में इस विशेषण से, इस अव्यय से, इस 'विलंबित' से, इस विलंबित से दूरस्थ हो कर, तटस्थ हो कर, अपने ग्रामीण मानस की जड़ें काट कर आगे बढ़ने की आवश्यकता है, अन्यथा देश में जो अनंत पतझर का आतंरिक मौसम है, वह हमारे बाह्य को भी उसी अनंत पतझर में बदल सकता है, और हम और खंडित, और विभाजित हो सकते हैं। क्योंकि हम मर नहीं सकते। इसलिए हम खंडित और विभाजित होने से बच तो सकते हैं।

—१७ महाजनी टोला,
इलाहाबाद।

सहवर्ती साहित्य

•

तेलुगु

तेलुगु भाषा और साहित्य

•

बालशौरि रेड्डी

भारत की चौदह प्रमुख भाषाओं में बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से तेलुगु को द्वितीय स्थान प्राप्त है। सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर तेलुगु बोलने वालों की संख्या ३,६०,००,००० है जो आंध्र प्रदेश १,१०,११० वर्ग मील के क्षेत्रफल में व्याप्त है। यह स्वरांत भाषा है, इसलिए अत्यंत मधुर होती है और पाश्चात्य विद्वानों ने इसे 'पूर्व की इतालवी भाषा' कहा है। तेलुगु में स्वरप्रधान संगीत तथा वर्णप्रधान साहित्य का सुंदर समन्वय हुआ है।

तेलुगु के अन्य पर्यायवाची शब्द 'तेनुगु' तथा 'आंध्र' हैं। 'आंध्र' शब्द पहले जातिपरक रूप में और बाद में चल कर देशपरक तथा भाषापरक रूप में व्यवहृत हुआ। 'आंध्र' शब्द का प्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में हुआ है। दसवीं शती में पूर्व चालुक्यवंशी राजराज नरेंद्र ने अपने दरबारी कवि को दिये गये एक ताम्रपत्र में नारायण भट्ट को 'आंध्रकविताविशारद' कहा है।

'तेलुगु' शब्द की व्युत्पत्ति 'त्रिकलिंग' अथवा 'त्रिलिंग' शब्द से मानी जाती है। डॉ० चिलूकूरि नारायण राव ने तो तेलुगु को दक्षिण प्राकृत से उत्पन्न आर्यभाषा माना है किंतु बिशप काल्डवेल ने समस्त द्राविड़ भाषाओं का सर्वेक्षण कर के उनका 'तुलनात्मक व्याकरण' प्रस्तुत किया और उन्होंने यह सिद्ध किया कि तेलुगु द्राविड़ परिवार की भाषा है। तेलुगु के सुविख्यात विद्वान श्री कोराड रामकृष्ण टपा भी इसी मत के समर्थक हैं।

तेलुगु भाषा दसवीं शताब्दी तक शिलालेखों में उपलब्ध होती है। दसवीं शती से उस-पर संस्कृत का प्रभाव परिलक्षित होता है। संस्कृत के संपर्क से तेलुगु भाषा समृद्ध और परिष्कृत हुई है। तेलुगु द्वारा संस्कृत के आत्मसात किये जाने की प्रक्रिया असाधारण और अद्वितीय है।

तेलुगु वाङ्मय का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ आदि कवि नन्नय भट्ट द्वारा रूपांतरित 'आंध्र महा-भारतम्' है। साथ ही उन्होंने संस्कृत में 'आंध्र शब्द चिंतामणि' नामक तेलुगु व्याकरण भी लिखा। ये अपने असमय निधन के पूर्व आदिपर्व, सभापर्व और वनपर्व के तीन चौथाई अंश को ही पूरा कर पाये थे। बाद में महाकवि तिक्कना ने वनपर्व के शेषांश को छोड़ शेष पंद्रह पर्वों को पूरा किया। इनका 'निर्वचनोत्तर रामायण' भी विशेष प्रसिद्ध है। तिक्कना के सौ वर्ष पश्चात एरी-प्रेगड़ा ने 'हरिवंश' का तथा वनपर्व के शेषांश का रूपांतरण किया। इन कवियों के साथ-साथ अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने अनेक पुराणों को काव्य का रूप दिया। अतः यह युग 'पुराण-युग' नाम से प्रसिद्ध है। कवि नन्नेचोड-कृत 'कुमारसंभव' इस युग का एक सुंदर काव्य है।

परम यशस्वी 'कवि सार्वभौम' श्रीनाथ के आगमन से तेलगु काव्य-भाषा, भाव, अभिव्यक्ति आदि की दृष्टि से प्रौढ़ हुआ और आंध्र प्रदेश के बाहर भी उसका प्रचार हुआ। इन्होंने प्रबंध-काव्य एवं प्रौढ़ काव्यों की नींव डाली। यही कारण है कि तेलुगु साहित्य के इतिहास में इनका युग 'श्रीनाथ-युग' नाम से पुकारा जाता है।

इस युग की एक और महान विभूति बम्मेर पोतना हैं। पोतना ने भागवत का काव्य-रूपां-तर तेलुगु में किया। ये उच्च कोटि के भक्त तथा सरस कवि थे। इनके आराध्य देव श्रीरामचंद्र थे। तेलुगु साहित्य-रूपी गगन-मंडल के भासमान भास्कर यदि तिक्कना हैं तो शीतल एवं मधुर ज्योत्स्ना प्रदान करने वाले सुधाकर पोतना हैं। मडिकि सिंगना का 'वसिष्ठ पुराण', जक्कय कवि-कृत 'विक्रमार्क चरित्र', अनंतामात्य के 'भोज राजीयमु', 'रसाभरणमु' और 'अनंतुनि चंदस्सु', गौरनामंत्री के 'हरिश्चंद्रोपाख्यान' और 'नवनाथ चरित्र', भगुंट नारायण-कृत 'पंचतंत्रमु', वेन्नेलकंति सूरना का 'विष्णुपुराण', नंदि मल्लय्या का 'प्रबोध चंद्रोदय', घंट सिंगय्या का 'वराहपुराण', पिल्ललमर्रि पिनवीरना-कृत 'शृंगार शाकुंतलम्', 'जैमिनी भारतमु', 'नारदीय पुराणमु' और 'अवतार दर्पणमु', दग्गुपल्लि दुग्गय्या के 'नचिकेतोपाख्यान' और 'कांचीपुर माहात्म्यमु' इस युग के अन्य उल्लेखनीय काव्यग्रंथ तथा रीतिग्रंथ हैं।

तेलुगु साहित्य का स्वर्णयुग प्रबंधयुग अथवा रायल युग जाना जाता है। राजा कृष्णदेव राय कवियों के महान आश्रयदाता और स्वयं महाकवि थे। इन्होंने 'आयुक्तमाल्यदा' नामक महाकाव्य का प्रणयन किया। इनके दरबार के 'अष्टदिग्गज' महाकवियों में से 'आंध्र -कविता-पितामह' अल्लसानि पेद्दना ने 'मनुचरित', 'नंदि तिम्मना ने 'पारिजातापहरण', पिंगलि सूरना ने 'कलापूर्णोदय', 'प्रभावती प्रद्युम्न' तथा 'राघवपांडवीयमु' (द्व्यर्थि अथवा श्लेष काव्य), रामराज भूषण ने 'वसुचरित', तेनालि रामकृष्ण ने 'पांडुरंग माहात्म्य', राधामाधव कवि ने 'राधामाधवमु' प्रस्तुत किये। ये सब उच्च कोटि के प्रबंध काव्य हैं। इस युग में मोल्ला नामक कवयित्री ने रामा-यण लिखी। इसके पूर्व गोन बुद्दा रेड्डि ने 'रंगनाथ रामायण' तथा भास्कर आदि ने भास्कर रामायणों की रचना की है। 'रंगनाथ रामायण' तेलुगु का प्रथम रामायण है।

तेलुगु के कबीर वेमन योगी नामक संत इसी युग में हुए हैं। उन्होंने अपनी वाणी द्वारा आंध्र में व्याप्त अंधविश्वासों का बड़ी निर्भीकता के साथ खंडन किया है। इस युग में कन्नड़भाषी कृष्णदेव राय तेलुगु कवियों के महान सम्मानदाता और आश्रयदाता हुए। उनका तेलुगुप्रेम तेलुगु की उनकी इस प्रशस्ति से प्रकट होता है:

"तेलुगु ही क्यों, इस प्रश्न का उत्तर है--यह तेलुगु देश है। मैं तेलुगु सम्राट हूँ, तेलुगु भाषाभाषी हूँ। सभी भाषाओं में वार्तालाप कर के देखियेगा तो खुद पता चलेगा कि देशी भाषाओं में तेलुगु ही सर्वश्रेष्ठ है।"

विजयनगर साम्राज्य के पतन के पश्चात वह महासाम्राज्य अनेक खंडों में विभक्त हो गया। उनके सामंत ही राजा बन बैठे। ऐसे राज्यों में मदुरा, तंजाऊर, पुदुक्कोटा आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अलावा चंद्रगिरि, पेनकोंडा, पिठापुरमु, विजयनगरम (विशाख ज़िला) आदि राजाओं के दरबारों में इस युग में कविता खूब पनपी। इस युग में यक्षगान तथा शतक-साहित्य की प्रधानता रही। राजा रघुनाथ के नायक के दरबार में रामचंद्रावा और मधुर-वाणी नामक कवयित्रियाँ थीं। चेमकूर वेंकट कवि-कृत 'विजय विलासमु' विशेष प्रसिद्ध है। मुद्दुपलनि-कृत 'राधिकास्वांतनमु' एक विशेष रचना-प्रक्रिया से पूर्ण है। इनके अतिरिक्त 'उषा-परिणयमु', 'जैमिनिभारतमु', 'विप्रनारायणचरितमु', 'मन्नारदासविलासमु', 'रघुनाथाभ्युद-युमु', 'सत्यभामास्वांतनमु', 'शांकरविजयमु', 'गोपीनाथरामायणमु', 'अनिरुद्धचरित' तथा रीति-ग्रंथों में 'आंध्रभाषार्णविमु', 'कविजनरंजनमु', 'आंध्रचंद्रालोकमु' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

तेलुगु साहित्य का आधुनिक युग बहुत ही समृद्ध कहा जा सकता है। इस युग में इतने प्रतिभाशाली कवि तथा प्रकांड पंडित हुए हैं कि उनकी नामावली तक देना संभव नहीं है। तिरु-पति वेंकट कविद्वय ने राज दरबारों में पड़ी सिसकने वाली तेलुगु कविता को साधारण जनता के बीच ला खड़ा किया। इनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने तेलुगु काव्य की श्रीवृद्धि में प्रशंसनीय योगदान किया है। श्री वीरेश लिंगम पंतुलु ने गद्य के क्षेत्र में ज़बर्दस्त क्रांति ही उपस्थित कर दी और 'गद्यब्रह्म' नाम से विख्यात हुए। इन्होंने आधुनिक गद्य-वाङमय की प्राय: प्रत्येक नवीन शाखा का श्रीगणेश किया है। श्री गिडुगु राममूर्ति पंतुलु ने व्यावहारिक भाषा (लोकभाषा) का आंदोलन चलाया और साहित्य में भी इसका प्रयोग करना प्रारंभ किया। श्री गुरजाड अप्पाराव ने तथा श्री वीरेश लिंगम पंतुलु ने इस आंदोलन का स्वागत एवं समर्थन किया। आज तेलुगु की अधिकांश पत्र-पत्रिकाएं तथा उपन्यास, कहानी, नाटक आदि इसी भाषा में लिखे जा रहे हैं, किंतु विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में इस भाषा को अभी तक स्थान प्राप्त नहीं हुआ है।

गुरजाड अप्पाराव ने गीत-शैली का शुभारंभ किया। इनकी कविता देशभक्ति से ओत-प्रोत है। आचार्य रायप्रोलु सुब्बाराव ने तेलुगु, आंध्रदेश तथा भारत की स्तुति करते हुए असंख्य राष्ट्रीय कविताएं प्रस्तुत की हैं। अप्पाराव की 'प्रत्याल सरालु', रामप्रोलु की 'तृणकंकणम्', 'स्नेहलता', 'आंध्रावली', 'जड़कुच्चुलु' आदि कृतियाँ विशेष विख्यात हैं।

इस युग के कवियों में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण, देवलपल्लि कृष्ण शास्त्री, जासुवा, तुम्मल सीता राममूर्ति चौधरी, स्वामी शिवशंकर शास्त्री, पिंगलि लक्ष्मीकांतम, दुव्वूरि रामिरेड्डी,

काटूकि वेंकटेश्वर राव, भंडरि सुब्बाराव आदि प्रसिद्ध हैं। रोमांटिक कविता को अत्यंत लोकप्रियता प्राप्त हुई। श्री देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री तथा रायप्रोलु सुब्बाराव की कविता द्वारा तेलुगु साहित्य में श्री दुव्वूरि रामिरेड्डी ने हालावादी कविता को जन्म दिया। 'पानशाला' इसका उत्तम उदाहरण है। इनकी अन्य कृतियों में 'कृषीवलुडु', 'पलितकेशमु' आदि प्रसिद्ध हैं।

हिंदी में छायावाद के विरुद्ध जिस प्रकार प्रगतिवाद का जन्म हुआ है, उसी प्रकार तेलुगु में भावकविता के विरोध में अभ्युदय-कविता का उदय हुआ है।

आधुनिक तेलुगु कविता को नव्य कविता-धारा, अतिवास्तविक काव्य-धारा, तथा अभ्युदय-धारा के नाम से तीन धाराओं में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम धारा के कवियों में शैली में प्रौढ़ता, भाव में नवीनता तथा भाषा में सौंदर्य मिलता है तो द्वितीय धारा के कवियों में पुरातन आदर्श और परंपरा के प्रति अरुचि, पाश्चात्य विचारों के प्रति सहानुभूति, छंद और भाषा के साथ इच्छानुसार खेलना, सौंदर्य की परवाह न कर वीभत्सता और वेतुकेपन काव्य में स्थान देना आदि नये-नये प्रयोग करने की प्रवृत्ति पाते हैं। और तृतीय धारा के कवियों में भूख, पराधीनता और दारिद्रय से विमुखता की माँग, विप्लव, विद्रोह, तोड़-फोड़ तथा विध्वंस का आह्वान, भाषा में तीखेपन, प्रतीकात्मक उपमाओं का प्रयोग आदि पा सकते हैं। इस अभ्युदय-धारा के कवियों के मार्गदर्शक तथा अग्रणी हैं श्रीरंगम श्रीनिवास राव, जो श्री श्री के नाम से आधुनिक तेलुगु कविता-जगत में अपना विशेष स्थान रखते हैं। आरुद्र, अनिसेट्टी, रमण रेड्डी आदि इस मार्ग के अन्य कवि हैं। कला और साहित्य-क्षेत्र के अतिरिक्त राजनीतिक, सामाजिक क्षेत्र में भी क्रांति चाहने वाले इस अभ्युदयवादी की वाणी में जनता में नूतन उत्साह, स्फूर्ति फूंकने के अतिरिक्त जनता को नवीन पंथाओं में नूतन लक्षों की ओर अग्रसर करने की क्षमता है। अब तक इनके 'प्रभव', 'महाप्रस्थानम्', 'मरोप्रपंचमु' (दूसरी दुनिया) नामक तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त कई तेलुगु फ़िल्मों के लिए रचे इनके अनेक गीत सारे आंध्र देश में गूंजते रहते हैं। वादों के बाहर रह कर कविता करने वालों में पुट्टपर्ति, दाशरथी, नारायण रेड्डी, करुणश्री आदि उल्लेख्य हैं।

तेलुगु में गद्य की सभी विधाओं का भी अच्छा विकास हो रहा है। निबंध-लेखकों में श्री नार्ल वेंकटेश्वर राव, उपन्यास तथा कहानी-लेखकों में श्री टी० गोपीचंद्र, कोडवीर गंटि कुटुंबराव, बुच्चिबाबू, जी० बी० कृष्णाराव, बापिराजु विश्वनाथ, नोरि नरसिंह राव आदि असंख्य कथाकार हैं। श्री नार्ल के 'माटा-मंत्री' और 'पिच्चा-पाटी' निबंधों के उत्तम संग्रह हैं। इनके संपादकीय परिचयात्मक एवं ज्ञानवर्धक ही नहीं होते, अपितु स्थायी महत्व रखने वाले होते हैं। नार्ल का एकांकी-संग्रह 'कोत्तगड्डा' तथा काव्य संग्रह 'नार्ल वारिमाट' और 'जगन्नाटकम्' हैं।

मानसिक संघर्षों का कुशल चित्रकार 'हितश्री' ने सैकड़ों कहानियाँ, अनेक एकांकी नाटक तथा कुछ उपन्यास लिखे हैं। इनमें 'मच्चन शंखमु' (कहानी), 'विचित्र जी वुचु' (एकांकी), 'अंतर्वाहिनी' (उपन्यास) आदि बहुचर्चित रचनाएँ हैं। 'चितकबरा शंख', 'मच्चन शंखमु' का अनुवाद है।

—हिंदी प्रचार सभा, मद्रास-१७।

दो कविताएँ

श्री श्री

●

मैंने भी

सृष्टि-यज्ञ में समिधा एक
अर्पित की—मैंने भी।
विश्व-वृष्टि में अश्रु एक
बहा दिया—मैंने भी।
भुवन-घोष में गला फाड़
भाग लिया—मैंने भी।

ग्रीष्म की प्रचंड लू में
जल गया—मैं भी।
वर्षा की घोर बाढ़ में
बह गया—मैं भी।
हेमंत की शीतलता में
सिकुड़ गया—मैं भी।

--- ---

करूँ यदि मैं एक बार विद्रोह,
निश्चय मचेगा सर्वत्र प्रलय।
छिन्न-भिन्न हो जाएँगी अवश्य
विश्व की ये अखंड शक्तियाँ।
न रहेगी लू, न वर्षा,
न सताएगी शीत - लहर,
न कंगाल रहेगा, न धनी,
क्षण में होंगे सब चकनाचूर
छत से गिर कर सारे नक्षत्र
बिखर जाएँगे सर्वत्र।

बरसाएँगे गरम रुधिर
ये श्यामल जलधर।
न होगा दिन, न रात,
न रहेगी कभी प्रात।
करेगी भीषण नर्तन
जग की सुंदर प्रकृति।

--- ---

कामना है विश्व-कमल की
पंखुड़ी बन, रहूँ मैं भी।
विश्व-वीणा की मृदु तंत्री
बन संगीत बरसाऊँ मैं भी।
विश्व-भुवन की पताका
बन ऊँचे उठूँ मैं भी।

एक रात

धूम-सम सर्वत्र व्याप्त, संपूर्ण आकाश में
आच्छादित यह पूर्णमासी ज्योत्स्ना मुझे डराती है।
हाय ! इस आकाश-मरुस्थल में आज रात
सर्वत्र रेत का तूफ़ान मचा है।

वायु में अंतर्निहित हठी भूत - प्रेत
भूमि और गगन के बीच तैर रहे हैं।
यह भूधर मृत हस्ती के समान अचल है, और यह
मुँह-विस्फारित तरंगाकुल समुद्र गरज रहा है।
आकाश-मरुस्थल में यह इंदु
टाँग टूटे अकेले ऊँट सदृश है।
विश्व में आच्छादित यह पूर्णमासी ज्योत्स्ना
मुर्दाघाट की राख के समान मुझे डराती है।

—अनु० : विजय राघव रेड्डी,
केंद्रीय हिंदी संस्थान,
गांधीनगर, आगरा।

कहानी

चितकबरा शंख

हितश्री

सीमेंट की तरह दृढ़ बनी उस रेत पर वल्लभराव क़दम-क़दम चल रहा था। समुद्र का जल बार-बार उसके पैरों को गीला करने का असफल प्रयत्न कर रहा था। 'बीच' (बालू-तट) में ज़्यादा लोग नहीं थे। कहीं-कहीं थोड़े-से लोग बैठे थे। आपस में बातें करते हुए कुछ लोग उसके सामने से गुज़र रहे थे। हवा इतनी तेज़ी से चल रही थी मानों कहीं ज़रूरी काम पर जा रही हो। उस वातावरण में अपने में खोया वल्लभराव टहल रहा था।

सागर की लहरें रह-रह कर रंग-बिरंगे सीपियों को तीर पर डाल रही थीं। अपने में खोये इनका निरीक्षण करते हुए चलने वाले वल्लभराव को एक बड़ी लहर ने घेर लिया। मुस्कराते हुए वह वहीं रुक गया। पाँव के नीचे से रेत खिसकने लगी तो आनंद हुआ। लहर लौटती हुई उसे एक भेंट छोड़ गयी। आह्लाद से उसे हाथ में उठाया। वह एक छोटा, काले-काले धब्बों वाला सफ़ेद चमकीला चितकबरा शंख था।

एक क़दम बढ़ा कर बगल की ओर देखा तो वल्लभराव को एक छोटा लड़का उस शंख की ओर एकटक देखता हुआ दिखायी पड़ा। उससे कुछ दूर पर एक स्त्री, संभवतः उसकी माँ, बैठ कर समुद्र को निरख रही थी। वल्लभराव उस लड़के के पास आया। लड़के ने उसकी ओर आँख उठा कर देखा। उसकी वे प्रकाशमय आँखें उसे अधिक भायीं। उस लड़के की आयु छह साल से अधिक न होगी। बहुत सुंदर लग रहा था। वल्लभराव उत्सुकता से देखने लगा कि वह क्या करेगा। उसने सोचा कि शायद वह उस शंख के लिए अपनी माँ से ज़िद कर बैठेगा। उसने उसकी ज़िद देखनी चाही। लेकिन उसने ऐसा कुछ नहीं किया। उसी तरह वह शंख की ओर, वल्लभराव की ओर देखता ही रह गया। वल्लभराव को दया आयी। उसके हृदय में अनुराग-जैसी भावना जाग्रत हुई। उसने लड़के के हाथ में शंख रख दिया। थोड़ी देर हिचकिचाते हुए उसने वल्लभराव की ओर देखा।

"ले लो, कोई बात नहीं।"

ये बातें सुन कर उस स्त्री ने मुड़ कर वल्लभराव की ओर देखा। लेकिन वल्लभराव ने इस पर ध्यान नहीं दिया। शंख ले कर लड़का उसे इधर-उधर घुमा कर देखने लगा।

"तुम्हारा नाम क्या है, मुन्ने ?"

वल्लभराव की ओर देखते हुए, संभवतः कुछ कहने के उद्देश्य से, उसने अपने होंठ हिलाये। किंतु उसके मुँह से कोई शब्द न निकला। उसपर उसे और दया आने लगी। वल्लभराव ने सोचा, नया आदमी होने के कारण संभवतः वह संकोच कर रहा होगा।

प्यार से पुचकारते हुए फिर पूछा : "कहो बेटा, क्या नाम है तुम्हारा ?"

उसने फिर अपने होंठ हिलाये। मुँह पर कोई अव्यक्त बाधा प्रस्फुटित हुई। आँखों में कोई दीनता दिखायी पड़ी।

"वह बोल नहीं सकता,"—उस स्त्री के असीम वेदना-भरे स्वर ने अब तक मृदु मधुर संगीत झंकृत करने वाली उसकी हृदय-तंत्रियों को हठात झकझोर दिया। पहली बार उसने उसकी ओर अपलक देखा। वह अचेतन-सी मूर्तिमान निराशा सिर झुकाये निस्पृह-सी बैठी दिखायी पड़ी। उसे यह जानने में देरी नहीं हुई कि उसके मन में तूफ़ान मचा हुआ है। उसकी ओर करुणा से देखा। उसे यह बात भी ज्ञात हुई कि वह विधवा है। उसका दिल पसीज गया। उसे एक बात और मालूम हुई कि उसकी पहनी हुई सफ़ेद साड़ी पर कई पेबंद लगी हुई हैं। उसका हृदय फट गया। हाय ! इस सुहाने वातावरण के आनंद से उसका कोई संबंध नहीं है। वल्लभराव ने उसाँस ली। एक बार पुनः उस छोटे लड़के की ओर देखा। उफ़, बेचारा गूँगा !

उसका हृदय करुणा से द्रवित होने लगा। उन दोनों अभागों की तरफ़ संवेदना से, दीनता से देखता रह गया। वहाँ से चले जाने की उसे इच्छा नहीं हुई। उसी प्रकार एक के बाद एक कई मिनट बीत गये।

"कोई देखेगा तो अच्छा नहीं रहेगा,"—उस स्त्री की सजगता से वह जाग्रत हुआ। वह लज्जित हुआ। उसे वहाँ से कभी चले जाना चाहिए था। लेकिन....

उस लड़के की ओर फिर एक बार दीनता से देख कर वहाँ से धीरे-धीरे चलने लगा।

उसके मन में विचारों का तूफ़ान मच गया। इतने संदर लड़के में यह कमी क्यों? उसे वे संदर आँखें याद आयीं। हाय! उस भोले लड़के की भावनाएँ अंदर ही अंदर दब जायेंगी! अपनी भावनाओं, विचारों को बातों में व्यक्त नहीं कर सकेगा, मन ही मन उन्हें दबाना पड़ेगा। वल्लभ-राव के मन में विषाद छा गया। किसी बड़े अस्पताल में इलाज कराया जाये तो शायद फ़ायदा हो सकता है। पता नहीं, पहले कभी इलाज कराया कि नहीं। इलाज कराने के लिए उस बेचारे के पास पैसा कहाँ से आया होगा? देखते ही उसकी दयनीय स्थिति ज्ञात हो जाती है। तो फिर क्या किया जाये? यदि मैं कोई सहायता करूँ? लेकिन कौन-सी सहायता? हुँ! दूसरों की सहायता करने का सामर्थ्य कहाँ है मुझमें? न कोई धनवान हूँ, और न कोई नामी आदमी हूँ। एक असहाय सर्वसाधारण मानव मात्र हूँ। लेकिन. . . .लेकिन कुछ न कुछ सहायता करनी ही है।

वल्लभराव का हौसला टूट गया। वह सोचते-सोचते काफ़ी दूर चला गया। अँधेरा हुआ। अभी-अभी चाँदनी निकल रही थी। उन्हीं विचारों में लीन वह फिर वापस लौट चला।

चलते-चलते वल्लभराव को चाँदनी में कोई वस्तु चमकती हुई दिखायी पड़ी। वह वही चितकबरा शंख मालूम पड़ रहा था। उसे उठा लिया, देखा तो निस्संदेह वह वही पहले वाला शंख था। अरे! यह यहाँ कैसे? क्या इसे भूल गये? उसने आगे नज़र दौड़ायी तो थोड़ी दूर पर उसे दिखायी पड़े—सफ़ेद साड़ी पहने हुए धीरे-धीरे चलती हुई वह स्त्री, और बग़ल में वह लड़का। हाँ! वे ही दोनों हैं। तो इस शंख को क्यों छोड़ गये? क्या इसे खो दिया? लेकिन यह तो कोई इतनी छोटी चीज़ नहीं है जो कि दिखायी नहीं देती हो। जान-बूझकर वह इसे छोड़ गयी होगी। लेकिन क्यों? शायद वह उसे लेना नहीं चाहती होगी। इसके बाद तुरंत उसे उसकी बात याद आयी: "कोई देखेगा तो अच्छा नहीं रहेगा।"

अब तक उसने इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया था। उसने यह बात क्यों कही थी? कोई देखेगा तो क्या होगा? उसको इस प्रकार क्यों सोचना चाहिए था? क्या उसने मुझे ग़लत तो नहीं समझा? यदि उसे संदेह नहीं हुआ होता, तो वह इस प्रकार नहीं कहती। हाँ, उसने मुझे ग़लत समझ लिया है।

एक आदमी दूसरे आदमी के संबंध में इतनी जल्दी क्यों ग़लत धारणा बना बैठता है? क्यों दूसरे से इस प्रकार का व्यवहार कर बैठता है?

क्षण भर उसके मन में भी उस स्त्री के प्रति हेय भावना उत्पन्न हुई। लगा, शायद वह स्वयं भी उस पर अनावश्यक संदेह कर रहा है। दूसरे क्षण उसे लगा कि उस स्त्री का जो व्यवहार उसे बुरा लगा था, स्वयं वह वही करने जा रहा है।

फिर उसने स्वयं अपना समाधान कर लिया। मन ही मन वह लड़का शंख चाह रहा था। इसलिए मैंने शंख दे दिया था। यदि उस स्त्री ने इस तरह का बरताव न किया होता तो संभवतः मैंने कोई सहायता भी की होती। लेकिन इस प्रकार के व्यक्तियों की सहायता करने चले तो नतीजा क्या होगा—बेगार के सिवा कुछ नहीं। दूसरे के प्रत्येक काम को दूसरे दृष्टिकोण से देख कर अन्यथा समझा जाने लगे तो कोई क्या कर सकेगा? मेरी कोई सहायता वह नहीं चाहती है तो अच्छी बात है।

उस समय वल्लभराव को ईषत क्रोध भी हुआ। कुछ परेशानी भी हुई। उस शंख ने आज उसका दिमाग़ ख़राब कर दिया। छिह, सुंदर लगने से हाथ में ले लिया, तो इसका यह परिणाम निकला है। आवेश में आ कर उसे ज़ोर से समुद्र में फेंक मारा। अब सिर पर से बोझ उतर गया-सा महसूस किया। जिस तरफ़ उसे फेंका उसी तरफ़ मुंह किये खड़े हो कर समुद्र को देखता रह गया। उस कमनीय कौमुदी में सागर किलोल कर रहा था।

लेकिन वह बहुत देर तक उस आनंद का आस्वादन नहीं कर सका। वह लड़का और वह स्त्री पुनः उसके स्मृति-पटल पर घूमने लगे। 'उसे यह ज्ञात कराना होगा कि मेरे मन में कोई बुरी भावना नहीं है। उसे वस्तुस्थिति से अवगत कराना होगा जिससे कि वह पछताये।' तुरंत वह आगे बढ़ा। उन दोनों को पार कर लिया, बिना कुछ कहे। 'क्या वह पीछे आ रही है? वह क्या कर रही होगी?' वल्लभराव ने जानना चाहा। कनखियों से देखा तो वह दिखायी नहीं पड़ी। मुड़ कर भली भाँति देखा; वह उसके पीछे नहीं आ रही थी। उसे आश्चर्य हुआ। वह वापस लौट रही है। अरे, वह कुछ ढूंढती-सी मालूम पड़ रही है! शंख तो नहीं ढूंढ रही है? अरे, ऐसा ही लग रहा है। तो क्या वह वास्तव में उसे भूल गयी थी? क्या मुझको देखने के बाद ही उसे उसकी याद आयी होगी?

वल्लभराव को तरस आया। स्वयं शंख के बारे में जानते हुए भी उसके लिए उस स्त्री को परेशान कराना उसे अच्छा न लगा। वह उसके पास जल्दी में चला गया।

"क्या ढूंढ रही हैं?"

वह चौंक पड़ी। उस चाँदनी में उसके मुँह पर छाया विस्मय उसे स्पष्ट दिखायी पड़ा। उसके जवाब की प्रतीक्षा किये बिना उसने पुनः पूछा : "शंख के वास्ते?"

क्षण भर वह चुप रही। किंतु सत्वर अपने को सम्हाल कर उसने निस्संकोच जवाब दिया : "नहीं।"

"तो फिर किसे ढूंढ रही हैं?"

उसने कोई जवाब नहीं दिया। उसके हिचकिचाहट को देख वल्लभराव ने अनुभव किया कि पुनः उसका वहाँ आ जाना तथा उससे प्रश्न करना ठीक नहीं हुआ।

"क्या कोई चीज़ खो गयी?"—न चाहने पर भी उसके मुंह से ये शब्द निकल गये।

उसने सकारात्मक सिर हिलाया।

"क्या चीज़?"

वह संदेह में पड़ गयी। अब वल्लभराव पूर्णतया समझ गया कि वह अपने से कुछ छिपा रही है और वह भी जान-बूझ कर। कुछ क्षण ऐसे ही बीत गये। लड़के को संग ले कर चलने लगी। वल्लभराव को उसका व्यवहार बुरा लगा। उसे गुस्सा भी आया। उसकी समझ में नहीं आया कि लोग इस तरह की छोटी-सी बातों को ले कर इस प्रकार के अनुचित व्यवहार क्यों करते हैं?

"सुनिए, यदि वास्तव में आप शंख को ही ढूंढ रही हैं तो मुझे दुख के साथ कहना पड़ रहा है कि उसे मैंने समुद्र में फेंक दिया।"—निर्लिप्त हो कर उसने कहा।

उसके मुंह से कोई बात न निकली। उसी तरह वह चली जा रही थी। उसे इस प्रकार

अनसुनी करते देख वल्लभराव को अचरज हुआ। अरे, मुँह खोले तो क्या फूल झड़ेंगे? वह भी चुपचाप लौट जाना ही चाहा था, लेकिन हठात उसके मन में यह विचार आया कि उससे जवाब ले कर ही छोड़ूंगा।

"मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि आप ऐसी निर्ममता क्यों दिखा रही हैं?"—वह रुक गयी, हीन स्वर से जवाब दिया : "क्या किया मैंने?"

"पहले कहा था कि शंख नहीं ढूंढ़ रही हैं। लेकिन जब मैंने कहा कि मैंने उसे फेंक दिया तो फिर चुपचाप चल दी हैं। आप मुझसे असली बात क्यों छिपा रही हैं? अच्छा होता यदि आपकी समझ में यह बात आ जाती कि मेरे मन में कोई दुरुद्देश्य नहीं है।"

वह इस अप्रत्याशित प्रश्न के जवाब देने की स्थिति में नहीं थी। उसने सोचा नहीं था कि वह डंके की चोट पर बात करेगा। वह मौन ही खड़ी रह गयी।

"जवाब दे सकती हों तो दें। जवाब नहीं देना चाहती हों तो चली जाइये। फिर भी, जवाब के लिए अहर्निश माथापच्ची करने वाले प्राणी को मन की बात कह देंगी तो राहत मिलेगी। जीवन में फिर कभी इस प्रकार की समस्याएँ न आने देने का प्रयास कर लूंगा।"

उसने उसाँस ली : "ग़लती की है मैंने। मुझे पता नहीं था कि फिर आप लौट के आयेंगे।" इतना कह कर वह चुप रह गयी।

"तो जान-बूझ कर आपने शंख त्याग दिया?"

"हाँ!"

"क्यों?"

"सोचा नहीं था कि मुझे इस प्रश्न का जवाब देना पड़ेगा। यह सोचा होता तो मैंने ऐसा नहीं किया होता। लेकिन आप ज़िद कर रहे हैं, अतः कहना पड़ रहा है—आपके वास्ते ही मैंने ऐसा किया था।"

वल्लभराव चकित हो गये। उसे अप्रत्याशित परिणाम का सामना करना पड़ रहा है।

"मेरे वास्ते?"

"हाँ। जब आपको ज्ञात हुआ कि मेरा मुन्ना बोल नहीं सकता, तो आपको क्लेश हुआ; पहले ही यह मैं जान गयी। इस क्लेश को मेरे अलावा और कौन अधिक पहचान सकता है? यह क्लेश आपके मन में सदा काँटे की भाँति चुभता रहेगा। उस समय आपको जिस किसी ने देखा होता, वही इस बात को समझ सकता था। आपसे पहले भी कई लोगों को इस बात का दुख हुआ था कि मेरा मुन्ना बोल नहीं सकता है। मगर उनके मन में यह दुख बहुत दिनों तक नहीं रह सका। लेकिन आपको असीम दुख हुआ है। आपके प्रशांत मन को अचानक गहरी चोट लगी है। उस वक्त आप कुछ भी बोल न सके। किंकर्तव्यविमूढ़ हो कर अपने आपको भूल गये। मुझे विश्वास हो गया कि आप आगे भी इस मानसिक क्लेश से अधिक पीड़ित होंगे। मैं कर भी क्या सकती थी? अतः मैंने तभी आपको सजग कर दिया था....कुछ बातों में मानव पूर्णतया असहाय होता है। बहुत देर तक सोचती रह गयी थी। मेरे मन ने चाहा था कि यदि आप लौट

आयेंगे तो अच्छा रहेगा। वैसे ही आप लौट भी रहे थे; दूर से मैंने देखा था। शंख को वहाँ छोड़ कर चली गयी।"

वह रुक गयी। वल्लभराव के मन का सारा काठिन्य पिघल गया। वह आशा कर रहा था कि वह आगे की बात कहेगी। कुछ देर प्रतीक्षा की। फिर विवश हो कर उसने स्वयं सिलसिला जारी किया : "क्यों ?"

"इसलिए कि शंख को वहाँ पड़ा देख आप इनमें से कोई एक काम करते, उसे मेरे हाथ सौंप जाते, या उसे जहाँ का तहाँ छोड़ जाते या समुद्र में फेंक देते। मैं समझती थी कि यदि अंतिम काम करते तो मेरा प्रयत्न सफल होता।"

वल्लभराव स्तब्ध रह गया। उसके प्रति उसके मन में अपार गौरव उत्पन्न हुआ। उस स्त्री ने जो चाहा था, ठीक वही किया उसने। किंतु उसे संदेह हुआ। "लेकिन मेरे ऐसा करने से आपको क्या लाभ हुआ ?"

"मैं जानती थी, आप जब तक मुन्ने की कोई सहायता नहीं कर लेंगे, तब तक आपके मन में शांति नहीं होगी। लेकिन आप सहायता कर भी क्या सकते थे ? वह आपके सामर्थ्य के बाहर की बात है। केवल व्याकुल रह जाने की अपेक्षा आपसे कुछ बनने का नहीं। व्याकुलता से बचने के लिए कोई छोटा-सा साधन मिल जाये तो व्याकुल-चित्त उसका उपयोग कर लेता है।"

वल्लभराव को अब सब ज्ञात हो गया। वह और कुछ कहना चाह रही थी। लेकिन लज्जा के मारे सिर नीचा किये वल्लभराव ने कहा : "बस ! सारी बात मालूम हो गयी।"

आगे न उसने कुछ कहा, और न इसने। कुछ नीरव क्षण बीत गये। वे दोनों जान गये कि एक दूसरे के दिल पर क्या बीत रहा है।

क्रमशः चारों ओर शुभ्र ज्योत्स्ना फैल गयी। उस स्त्री ने बिदा ली। वल्लभराव वहीं खड़े भारी हृदय से कहीं दूर में विलीन होती हुई उन दोनों आकृतियों को देखता रह गया।

लड़के के साथ वह स्त्री ओझल हो गयी। वल्लभराव ने समुद्र की ओर दृष्टि फेरी तो शुभ्र ज्योत्स्ना में सागर उमड़ रहा था। एक उत्तुंग लहर. . . .पास में वह अतुलनीय चितकबरा शंख सफ़ेद चाँदनी में चमका। वह समुद्र की तरफ़ दो क़दम बढ़ा, फिर रुक गया। लहर के साथ क्रमशः वह शंख भी सागर में लुढ़क गया।

—अनु० : विजय राघव रेड्डी

कवियों का डंका

नार्ल वेंकटेश्वर राव

"जब मैं अपनी प्रशंसा आप कर सकता हूँ तो वह कार्य में दूसरों को क्यों सौंपूं?"— जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक बार स्पष्टता के साथ कहा था। और जी भर कर उन्होंने अपनी प्रशंसा आप की भी है। प्रत्येक प्रसिद्ध कवि ने शॉ की भाँति स्पष्टता के साथ घोषणा कर के अपनी स्तुति आप भले ही न की हो लेकिन अपना डंका आप अवश्य बजाया है। तेलुगु के आदिकवि नन्नय भट्ट को ही लीजिए। उन्होंने **'अविरल जप-होम-तत्पर'**, **'विपुल-शब्द-शासक'**, **'संहिताभ्यासी'** **'ब्रह्मांडादिनानापुराणविज्ञाननिरत'**, **'सद्विनुतअवदातचरित'**, **'लोकज्ञ'**, **'उभयभाषा-काव्य-रचनाभिशोभित'**, **'सत्प्रतिभाभियोग्य'**, **'नित्यसत्यवचन'** इत्यादि कितनी उपाधियाँ अपने आपको दी हैं! कवि श्रीनाथ की बात क्या कही जाय! उन्होंने बड़े दर्प के साथ उद्घोष किया है: **'दीनार टंकाल तीर्थ मांडिचिति दक्षिणाधीश मुत्याल शाला'** (अर्थात् दक्षिण देश के सम्राट की मौक्तिक शाल में मैंने स्वर्णाभिषेक पाया); **'पगुल गोट्टिचिति उद्‌भट विवाद प्रौढ़ि गौड़ डिंडिम भट्ट कंचु ढक्क'** (अर्थात् गौड़डिंडिम भट्ट के साथ घोर शास्त्रार्थ कर के उनको पराजित किया तथा उनके कांसे के ढक्के को फोड़वा दिया जो कि उनके विजेता होने का चिह्न था)। **'चंद्रभूप-क्रिया-शक्ति रायल योद्ध बाडु को लिपति सार्वभौम बिरुत'** (अर्थात चंद्र-भूप-क्रिया-शक्ति उपाधिधारी विजयनगर के सम्राट प्रौढ़देवराय के दरवार में कवि सौर्वभाम नामक बिरुद प्राप्त किया)। इस प्रकार श्रीनाथ ने अपनी प्रशंसा की डंका आप ही बजायी है। इतना ही क्यों, अपने आश्रयदाता राजा कृष्णदेव राय से महाकवि पेछनामात्य ने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ प्रश्न किया था: **"पेछन बोलु-पंडितुलु पृथ्विनि लेरनि नी वेरंगुवे।"** (अर्थात् क्या आप नहीं जानते कि पेछना जैसे कवि इस पृथ्वी भर में और कहीं नहीं है?)

अब, छोटे कवियों की बात कहने की आवश्यकता नहीं है। बड़े कवियों ने अपनी प्रशंसा का डंका बजाया तो छोटों ने डमरू। बड़े कवियों से अधिक छोटे कवि अपनी प्रशंसा अकारण ही नहीं करते। वास्तव में महाकवि—कीट्स-जैसे थोड़े से कवियों को अपवाद मान लिया जाय तो—अपने जीवन-काल में ही यश प्राप्त कर जाते हैं। अत: उन्हें अपनी महानता की घोषणा करने की आवश्यकता नहीं होती। यदि वे अपनी स्तुति प्रारंभ भी कर दें तो प्रारंभ में कुछ समय तक ही। उसके बाद भी यदि वे अपनी प्रशंसा आप करते हैं तो वे अपने बड़प्पन अथवा महत्व को जताने

के लिए नहीं। अपनी बल-सपन्नता से परिचित वनराज के लिए जब-तब अपने अयाल को झाड़ना, पंजों से पृथ्वी को रगड़ना, दिशाओं को गुंजाते हुए गर्जन करना जैसे सहज है, वैसे ही इन कवि-सिंहों के लिए अपने उत्कर्ष का परिचय देना स्वाभाविक है। किंतु जो 'कवि-सिंह' नहीं, साधारण श्रेणी के कवि हैं, वे यदि अपनी आत्मस्तुति करें तो वह हास्यापद सिद्ध होगा; यह बात हम कहें भी तो उन कवियों के दिमाग़ में नहीं घुसती। महाकवि की श्रेणी से निचले तबक़े के कवियों को संसार और समाज से कभी निरादर मिलता है तो कभी उपेक्षा मिलती है। इस अनादर और उपेक्षा को देख वे समझ बैठते हैं कि यह जगत तो अंधा है, इसीलिए उनकी प्रतिभा को पहचान नहीं पाया है। यह भी निश्चय कर बैठते हैं कि उनके सहधर्मी कवियों की ईर्ष्या और द्वेष के कारण ही उनको यश प्राप्त नहीं हो रहा है। यहीं से वे अपने बड़प्पन का ढिंढोरा पीटना शुरू कर देते हैं। इससे कोई प्रत्यक्ष लाभ न होते देख और ज़ोर-शोर से गला फाड़-फाड़ कर प्रचार प्रारंभ करते हैं।

महाकवि यदि आत्मस्तुति भी करता है तो उसमें हमें झूठा अभिमान नहीं बल्कि उनके आत्मविश्वास का परिचय मिलता है। लैटिन भाषा के महाकवि होरेस ने अपने बृहत काव्य-सौध की चर्चा करते हुए घोषित किया है: **"धातुओं से यह मज़बूत है। राजाधिराजाओं की समाधियों से यह महोत्कृष्ट है। मूसलाधार वर्षा भी इसे गला नहीं सकती। भयंकर तूफ़ान भी इसे उजाड़ नहीं सकते। काल-प्रवाह के धक्कों से भी यह विचलित न होगा।"** ऐसा ही प्रबल आत्मविश्वास शेक्सपियर में भी दिखायी देता है। उन्होंने अपने सॉनेट्स में मुक्तकंठ से उद्घोष किया है: **"कोई चंद्रकांता (संगमर्मर) शिला-फलक अथवा किसी सम्राट का स्मारक-भवन इस काव्य से अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता।"** एक और अंग्रेज़ी कवि वर्ड्स्वर्थ ने अपनी अमरता के प्रति जो आत्मविश्वास अभिव्यक्त किया है वह इससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने कहा है कि मेरे अन्य काव्य कालगर्भ में भले ही विलीन हो जायँ, किंतु **"इस आले में एक गौरैया ने घोंसला बनाया है; इसपर मैंने एक कविता लिखी है। यह शाश्वत हो रहेगी।"**

अपने जीवन-काल में यश प्राप्त न कर सकने वाले महाकवि भी अपनी अमरता के प्रति कभी निराश नहीं हुए। **"मेरा नाम जल पर लिखी गयी लिपि होने वाला है,"**—कह कर दुखी होने वाले कीट्स ने भी थोड़े समय के पश्चात यह आशा व्यक्त की है: **"अन्य अंग्रेज़ी कवियों की पंक्ति में मेरा भी नाम जुड़ सकता है।"** आज अन्य अंग्रेज़ी कवियों की क़तार में ही क्या, स्वयं शेक्सपियर के पार्श्व में ही जगत ने उनका आसन लगाया है।

जॉन कीट्स अपने कुछ क्षणों में यह शंका करते थे कि इस पृथ्वी में उनका नाम तक नहीं रहेगा तो रॉबर्ट बर्न इस बात के लिए ज़्यादा चिंतित मालूम होते थे कि उनको जो ख्याति प्राप्त होनी चाहिए वह वास्तव में प्राप्त नहीं हुई है। संभवतः इसीलिए अपनी पत्नी को पत्र लिखते हुए उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है: **"मेरी मृत्यु के सौ वर्ष पश्चात यह जगत मेरा आज की अपेक्षा अधिक आदर करेगा।"** वे महाकवि थे, इसलिए उनका कथन 'मेरी मृत्यु के सौ वर्ष पश्चात' अक्षरशः सत्य सावित हुआ है। अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य से अधिक ख्याति की आशा रखने वाला प्रत्येक कवि साधारणतः उपयुक्त वाक्य का उद्धरण अवश्य करता रहता है।

कतिपय महाकवि अपने आधिक्य को गुप्त रूप से भी व्यक्त करते हैं। कविकुलगुरु कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की नांदी-प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा कहलाया है : **"प्रत्येक प्राचीन वस्तु अथवा रचना प्रशस्त ही हो, यह आवश्यक नहीं; प्रत्येक आधुनिक वस्तु निंद्य हो हो, ऐसी बात भी नहीं। चाहे प्राचीन हो अथवा आधुनिक, बुद्धिमान लोग सार वस्तु की सराहना करते हैं। मूर्ख व्यक्ति ही अन्य लोगों के विचार जान कर उसकी प्रशंसा करते हैं।"** प्रारंभ में प्रश्न कराया : **"भास, सौमिल्ल, कविपुत्रादि महाकवियों के नाटकों के होते ये कालिदास कौन हैं?"** उसका कालिदास ने जो उत्तर दिलाया उससे यही ध्वनित होता है कि उनसे प्राचीन कवि चाहे जैसे भी महाकवि हों, वे उससे कम नहीं हैं।

ख्याति केवल कविता द्वारा ही नहीं होती अपितु राज्य-शासन, सैनिक-विजय, वैज्ञानिक अनुसंधान इत्यादि भी कीर्ति के मार्ग हैं। परंतु कविता द्वारा प्राप्त होने वाली ख्याति अधिक शाश्वत होती है :

जयंति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

इस कथन के अनुसार सुकवि लोग सुकृतात्मा हैं, रससिद्ध एवं विजयनिधि हैं। उनके यश-रूपी शरीर जरा-मरण तथा जन्म-भय से मुक्त हैं। साथ ही काव्य-क्षेत्र में साधित यश की व्याप्ति अन्य क्षेत्रों में अर्जित कीर्ति में नहीं होगी। वाल्मीकि तथा वेदव्यास अपने क्षेत्र में जैसे प्रसिद्ध हैं, चरक और भास्कराचार्य भी अपने अपने क्षेत्रों में उतने ही विख्यात हैं। तो भी, उन महाकवियों के साथ भारतवासियों का जो परिचय है, उनका शतांश भी इन आयुर्वेदाचार्य तथा गणितशास्त्री के साथ नहीं। आंध्रवासी कविसार्वभौम श्रीनाथ के संबंध में हम जो जानकारी रखते हैं वह क्या उस युग के अन्य प्रसिद्ध पुरुषों के संबंध में भी है? कविसार्वभौम ने वीरा रेड्डी, विस्सन्नमंत्री, भास्कर इत्यादि के नामों का उल्लेख किया है, इसीलिए आंध्रवासी उनका परिचय रखते हैं। इन छोटे व्यक्तियों की क्या, बड़ों की बात ही लीजिए। अयोध्या के श्रीरामचंद्र का चरित आदिकवि वाल्मीकि के काव्य की वस्तु न होता तो वे अन्य इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के साथ एक नरेश के रूप में ही स्मरण किये जाते और आज की भाँति घर-घर, द्वार-द्वार, गाँव-गाँव में पूजा-अर्चना प्राप्त न करते।

प्रत्येक नरेश यह सत्य भली भाँति जानता है कि कवि की वाणी की तरह उसकी कीर्ति स्थायी न होगी। यही कारण है कि उन लोगों ने विजयस्तंभ खड़ा कराने, शिलालेख खुदवाने, मंदिर एवं गोपुरों का निर्माण कराने, मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराने तथा नगर बसाने मात्र से संतुष्ट न हो कर कवियों को भी आश्रय दिया है, उनकी कृतियों का समर्पण पाया है, ऐसी सावधानी बरतने के कारण ही आज भी हम भोज, राजराज नरेंद्र, मनुमसिद्धि, कृष्णदेवराय आदि का स्मरण करते हैं, वरना उनका अस्तित्व ही मालूम न होता। यह कहना गलत है कि 'भोज जैसे राजा उत्पन्न हों तो कालिदास जैसा कवि पैदा होगा' बल्कि यों कहना चाहिए कि 'कालिदास पैदा हों तो भोज होंगे ही।'

कवि की कृपा प्राप्त करने पर सम्राट ही नहीं, साधारण व्यक्ति भी अमरता प्राप्त कर सकता है। विश्व के इतिहास में ऐसे हजारों लाखों उदाहरण पाये जा सकते हैं। इनमें पैथियास से संबंधित गाथा अत्यंत महत्वपूर्ण है। पैथियास ईजिना (यूनान) के निवासी थे। ये इस्थमियन खेल-प्रतियोगिता में विश्वविजेता हुए और अपनी प्रशंसा करते हुए एक पद्य लिखने के लिए कितना मूल्य चुकाना होगा, यह जानने अपने गाँव के कवि पिंडार के पास पहुँचे। पिंडार ने अपने एक पद्य का मूल्य क़रीब तीन हज़ार रुपये बताया। यह सुन कर पैथियास ने कहा: **"ओह! इतना ज्यादा। इतने रुपयों में तो मैं अपनी काँसे की मूर्ति गढ़वा सकता हूँ।"** पिंडार ने मंद हास करते हुए लापरवाही से जबाव दिया था: **"हो सकता है।"** पैथियास घर लौटे। पद्य के मूल्य के संबंध में भली भाँति विचार करने के पश्चात निर्णय किया कि उतना मूल्य चुका कर एक पद्य लिखवा लेना अच्छा होगा। आज ईजिना में काँसे की मूर्तियाँ शेष नहीं हैं। इतना ही क्यों, ईजिना भी शेष नहीं है। परंतु पैथियास के बाहुबल की प्रशंसा करते पिंडार का लिखा हुआ पद्य उसी रूप में विद्यमान है।

लेकिन पैथियास की भाँति तीन-चार हज़ार रुपये खर्च कर के शाश्वत रूप से यश प्राप्त करना चाहेंगे तो वह व्यर्थ का प्रयत्न ही साबित होगा। शाश्वत यश की मद में तीन चार हज़ार खर्च करना कोई बड़ी बात नहीं हो सकती, किंतु पिंडार-जैसे कवि सुलभ हों, तब न कार्य संपन्न होगा। कविता द्वारा प्रशंसा चाहें तो कवियों की सेवा में जाने की आवश्यकता नहीं, पाँच-दस रुपये हाथ में धर दें तो चारण और भाट असंख्य पद्यों की वर्षा ही कर देंगे। थोड़ा और खर्च करने को तैयार हों तो पंचरत्न, अष्ट तथा नक्षत्रमालाएं समर्पित करने वाले बालकवि, प्रौढ़-कवि, सरसकवि, सहजकवि, मधुरकवि, बंधकवि, विकटकवि, आशुकवि, कविद्वय (जुड़वाँ कवि), अष्टावधानी, शतावधानी, कविहंस, कविकोकिल, कविसिंह कविशार्दूल, कविमत्तेभ, कविराज, कविसार्वभौम आदि दर्जनों हैं। कुछ और उदारता दिखा सकें तो कृति-समर्पण ही प्राप्त कर सकते हैं। परंतु इनके द्वारा प्राप्त यश पानी के बुलबुलों की भाँति दूसरे क्षण ही, लुप्त हो जायेगा।

कविता द्वारा प्राप्त यश जितना स्थायी होता है, राजनीति द्वारा प्राप्त यश उतना ही अस्थायी होता है। राजनीतिक ओहदों पर रहने वाले लोग जहाँ भी जायँ, स्वागत, सम्मान, पुष्प-मालाएं, भोज, लोगों की भीड़ प्रत्यक्ष होगी। राजनीतिक नेताओं को अपने घर पर ठहराने में लोग होड़ लगाते हैं। जिनके घर में ये नेता महाशय पहुंचते हैं, वे लोग अपने गृह को पवित्र तथा अपने को धन्य मानते हैं। नेता अपने स्थान से निकले नहीं कि उसका समाचार अखबारों में छप गया। जुकाम हुआ, बस समाचारपत्रों में इसकी खबर छप गयी। लेकिन उस पद से हटते ही उनका स्मरण करने वाला ढूंढने पर भी दिखायी न देगा। कुछ लोग इस के अपवाद ज़रूर हैं। लेकिन वे भी ज़्यादा से ज़्यादा एक-दो पीढ़ी तक ही याद किये जाते हैं। फ़ॉक्स, पिट्, वालपोल, ग्लैडस्टन—ये चारों अपने जीवन-काल में इंग्लैंड के राजनीतिक क्षेत्र के अद्वितीय राजनेता थे, फिर भी इनके संबंध में आज के ब्रिटिशवासी कैसी जानकारी रखते हैं? ए० जी० गार्डिनर ने एक स्थान पर लिखा है: **"भविष्य में ग्लैडस्टन का मतलब उसी नाम से व्यवहृत होने वाले एक**

हथयैले का प्रथम निर्माण कर के बेचने वाले के रूप में मान लेने का डर है।" यह अत्युक्ति नहीं होगी।

कवि की वाणी ज़बर्दस्त ही नहीं बल्कि अमोघ होती है। इससे भी बढ़ कर यह कहा जाता है कि कवि में शाप देने तथा उसका उपसंहार करने अर्थात उसे वापस लेने की क्षमता भी होती है। इस सीढ़ी तक कतिपय कवि पहुंच भी गये हैं। कवियों द्वारा दिये गये शापों से संबंधित अनेक कथाएं प्रचलित हैं। भीम कवि के जीवन की घटनाएँ इसका उदाहरण हैं।

एक बार भीम कवि आश्रय पाने के निमित्त राजा कलिंग गंग के दरबार में गये। राजा किसी राजनीतिक कार्य में निमग्न थे। अतः कवि का तिरस्कार करते हुए जवाब दिया था : "अभी नहीं, फिर कभी आना।" यह सुन कर भीम कवि साक्षात कालरुद्र बन बैठे। उनके मुँह से यह शाप ही निकल गया :

वेमुलवाड भीमकवि
वेगमे चूचि कलिंग गंगु ता
सामम्‌ु मानि कोपमुन
संदडि दीरिन रम्मु पोम्मनेन्
मोमुनु जूड दोषमिक
मुप्पदिरेंडु दिनंबु लावलन्
जामुन कर्यमंदतनि
संपद शत्रुलपालु गावतन्

(अर्थात, तेलुगु के प्रख्यात कवि श्री वेमुलवाड भीम कवि को राजा कलिंग गंग ने देखते ही आदर के साथ स्वागत न किया, बल्कि क्रुद्ध हो आदेश दिया कि इस समय हम कार्यव्यस्त हैं, अभी जाओ, फिर कभी आ जाना। इसपर कुपित हो कवि ने राजा का मुँह देखना भी दोष-पूर्ण समझ कर शाप दे दिया : आज से बत्तीस दिनों के भीतर उसका राज्य शत्रुओं के अधीन हो जायेगा।)

यह शाप व्यर्थ नहीं गया। राजा कलिंग गंग दरिद्र हो अपना वेश बदल कर भटकता रहा और मधुकरी कर के अपना उदर-पोषण करने लगा। एक दिन की अँधेरी रात में आँख न दीखने पर औंधे मुंह एक गड्ढे में गिर पड़ा और विलाप करने लगा : "हाय मशाल तक प्राप्त नहीं है। मेरा जीवन भी कैसा निकृष्ट है!" ठीक उसी समय फूलों की पालकी पर आरूढ़ हो आँखों को चौंधियाने वाले मशालों की रोशनी में उस मार्ग में यात्रा करने वाले भीम कवि ने डाँटते स्वर में पूछा : "रे, कौन है तू?" उस भिखारी ने जवाब दिया था : "भीमकवि द्वारा भिखारी बनाया गया व्यक्ति हूँ।" "राजा कलिंग गंग तो नहीं?"—भीम कवि ने मूँछों पर ताव देते हुए पुनः प्रश्न किया था। इस प्रश्न को सुनने पर उस भिखारी को यह समझते देर न लगी कि ये महाशाप भीम कवि ही हैं। भिखारी का मुंह सफ़ेद पड़ गया और विनम्र हो हाथ जोड़ कर प्रार्थना की : "महाकवि, मुझे क्षमा कीजिए।"

इस पर भीम कवि ने तत्काल ही एक आशु कविता सुना दी :

वेयि गजंबुलुंड बदि
वेलु तुरंगमुलुंड ताजिलो
रायल गेलिय सज्जनग
रंबुन बहमुगट्टु को वडिन्
राय कलिंग गंगु कवि
राज भयंकर मूर्ति जूडगा
बोयनु मीन मासमुन
बुन्नम वोयित षष्ठि नाटिकिन ।।

(अर्थात, कविराज की भयंकर मूर्ति को देख राज्यलक्ष्मी भयभीत हो पूर्णिमा के पश्चात षष्ठी को तुम्हारे यहाँ निवास करने आने वाली है। तुम राय को पराजित कर गद्दी को प्राप्त करो। तुम्हारे पास एक हज़ार हाथी, दस हज़ार घोड़े होंगे।)

कवि के कुपित हो राज्यलक्ष्मी को यह आदेश देने पर कि वह कलिंग गंग को छोड़ कर चली जाये, जैसे वह भाग गयी थी, वैसे ही कवि ने जब आदेश दिया कि उसपर कृपा कर के वापस लौटे तो राज्यलक्ष्मी कलिंग गंग के चरणों में लोटने लगी।

भीम कवि से संबंधित दंतकथाएँ अनेक हैं। एक बार गुडिमेह नामक गाँव में सागि पोतुराजु ने कवि के घोड़े को छीन लिया। इसपर कविवर ने यह शाप दिया था : "मेरी विजय तथा राक्षस सागिपोतु राजु की मृत्यु को सातवें दिन देखियेगा।" ठीक सातवें दिन वे इहलोक से उठ गये। लेकिन भीम कवि ने तुरंत अपने घोड़े को नहीं लिया। सात दिन तक अवधि रखने का अभिप्राय क्या है, कोई नहीं जानता।

एक बार चालुक्य योक्क भूपाल को अपनी महानता दिखाने के विचार से भीम कवि ने राजा के चित्रकूट में स्थित स्तंभ को इस प्रकार संवोधित कर : "**अनीताम्युपदानशृंखल-कराभ्यालंचितस्तम्भया।**" यह भीषण प्रतिज्ञा की : "**नेनेवेमुलवाड भीम कवि नेनिन्**" (अर्थात, यदि मैं ही वेमुल भीम कवि हूँ तो....)

भूनण्यापृत पल्लवोप लतिका पुष्पोपगुच्छंबुलन
नाना पुष्प फल प्रदायिवगुमा ना कल्पवृक्षाकृतिन् ।।

(अर्थात, तू पल्लव, लता तथा पुष्प-गुच्छों से सुशोभित हो, असंख्य प्रकार के पुष्प तथा फूलों के देने वाले कल्पवृक्ष के रूप में परिणत हो जा।") कवि ने शासित किया, फिर क्या था, देखते-देखते वह स्तंभ शाखाओं, पल्लवों तथा पुष्पों से सुशोभित हो फलों से भर गया। फिर कविवर ने सोचा कि स्तंभ फलवृक्ष वन गया तो चित्रकूट गिर जायेगा। अतः फिर यह आदेश दिया : 'तू पूर्ववत अपना रूप धारण कर।' और वह उसी रूप को प्राप्त हो गयी।

संभवतः कवियों ने इन दंतकथाओं का प्रचार इसलिए कराया होगा कि कविता करा के ही उनको जीना था। वाणी के महात्म्य पर विश्वास न हो तो कविता का व्यवसाय दुर्लभ था। इस 'ट्रेड सीक्रेट' पर विचार करना संभवतः हमारे लिए उचित न होगा।

—अनु० : बालशौरि रेड्डी

विवेचना

नेमिचंद्र जैन

यह पथ बंधु था

नरेश मेहता का उपन्यास। हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई। सन १९३३। मूल्य: १२· ००।

पिछले दस-पंद्रह वर्षों में हिंदी उपन्यास अपनी सार्थकता के लिए कई नये परिप्रेक्ष्य खोजता रहा है और अब उसमें व्यक्ति के आंतरिक सत्य का बाह्य परिवेश के साथ समंजन, रोमैंटिक दृष्टि की बजाय जीवन के यथार्थ साक्षात्कार का प्रयास, भावुकता या भावनाप्रधानता के स्थान पर तीखापन, कलातमक संयम और निर्ममता क्रमशः अधिकाधिक दीखने लगी है। अब उपन्यासकार प्रायः यह प्रयत्न करता है कि गहन से गहन अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भी साधारण जीवन के यथासंभव सहज और दैनंदिन पक्षों का ही सहारा ले। बल्कि शायद उसे यह अनुभव होता है कि गहनतम सत्य और उसकी अनुभूति साधारण जीवन में ही अधिक संभव है।

हिंदी उपन्यास के इस यथार्थोन्मुख अभियान में श्री नरेश मेहता का १९६३ में प्रकाशित उपन्यास 'यह पथ बंधु था' एक उल्लेखनीय पथचिह्न है। उसमें आज के हिंदी उपन्यास की ये सभी विशिष्टताएँ विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न पारस्परिक अनुपातों और संतुलनों में न केवल मौजूद हैं, बल्कि एक कलात्मक उपलब्धि के स्तर पर अभिव्यक्त हो सकी हैं। उसमें एक युग के सामाजिक जीवन के मूल्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक जीवन का बड़ा संवेदनशील और आत्मीयतापूर्ण चित्र है जो भावसंकुल और तीखा भी है और संयत भी।

'यह पथ बंधु था' में मालवा के एक छोटे-से क़स्बे के अत्यंत साधारण सरकारी शिक्षक श्रीधर ठाकुर की कथा है। श्रीधर के मन में कोई बड़ी प्रेरणा या महत्वाकांक्षा नहीं, कोई बड़ा स्वप्न या कोई गहरी बेचैनी या कर्मठता नहीं। पर अपनी घोर साधारणता में भी उसके भीतर आत्मसम्मान है, नैतिकता है, चाहे साधारण ही सही, किन्हीं आदर्शों में आस्था है। आत्मसम्मान

का यह सूत्र उसे क़स्बे के, और परिवार के, अत्यंत सीमित संकीर्ण वातावरण में से इंदौर और काशी के शहरी जनसंकुल तथा उथल-पुथल से भरे वातावरण में खींच लाता है। उसने अपने राज्य का एक इतिहास लिखा था जिसकी प्रशंसा होती है; पर इसीसे विभागीय अधिकारियों को उससे ईर्ष्या भी होने लगती है। उसपर राज्य के शासकों का पर्याप्त सम्मानपूर्वक उल्लेख न करने का आरोप लगाया जाता है और ग्रंथ में आवश्यक संशोधन करने की माँग की जाती है। जब श्रीधर इसके लिए तैयार नहीं होता तो उससे त्यागपत्र देने को कहा जाता है। नौकरी के सिवाय उसके पास जीवनयापन का कोई अन्य साधन नहीं। उसकी पत्नी और तीन बच्चे हैं, वृद्ध माता-पिता हैं और परिवार की अवस्था अत्यंत विपन्न है। श्रीधर कुछ स्थिर नहीं कर पाता और अंत में एक प्रकार की आंतरिक विवशता के कारण वह एक रात चुपचाप, किसी से कुछ कहे-सुने बिना ही, घर छोड़ कर इंदौर चला जाता है। वहाँ वह राजनीति में, आतंकवादी कार्यकर्ताओं के साथ पड़ जाता है और अपने लिए कोई काम नहीं जुटा पाता। इसी ग्लानिवश वह घर भी कोई समाचार नहीं भेजता। कुछ समय बाद उसे इंदौर भी छोड़ना पड़ता है और तब वह काशी जा कर रहता है जहाँ वह पहले कांग्रेसी आंदोलन में भाग लेता है तथा बाद में अपने आतंकवादी संपर्कों के कारण तेरह-चौदह वर्ष जेल काटता है। छूटने पर एक साप्ताहिक पत्र निकालता है तथा अन्य राजनीतिक-साहित्यिक कार्यों में भी भाग लेने का प्रयास करता है। पर अपने व्यक्तित्व की अव्यावहारिकता और निष्क्रियता तथा राजनीतिक और साहित्यिक जीवन की क्षुद्र दलबंदियों के कारण वह किसी तीव्र महत्वकांक्षा अथवा आंतरिक प्रेरणा के अभाव में न तो कुछ कर ही पाता है न कुछ बन पाता है। अंत में पचीस वर्ष बाद असफल, पराजित, टूटा हुआ वह अपने घर लौट आता है। इतने दिन उसने घर से कोई संपर्क नहीं रखा। अतः वह नहीं जानता कि इस बीच उसके माता पिता मर चुके हैं; दोनों भाई मकान का बँटवारा कर के अलग हो चुके हैं; पत्नी सरस्वती यक्ष्मा की अंतिम अवस्था में है; दोनों लड़कियों के विवाह हो चुके हैं, उनमें से एक सास-ससुर के अत्याचार के कारण पंगु और परित्यक्ता हो कर अपनी माँ के साथ ही रहती है। श्रीधर के घर पहुँचने के बाद ही पत्नी की भी मृत्यु हो जाती है और पंगु पुत्री अपने नाना के घर चली जाती है। श्रीधर अब अपने घर आ कर भी अकेला है। उतना ही साधारण और विवश है। उसके जीवन की नयी दिशा का प्रारंभ एक राज्य का इतिहास लिखने के कारण हुआ था, अब वह मानव का इतिहास लिखने का संकल्प करता है।

इस कथा-सूत्र से संभवतः यह स्पष्ट है कि इस उपन्यास में मूलतः व्यक्ति की जीवन-यात्रा को ही उसके विभिन्न आयामों में चित्रित किया गया है। पर यह व्यक्ति विभिन्न सूत्रों से अपने परिवेश से जुड़ता है; वह उसकी उपज भी है और उसको जाने-अनजाने, न्यूनाधिक मात्रा में, प्रभावित भी करता है। उपन्यास में श्रीधर के व्यक्तित्व को, उसके आंतरिक गठन और उसकी परिणति को, उसके परिवेश के विभिन्न पक्षों की पृष्ठभूमि में रख कर देखा गया है, मनोविश्लेषण या समाजविज्ञान के स्तर पर नहीं, गतिमान मानवीय स्तर पर। जैसे, श्रीधर का जन्म एक अत्यंत कुलीन, धार्मिक, निष्ठावान ब्राह्मण परिवार में हुआ है जो क्रमशः अत्यंत विपन्न अवस्था में पहुँच चुका है। पिता कीर्तनियाँ हैं, भागवत बाँचते हैं और आचारवान संयमी व्यक्ति हैं। माता भी

वैसी ही हैं। श्रीधर मँझले पुत्र हैं जिन्होंने माता-पिता की शालीनता, संयम, आस्था, निष्ठा सभी कुछ पाया है। उनकी पत्नी सरस्वती भी एक पढ़े-लिखे सुसंस्कृत परिवार की लड़की है, श्रीधर जैसी ही, सहनशील, आस्थावान, उदार। पर इनके विपरीत श्रीधर के दोनों भाई और उनकी पत्नियाँ अत्यंत आत्मकेंद्रित, स्वार्थी और दुनियादार हैं, क्षुद्र, क्रूर और आदर्शहीन। श्रीधर का व्यक्तित्व मुख्यतः परिवार के इन्हीं प्रभावों से निर्मित है।

पर उसके बचपन में एक और भी सुकुमार प्रभाव है, स्थानीय मराठा सरदार बाला साहब की पुत्री इंदु का, जो उम्र में श्रीधर से दस साल बड़ी थी। जब श्रीधर दस साल का था तभी उसका दूर पूना में विवाह हुआ और वह चली गयी। पर सात से दस वर्ष तक की कच्ची, प्रभावशील आयु में इंदु के साथ उसका घनिष्ठ संपर्क रहा और इंदु के व्यक्तित्व की गहरी छाप श्रीधर के मन पर पड़ी। इंदु का व्यक्तित्व आभिजात्य और सरलता, कलाप्रियता और विलासिता, स्वतंत्रता और मानसिक दमन के अनेक अंतर्विरोधी तत्वों की उपज है। श्रीधर से उसे बड़ा गहरा स्नेह है, पर उसके भाव में अतप्त लालसा और बड़ी बहन की दुलारपूर्ण ममता दोनों का बड़ा अनोखा मिश्रण है। युवती इंदु का संपर्क बालक श्रीधर को स्वप्नशील तो बना जाता है पर उसे किसी प्रकार की शक्ति नहीं देता, किसी प्रकार की गहरी संकल्पमूलक तीव्रता उसके भीतर नहीं जगाता। श्रीधर के व्यक्तित्व के निर्माण में, उसकी आजीवन निष्क्रियता, परावलंबिता और आत्मत्व-हीनता में, उसके किशोर जीवन के इन प्रभावों का गहरा योग है जिसे सूक्ष्मता से लेखक ने उपन्यास के प्रारंभ में ही दिखाया है।

परवर्ती कर्मसंकुल जीवन में श्रीधर के व्यक्तित्व के यही सब पहलू नयी परिस्थितियों के संघात में आते हैं। उसमें आत्मविश्वास और पहल का अभाव है और सहज ही दूसरों के लिए एक साधन बन जाता है। पर परिस्थितिवश उसे अनायास ही विभिन्न राजनीतिक आंदोलनों तथा साहित्य और पत्रकार-जगत की संकीर्ण दलबंदियों में फँसना पड़ता है और वह बिशन, मालिनी, रतना जैसे व्यक्तियों के संपर्क में आता है। उपन्यास में व्यक्ति और परिवेश के इस संघात का भी विस्तृत चित्रण है। यदि बाह्य परिस्थितियों के संदर्भ और परिप्रेक्ष्य में श्रीधर के सामान्य जीवन की व्यर्थता स्पष्ट उभर कर सामने आती है, तो श्रीधर के संदर्भ में बदलते हुए मानवीय संबंधों की, राजनीतिक, साहित्यिक और सामाजिक संस्थाओं और आंदोलनों और व्यक्तियों की व्यर्थता, अमानुषिकता और निस्संगता भी उतनी ही तीव्रता से उभर कर आती है। जीवन के दोनों पक्ष एक-दूसरे पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते-जैसे जान पड़ते हैं। आंतरिक जीवन और उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि के साथ बाह्य परिवेश के इस निरंतर संबंध और संघात के कारण , उनके बीच एक प्रकार के निरंतर संतुलन के कारण, इस उपन्यास को गहराई और विस्तार दोनों ही मिलती हैं और यह आत्मकेंद्रिता अथवा बाह्यकेंद्रिता दोनों प्रकार की एकांगिताओं से किसी हद तक बच सका है। उसमें प्रस्तुत मानव-स्थितियों में एक साथ ही भावगत ऊष्मा भी है और बाह्य यथार्थ की प्रामाणिकता भी जो उन्हें अपने स्तर पर पर्याप्त विश्वसनीय बनाती है।

व्यक्ति और परिवेश के संघात की अभिव्यक्ति 'यह पथ बंधु था' में एक और भी स्तर पर हुई है। यह जितनी श्रीधर की जीवनगाथा है उतनी ही उसकी पत्नी सरस्वती या सरो की भी।

बल्कि कई दृष्टि से सरो की कथा कहीं अधिक एकाग्र, तीखी, मार्मिक और करुणापूर्ण है। सरो श्रीधर की भाँति ही निरीह, मूक और सहनशील है, और साथ ही समर्पित तथा शालीन भी। इसी कारण वह परिवार के भीतर रह कर अकल्पनीय त्रास पाती है, और सीमाहीन अगाध समुद्र की भाँति जीवन की तीखी पीड़ा को अपने भीतर समाये रखती है। इस दृष्टि से 'यह पथ बंधु था' पुराने ढंग के सम्मिलित परिवार के विघटन की भी कथा है, और उसकी चक्की में एक सुकुमार आस्थावान स्त्री के पूर्णतः पिस जाने की कथा भी, जो भारतीय नारी के विडंबनापूर्ण जीवन के एक समूचे युग को रूपायित करती है। भारतीय पारिवारिक जीवन की विशृंखलता, जर्जरता, विकृति और अमानवीयता के ऐसे कारुणिक चित्र हिंदी में बहुत कम हैं। प्रायः उनमें या तो एक प्रकार की सिद्धांतवादिता अथवा आत्मसजगता होती है या फिर छिछली भावुकता। 'यह पथ बंधु था' के पारिवारिक जीवन के चित्रों में निर्मम यथार्थपरकता जितनी है उतनी ही घनिष्ठ परिचय की आत्मीयता और वास्तविक विशुद्ध करुणा भी। इसीसे न तो उसमें कोई अतिनाटकीयता है, न कोई कृत्रिम भावावेश। ज़िंदगी की अनगिनती छोटी-छोटी बातों से उसका तानाबाना बुना गया है। फिर भी उसमें सार्थकता की कमी नहीं। बल्कि उसमें स्पष्ट ही परिवार और उसके विघटन के परिप्रेक्ष्य में सहज मानव आचरण और उसके मूल्यों की विडंबना निहित है। एक प्रकार से सरो की कथा श्रीधर के जीवन का ही अन्य अर्धवृत्त है जो दोनों सिरों पर उसके पहले अर्धवृत्त से जुड़ा हुआ है और उन दोनों को मिला कर ही पूर्ण वृत्त बनता है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि इस जीवनवृत्त में केवल बाह्य सत्य ही नहीं, आंतरिक सत्य का उद्घाटन प्रमुख है। श्रीधर और सरो की ट्रेजेडी सामान्य जीवन-मूल्यों की ट्रेजेडी है। आज की दुनिया में सहज या साधारण हो कर जीना कितना असंभव है! कोई व्यक्ति यदि अपने छोटे-से घेरे में छोटी-सी साधारण कोटि की ईमानदारी और सचाई से जीवित रहना चाहे तो यह भी कितना दुष्कर है! अपने प्रति सच्चा और सहज होना जीवन-संघर्ष के लिए अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि एक प्रकार की अयोग्यता है। जीने के लिए, किसी प्रकार की सफलता, उपलब्धि या परिपूर्णता के लिए, आत्मविज्ञापन और आत्मप्रक्षेपण का असीम सामर्थ्य चाहिए। सांसारिक सफलता श्रीमोहन, पुस्तके वकील या ठाकुर सकलदीप नारायण सिंह को ही मिल सकती है। हलके से हलके और छोटे से छोटे स्तर पर भी किन्हीं मूल्यों के प्रति सजग और संवेदनशील हो कर सुखी हो सकना प्रायः असंभव है। 'यह पथ बंधु था' में श्रीधर और सरो के अतिरिक्त इंदु, मालिनी, बिशन, रतना आदि सभी व्यक्ति अपनी-अपनी आस्थाओं के लिए अपने-अपने स्तर पर मूल्य चुकाते हैं; यहाँ तक कि पेमेन, कीर्तनिया जी, श्रीधर की माँ, गणवंती सबका जीवन एक न एक स्थल पर आ कर पंगु और व्यर्थ हो जाता है। इस दृष्टि से बड़ी गहरी उदासी और करुणा सारे उपन्यास में परिव्याप्त है। सहृदयता और सचाई के लिए, निष्ठा और ईमानदारी के लिए, कहीं कोई स्थान नहीं। दूसरी ओर इस उपन्यास में इतने सारे व्यक्ति अपने प्रति, अपनी मान्यताओं के प्रति, सच्चे बने रहते हैं, टूट जाते हैं पर झुकते नहीं। यह निस्संदेह परोक्ष ढंग से जीवन के मूल्यों में गहरी आस्था का ही संकेत देता है। इन सब ईमानदार व्यक्तियों का सफलता के लिए समझौता कर लेना कहीं अधिक निराशाजनक और दुर्भाग्यपूर्ण होता। मानवता का इतिहास एक स्तर पर ऐसे

ही अनगिनती साधारण लोगों की निष्ठा का और उस निष्ठा के प्रति समर्पित हो सकने का, इतिहास है। वे ही, श्रीधर जैसे लोग ही, उस इतिहास के निर्माता भी हैं और लेखक भी।

जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण निस्संदेह सत्य के बड़े महत्वपूर्ण अंश को प्रकट करता है और उस हद तक इस उपन्यास में बड़ी सहज करुणा और भावसघनता है। पर साथ ही इसमें एक प्रकार का रोमैंटिक सरलीकरण भी कहीं न कहीं है ही। जीवन उस तरह के दो-टूक सफ़ेद और काले खाँचों में बँटा हुआ नहीं हैं जैसे इस उपन्यास में दीख पड़ते हैं। इंसान की कहीं अधिक गहन और तीव्र ट्रैजेडी इस बात में है कि व्यक्ति स्वयं ही अपना शत्रु होता है; प्रत्येक आदर्श, निष्ठा, और मूल्य में ही उसका विलोम, उसका विरोधी तत्व भी, निहित है। अधिकांशतः हम अपने आपसे लड़ते-लड़ते ही धराशायी होते हैं। यह बात वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही स्तरों पर महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह जीवन की एक मूलभूत जटिलता को प्रकट करती है। समर्थ सर्जनात्मक कृति में जीवन के इस अंतर्विरोध की इस जटिलता की अभिव्यक्ति अनिवार्य है। 'यह पथ बंधु था' में इस दृष्टि से बड़ा सरलीकरण दिखायी पड़ता है। उसके पात्र साधारण हों या असाधारण, या तो भले हैं, या फिर बुरे। उनमें आंतरिक द्वंद्व, परस्पर-विरोधी तत्वों का संघर्ष तथा उससे उत्पन्न तनाव और दबाव नहीं है। वे एक ही आयाम में जीते हैं, जो इस अर्थ में रोमैंटिक, आत्मपरक और एकपक्षीय है। यही स्थिति बाह्य घटनाओं और परिस्थितियों के चित्रण में भी स्पष्ट है। इस एकायामिता के कारण ही 'यह पथ बंधु था' में करुणा तो है पर विक्षोभ या विस्फोट नहीं, टकराहट नहीं। केवल श्रीधर या सरो ही नहीं, इस उपन्यास में चित्रित समस्त जीवन में एक ऐसी निरीहता, निष्क्रियता और आंतरिक गति का अभाव है कि जीवन की अदम्यता का, उसकी अजस्र गतिमानता का, उसके उद्वेलन का कोई चिह्न ही नहीं मिलता। ऊपर से धीमे-धीमे सहज-साधारण गति से बदलते हुए जीवन के पीछे भी अवश्य कहीं न कहीं, किसी न किसी स्तर पर, ऐसी तीव्र टकराहट होती है, ऐसा विस्फोट होता है, जिससे साक्षात्कार कर के मन कंटकित और आतंकित हो उठता है। और कहीं-कहीं जीवन का केंद्र-विंदु भी होता है जिसमें बाक़ी सारी घटनाओं-व्यापारों और परिवर्तनों का रहस्य छिपा रहता है। लेखक तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि द्वारा ही इस केंद्र से, जीवन की निहित विराटता का, साक्षात्कार कर पाता है। 'यह पथ बंधु था' में यह दृष्टि नहीं मिलती। उसका लेखक अभी यथार्थ के अपेक्षाकृत अधिक सरलीकृत, बाह्य तथा ऊपरी रूपों को ही देख सका है। दूसरे शब्दों में, वह रोमैंटिक जीवनदृष्टि से अभी अपने को पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाया है। इस उपन्यास में रोमैंटिक दृष्टि का यथार्थोन्मुखता के साथ एक संतुलन तो है, पर उससे पूर्णतः मुक्ति अभी नहीं है।

इस रोमैंटिक दृष्टि के और भी कई रूप इस उपन्यास में हैं। मराठा सरदार बाला साहब के अतीत का चित्र न केवल काल्पनिक है बल्कि अतिरिक्त और अनावश्यक भी है। मालिनी शरच्चंद्र की राजलक्ष्मी की ही छाया है जो दिलचस्प हो कर भी न केवल अनावश्यक रूप से आदर्शीकृत है, बल्कि मूल कथासूत्र और भावसूत्र के साथ उसकी कोई अनिवार्य संगति नहीं है। उसे लेखक ने केवल मोहवश ही उपन्यास में रख छोड़ा है। इंदु का वृद्ध सामंत से विवाह, बिशन और कमल का अवास्तव प्रेम, बिशन का मालिनी से विवाह का प्रस्ताव आदि ऐसे कितने ही प्रसंग

इस उपन्यास में हैं जो लेखक के अतीत के प्रति, किसी भावुकतापूर्ण स्थिति, भावना या प्रतिक्रिया के प्रति, रोमैंटिक मोह को अधिक सूचित करते हैं, गहन जीवनदृष्टि या कलात्मक सार्थकता को कम। उपन्यास में ऐसे कई स्थल हैं जहाँ लेखक यथार्थ में निर्ममतापूर्ण गहरा नहीं उतर पाता और सतह के रंगीन आकर्षक रूप ही उसे मग्ध रखते हैं। ऐसा ही रोमैंटिक मोह वैचारिक स्तर पर भी कई जगह इस उपन्यास में है जिसका चरम उदाहरण है इसका अंतिम पृष्ठा उसमें लेखक ने इतिहास की गति की बड़ी सतही और भावुकतापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है जो न उपयोगी है न वैज्ञानिक।

किंतु दिलचस्प बात यह है कि इस रोमैंटिक रुझान के बावजूद यह उपन्यास निरा कल्पना-विलास और सस्ती भावुकतापूर्ण कथा होने से बच गया है और एक कलात्मक उपलब्धि का रूप ले सका है। इसके कई महत्वपूर्ण कारण हैं जिनमें सर्वप्रमुख हैं लेखक का कलात्मक संयम और विवेक, अभिव्यक्ति में अतिरेक और अतिनाटकीयता का अभाव तथा भाववस्तु के साथ घनिष्ठ आत्मीय परिचय। अधिक से अधिक रोमैंटिक स्थितियों में भी लेखक उनके साथ वह नहीं जाता। वह अपना संतुलन बनाये रखता है और किसी भी स्थिति को एक निश्चित सीमा से अधिक काल्पनिक और अवास्तव नहीं होने देता। यह संयम और विवेक उपन्यास में कई रूपों में प्रकट हुआ है जिनमें से श्रीधर के चरित्र की परिकल्पना और उसके माध्यम से एक अनुभूति-सत्य की अभिव्यक्ति विशेष विचारणीय है।

श्रीधर को लेखक ने एक अत्यंत ही साधारण और सामान्य प्रकार का व्यक्ति दिखाया है। असाधारण से असाधारण व्यक्ति और परिस्थितियाँ भी उसके व्यक्तित्व की मूल संरचना को नहीं बदल सकतीं। बल्कि उनके संपर्क और संदर्भ में उसके व्यक्तित्व की साधारणता और अकिंचनता शायद और भी प्रकाशित हो उठती है। इंदु के साथ उसका किशोर संबंध उसे कुछ भावनाशील बनाता है, पर उस संबंध को लेखक ने कहीं भी असंयत नहीं होने दिया है। काशी-प्रवास के अंतिम दिनों में इंदु से श्रीधर की फिर से भेंट तो होती है पर उसकी परिणति किसी भावुकतापूर्ण स्थिति में नहीं होती। इसी प्रकार रतना के साथ भी श्रीधर का भावसूत्र एक ऐसी सीमा पर आ कर ठहरा रह जाता है कि कहीं कोई भावातिरेक नहीं फूट पाता। उसके कारण दोनों के संबंधों में एक मद्धिम-सी मोहक मधुरता अंतर्व्याप्त रहती है। वे दोनों, कम से कम इतना, एक आंतरिक तीव्रता से उत्कट रहते हैं, पर उसकी अभिव्यक्ति में कहीं कोई भावुक उच्छृंखलता नहीं है, कोई इच्छापूर्ति या कोई मानसिक विलासिता नहीं है। फाँसी पर जाने के पहले तो जब वह इस एक वाक्य में अपना समस्त भावावेग प्रकट कर के चली जाती है कि 'तुमि आमार शामी', तो इस स्थिति की हलकी-सी भावुकता के बावजूद यह वाक्य भावों का तूफ़ान नहीं उत्पन्न करता। बल्कि वह समूचा प्रसंग भी श्रीधर के जीवन की करुणा को ही रेखांकित करता है। वास्तव में श्रीधर बहुत-से असाधारण व्यक्तियों के संपर्क में आ कर भी, बहुत सारी असाधारण और सामान्य परिस्थितियों में पड़ कर भी सहज ही साधारण और सामान्य बना रहता है। भावातिरेक उसके भीतर है ही नहीं। बल्कि बहुत बार तो संदेह होता है कि कोई भाव भी है या नहीं।

एक बार रतना से बात करते-करते हलका-सा उत्तेजित होने पर श्रीधर कहता है :

"मैं तो अपने को कुछ भी नहीं कर पाता। कभी-कभी तो यह भी अनुभव नहीं हो पाता कि मैं हूँ, और तब मुझे क्या करना चाहिए. . . .नहीं, मेरी कोई उपादेयता नहीं है--कहीं भी और कभी भी।"(--पृष्ठ ४२३)

लेखक ने कई प्रकार से श्रीधर के व्यक्तित्व के इस पक्ष का उल्लेख किया है। जैसे:

"ठीक अपनी आदत के अनुसार कि जब वे कुछ करते हैं या सुनते हैं तब बिल्कुल अनासक्त, विदेह बने बहस कर रहे होते या सुन रहे होते हैं। जैसे उनसे कोई संबंध नहीं है। शायद इसीलिए उन्हें किसी बात का दुःख नहीं होता, या व्यक्त नहीं हो पाता।" (--पृष्ठ ४२६)

"उन्हें क्रोध आना चाहिए था लेकिन उन्हें खेद हुआ। चुनौती अनुभव करने पर ही तो क्रोध आता है? और श्रीधर बाबू कभी क्रोध नहीं करते क्योंकि प्रायः चुनौती नहीं अनुभव करते।" (—पृष्ठ ४६)

"पता नहीं क्यों श्रीधर बाबू में कभी असंतोष ऊपर उभर कर नहीं आ पाता। वे स्वयं ही कभी नहीं समझ पाते कि अगत्या वे चाहते क्या हैं? जब उन्हें प्रश्न करना होता है या उत्तर देना होता है---वे बस देखते रहते हैं। कहीं किसी चीज के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं लगती।" (—पृष्ठ ४०९)

"उन्हें दुख नहीं परिताप था, पश्चात्ताप था। अपने असफल होने पर नहीं, अपमानित होने पर। उन्होंने प्रत्येक बार समुद्र की रत्नाकरी सीमाओं में प्रवेश करने की भरसक चेष्टा की लेकिन कोई न कोई ज्वार उनके सारे कर्म को नगण्य सिद्ध कर हर बार किनारे ला पटक देता।" (—पृष्ठ ५९२)

श्रीधर के व्यक्तित्व की साधारणता का यह चौखटा लेखक ने प्रारंभ से अंत तक बड़ी सावधानी से प्रयत्नपूर्वक बनाये रखा है—इतना कि कभी-कभी तो यही असाधारण लगता है। बल्कि कभी-कभी अस्वाभाविक और आरोपित लगता है। पर इसमें कहीं कोई छल नहीं है। बोध और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर लेखक उसके विषय में अपनी प्रामाणिकता नष्ट नहीं होने देता। इस कारण यह उसके कलात्मक संयम का एक अन्यतम आयाम भी है। ऐसा ही एक आयाम है सरो के जीवन की पीड़ा के चित्रण में। कई दृष्टियों से वह अपूर्व नारी है जिसकी सहनशीलता की कोई सीमा नहीं। उसके पास शब्द नहीं हैं पर भाव इतने सघन और तीव्र हैं कि उनकी तुलना नहीं हो सकती। पचीस वर्ष बाद घर लौटने पर श्रीधर जब अपने कमरे में पहुँचते हैं तो देखते हैं:

"वहीं एक लकड़ी के सिंहासन पर उनके स्कूल के दिनों का चित्र रखा था जिसके सामने

दीप जल रहा था तथा रेशमी पवित्रा (माला) से मंडित था। सहसा श्रीधर बाबू अत्यंत विचलित हुए कि यही वह स्थान है जहाँ बैठ कोई उन्हें अहोरात्र पुकारता रहा है। अँधेरे में कहीं भटक न जाये इसलिए दीपालोक किये रहा है। पता नहीं कहीं ठौर मिलता है कि नहीं इसलिए इस छोटे सिंहासन को विश्व बना दिया उस व्यक्ति ने।" (--पृष्ठ ५७६)

इस प्रतीति के पीछे दुख और पीड़ा के साथ साथ एक समर्पित जीवन की पूरी गाथा है जो अपनी निष्ठा में सचमुच महिमामयी है। उसी रात को इतने लंबे अंतराल के बाद सरो जो कुछ श्रीधर से कहती है उसकी भावसिक्तता और करुणा, अतिरेकहीन संयमित कथन की दृष्टि से हिंदी लेखन में बेजोड़ है।

वास्तव में इस संयम के कारण ही समस्त उपन्यास में, उसके सारे प्रसंगांतरों के बावजूद, भावुकता और रोमेंटिक मोह के बावजूद, एक कलात्मक अन्विति बनी रहती है। स्वयं कथा में, उसमें उलझे हुए पात्रों के व्यक्तित्वों में, ऐसे बहुत से स्थल हैं जिनमें नाटकीयता और अतिरंजना की पूरी- पूरी संभावना है। पर लेखक उसके फंदे में प्रायः नहीं पड़ता और हर बार उस मोह को बचा जाता है। उल्का जैसे व्यक्तित्व भी श्रीधर के जीवन में जैसे अनायास आते हैं वैसे ही अनायास निकल भी जाते हैं। अतिरेक का अभाव और अल्पकथन हिंदी लेखन में इतना विरल है कि इस उपन्यास में वह अनोखा और आश्चर्यजनक लगता है। उसकी कलात्मक तटस्थता ही उसे कृतित्व के विशिष्ट स्तर पर उठा देती है।

इस उपन्यास की एक अन्य विशिष्टता है उसकी आत्मीयता, उसकी भाववस्तु के साथ लेखक का घनिष्ठ परिचय। परिचित अनुभूति-क्षेत्रों की सीमाएँ छोड़ कर कल्पना-लोकों में विचरने का किशोर प्रयत्न उसमें बहुत ही कम है। मालिनी जैसे पात्रों को छोड़ दें तो अधिकांश व्यक्ति बड़ी संवेदनशीलता और सहानुभूति के साथ अंकित किये गये हैं। उनके बहुत से पक्ष नहीं खुलते, पर जितने खुलते हैं वे विश्वसनीय लगते हैं। श्रीधर के माता-पिता का अंकन बड़ी ममता से हुआ है; इसी प्रकार श्रीमोहन-सावित्री का बड़ी तीखी घृणा से। किंतु इस दंपति की सरो के प्रति सीमाहीन क्रूरता अमानुषिक हो कर भी अतिरंजित नहीं लगती। और कांता तो उस सघन आलोक-हीन वातावरण में धूप की किरण जैसी लगती है। ठाकुर सकलदीप नारायण सिंह, रामखेलावन बाबू आदि चरित्रों में एकांगिता के बावजूद आंतरिक संगति मौजूद रहती है। 'यह पथ बंधु था' के व्यक्तियों और स्थितियों में कहीं कहीं तो यह स्वाभाविकता इस हद तक है कि लगता है, लेखक उनसे अत्यधिक संपृक्त है, कलाकार के रूप में अपने को उनसे विलग नहीं कर सका है, उनसे पर्याप्त तटस्थ नहीं हो पाया है। यह स्थिति इस उपन्यास को और भी संयमित हो कर अधिक गहन और तीव्र होने से रोकती है, इसमें संदेह नहीं। पर वह संपृक्ति इतनी अधिक भी नहीं है कि अपने स्तर पर इस उपन्यास को महत्वपूर्ण कलाकृति न होने दे। भावनाशीलता और संयम का यह संतुलन अपने आपमें ही कोई नगण्य उपलब्धि नहीं है।

इस संयम और संतुलन का प्रभाव अनिवार्यतः उपन्यास के शिल्प पर भी पड़ा ही है। बल्कि शिल्पगत संयम के बिना उसकी उपलब्धि ही संभव न थी। किंतु उसके शिल्प की विशिष्टता

उसकी सरलता में है, किसी तीखी प्रयोगात्मकता में नहीं। उसके वर्णनों में कथा के संबंध सूत्रों में प्रवाह है, निरंतरता है और बीच-बीच में तीव्र सघनता भी। इस दृष्टि से उसका ढंग 'शेखर' से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार स्थितियों और व्यक्तियों को प्रस्तुत करने में शायद अनजाने ही विसदृशता (contrast) का बड़ा प्रभावपूर्ण उपयोग हुआ है। विशन और श्रीधर, रतना और मालिनी, इंदु और सरो, सरो और सावित्री, कांता और गुणवंती आदि पात्रों में बड़ी रोचक विभिन्नता है और वे जैसे एक दूसरे को अधिक रूपायित होने में सहायक होते जाते हैं। विभिन्न कथासूत्रों को भी कुशलता से एक दूसरे से संबद्ध रखा गया है। प्रकृति और जनजीवन दोनों के वर्णनों में बड़ी सूक्ष्मता, काव्यात्मकता और चित्रात्मकता है। बीच-बीच में काव्यसुलभ बिंब आ कर बिखरे हुए भावसूत्रों को जैसे अनायास ही केंद्रीभूत और आलोकित कर जाते हैं। ऐसे ही 'यह पथ बंधु था' में एक विशेष प्रकार की आंचलिकता भी है जो सहज स्वाभाविक परिवेश के रूप में आती है, आक्रामक रूप में नहीं। वह साधन है, साध्य नहीं। इसलिए रचना के समग्र प्रभाव को बढ़ाती है, उसकी प्रेषणीयता को सीमित नहीं करती।

किंतु इन सारी बातों के बावजूद शिल्प के स्तर पर उपन्यास में कुछेक शिथिलताएँ बड़ी तीव्र हैं। जैसे उपन्यास के अंत को ही लीजिए। 'मनुष्य के इतिहास' की व्याख्या से संबंधित भावुकता का उल्लेख पहले किया गया है। पर वास्तव में उस चर्चा की उस स्थल पर सार्थकता ही क्या है? मूलतः वह अनावश्यक और अनर्गल लगता है, विचारों की दृष्टि से छिछला तो है ही। बल्कि वह उसके ठीक पहले की भावतीव्रता को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार पूर्वावलोकन (फ़्लैशबैक) पद्धति का भी बहुत अधिक और अनावश्यक उपयोग हुआ है। या, रात को छत पर बैठ कर विशन जिस प्रकार मालिनी की कथा सुनाता है वह बहुत विश्वसनीय नहीं लगता। और फिर उपन्यास का काल-प्रवाह! उसमें कई एक भूलें भी हैं, असंगतियाँ भी हैं, और वह प्रायः आरोपित भी लगता है। ऐतिहासिक घटनाओं से काल्पनिक व्यक्तियों या स्थितियों को जोड़ते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। उसके द्वारा जितनी आसानी से किसी बात को विश्वसनीय बनाया जा सकता है, उतनी ही आसानी से पूर्णतः मिथ्या और संदर्भहीन भी। इसके प्रति पर्याप्त सजगता इस उपन्यास में नहीं बरती गयी है।

इसी प्रकार इस उपन्यास की भाषा, नरेश जी के अपने अन्य लेखन की तुलना में बहुत-कुछ सुथरी होने पर भी, कई जगह बहुत खटकती है। क्रियापदों संबंधी कृत्रिमता और अराजकता तो है ही, शिथिल वाक्यांश और अशुद्ध तथा अनुपयुक्त प्रयोग भी बहुत है। इन बातों के अतिरिक्त उसमें पात्रानुकूल भाषागत यथार्थवादिता बड़ी अजीब लगती है। इसमें कुछ मराठीभाषी पात्र बीच-बीच में मराठी बोलने लगते हैं; बँगलाभाषी पात्र बँगला हिंदी या बँगला बोलते हैं; पारसी मिसेज़ ऐलची बंबइया हिंदी के अलावा गुजराती बोलती हैं; कुछ बनारसी लोग कभी कभी भोज-पुरी या उसकी हिंदी मिश्रित खिचड़ी बोलते हैं। इस दृष्टि से मालवा के तो सारे पात्रों को मालवी ही बोलनी चाहिए थी। इस प्रकार के भाषागत प्रयोगों में न केवल संगति नहीं है बल्कि बीच-बीच में उनमें बड़ी भूलें भी हैं, विशेषकर बंगाली पात्रों की बंगलानुकूल हिंदी में। उदाहरण के लिए 'होम आप को बहुत खोजा' में 'होम' सही नहीं है। बंगाली 'हाम' कहता है, 'होम नहीं, क्योंकि

बँगला में 'अकार' का ही 'ओकार' होता है, 'आकार का नहीं। या 'की आपनी श्रीधर बाबू आशेन ?' में 'आशे' या 'आशेन' सही नहीं है। इस तरह के और भी प्रयोग हैं। लेखक को बहुत से बँगला शब्दों, वाक्यांशों, या संभवतः बंगला भाषा या बंगाली मात्र से कुछ अतिरिक्त मोह है, ऐसा कई प्रकार से उसकी रचनाओं में प्रकट होता है। किसी समर्थ अथवा समर्थताकामी लेखक के लिए ऐसा कोई मोह या आग्रह कभी बहुत शोभनीय नहीं हो सकता। वह अनिवार्य रूप से रचना के स्तर को गिरा देता है।

फिर भी इस अराजकता के बावजूद कुल मिला कर 'यह पथ बंधु था' की भाषा में अपना एक विशेष प्रकार का स्वरूप और सौष्ठव अवश्य है। पूरी शैली में एक प्रकार की पुरानेपन की गूँज जैसी है जो कथा के काल और विषय के अनुरूप और अनुकूल होने के कारण अच्छी लगती है। साथ ही वह आजकल के तीखे, चटक, नुकीले गद्य से भिन्न है जिसमें कृत्रिम नवीनता से बच कर, प्रकृत और अछूते जीवन के सोंधेपन का स्वाद है। जहाँ वह प्रयोगातमकता से अक्रांत नहीं है, वहाँ उसमें बड़ी तीव्रता और सघनता भी है और आत्मीयताजन्य निश्छल मार्मिकता भी, जो इतनी विरल होने के कारण और भी अनूठी और अनुपम लगती है। एक प्रकार से इस उपन्यास की भाषा की शिथिलताओं की चर्चा इसलिए अधिक आवश्यक है कि अधिकांशतः वह इतनी सक्षम और तीक्ष्ण है।

अंत में यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 'यह पथ बंधु था' उपन्यास के रूप में साहित्य-सृष्टि के प्रायः प्रत्येक स्तर पर सक्षमता का ही प्रभाव डालता है और हिंदी उपन्यास की उपलब्धि एक नये शिखर की सूचना देती है। स्वयं नरेश मेहता के अपने कथासाहित्य में, विशेषकर 'डूबते मस्तूल' के पाठक के लिए, तो वह एक लगभग अविश्वसनीय सुखद आश्चर्य है। निस्संदेह वह बड़े सहज भाव से सामाजिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति के एक लंबे युग को रूपायित करता है और अनायास ही अपने भीतर परंपरा और समकालीनता के बीच एक नयी समन्विति, एक नये संतुलन की खोज करता है। उसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर एक ऐसा आंतरिक सामंजस्य है जो हिंदी कथा-साहित्य के एक अभिनंदनीय आयाम का सूचक है।

—३ एफ़ जंगपुरा एक्सटेंशन,
नयी दिल्ली।

समीक्षाएँ

•

बंदी जीवन

शचींद्रनाथ सान्याल का क्रांतिकारी दल पर ग्रंथ। आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली-६। सन १९६३। मूल्य : १०' ००।

कई कारणों से भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का ठीक मूल्यांकन नहीं हो सका। इसमें सबसे बड़ा कारण गांधी जी का महान् व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा प्रचारित भारतीय संस्कृति की एक विशेष व्याख्या थी। इस बात को बहुत ज़ोर से हर मकान की छत पर से कहा गया कि बुद्ध, महावीर, नानक, चैतन्य ही भारत की सभ्यता के प्रतीक हैं और यह भुला देने की चेष्टा की गयी कि जहाँ यह एक बहुत बड़ी धारा और परंपरा है, वहाँ परशु-राम, राम, कृष्ण, प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविंद सिंह, तिलक, खुदीराम, हरदयाल, भगतसिंह, चंद्रशेखर आज़ाद की एक दूसरी परम ऐश्वर्य-शाली परंपरा रही है। ऐतिहासिक रूप से ही नहीं, मनोवैज्ञानिक रूप से भी जिस प्रकार हर व्यक्ति द्वंद्वात्मक होता है और उसमें विरोधी तत्व (रक्त तक में) रहता है, उसी प्रकार हर राष्ट्र में दोनों तत्व रहते हैं। यह तो बहुत पुरानी धारणा रही है कि शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र-चर्चा हो सकती है। शस्त्र और शास्त्र में कोई विरोध नहीं है और शासन के लिए शस्त्र और शास्त्र—दोनों की आव-श्यकता है। भारतीय क्रांतिकारी अपने विरो-धियों के द्वारा हिंसावादी और आतंकवादी कहे गये, पर वे हिंसावादी नहीं थे, क्योंकि वे नैतिक अधिकार में ही सबसे अधिक विश्वास रखते थे और जब दूसरे पक्ष की ओर से अनीति को बनाये रखने के लिए शस्त्र का प्रयोग होता था तभी वे शस्त्र के प्रयोग को उचित समझते थे। इसलिए क्रांतिकारी अपने को प्रत्यातंकवादी भले ही कह लें, पर वे हिंसा-वादी शब्द का लबादा ओढ़ने से चिढ़ते थे।

क्रांतिकारी अनशन जैसे उपाय में भी विश्वास करते थे, जो किसी भी प्रकार हिंसा-त्मक नहीं कहा जा सकता। यतींद्रनाथ दास ने राजनीतिक क़ैदियों के अधिकारों के लिए लड़ कर ६२ दिन अनशन कर के तिल-तिल कर के प्राण दे दिया। वे एक क्रांतिकारी थे। मज़े की बात है कि जब यतींद्रनाथ दास शहीद हुए थे तो गांधी जी ने यह कहा था कि वह हिंसावादी नहीं हो सकते। इसपर हम लोग, जो उन दिनों जेल में बंद थे, बहुत हँसे थे, क्योंकि यतींद्रनाथ दास ने हम लोगों के साथ राजनीतिक डकैती में भाग लिया था।

'बंदी जीवन' पुस्तक के लेखक शचींद्र-नाथ सान्याल का नाम सामने आते ही हमें केवल एक ही बात याद आती है कि उनकी आत्मा एक अशांत आत्मा थी। वह हर समय बेचैन रहते थे, कुछ करने के लिए, और जब जेल में बंद होते थे तो कुछ पढ़ने, सोचने और प्रचार करने के लिए। यदि मुझसे पूछा जाय कि तुम जिन क्रांतिकारियों को जानते थे, उनमें सबसे विद्वान और सुपठित कौन

लोग थे, तो दो व्यक्तियों का नाम लूँगा— एक, एम० एन० राय और दूसरे, शचींद्रनाथ सान्याल। एम० एन० राय भौतिकवादी हो गये थे, पर शचींद्रनाथ सान्याल अंत तक अध्यात्मवादी बने रहे।

शचींद्रनाथ सान्याल का मन किन तत्वों से बना था, इसकी कुछ झाँकी उनकी पुस्तक से ही उधृत की जाती है। वह क्रांतिकारी से अध्यात्मवादी नहीं बने, बल्कि अध्यात्मवाद से क्रांति की ओर आये। उन्हीं के अपने शब्दों में लीजिए :

"मैंने स्वामी विवेकानंद एवं श्री रामकृष्ण परमहंस देव की जीवनी पढ़ी, उनकी तमाम उक्तियों को ले कर एकाग्र मन से एकांत में गंभीर रूप से मनन किया। उपनिषद् एवं गीता अनुवाद की सहायता से बार-बार पढ़ीं, साधु-संगति भी करने लग गया। इस प्रकार से हिंदू-समाज की मर्मकथा को भली प्रकार से समझने की मैंने अपने अंतरतम से चेष्टा की। साधु-संतों की संगति से जीवन में प्रभूत लाभ हुआ इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन जी को तसल्ली नहीं हुई। मेरी समझ में यह बात नहीं आयी कि हमारे समाज के श्रेष्ठ महापुरुष क्यों समाज में नहीं आते, क्यों सामाजिक काम में अग्रणी नहीं होते?"

पर वह निरे अध्यात्मवाद से संतुष्ट नहीं रहे, इसीलिए उन्होंने लिखा :

"मैंने बाद को यह भी देखा कि हमारे सैकड़ों भाई, भारतीय आदर्श की दुहाई दे कर, आध्यात्मिकता के बहाने, अपनी स्वार्थबुद्धि से प्रणोदित हो कर, तामसिक बुद्धि के आवेश में आ कर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने में पश्चात्पद रहे। . . .

"यदि स्वामी विवेकानंद या स्वामी रामतीर्थ के तुल्य महापुरुष भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन में अग्रणी होते, तभी मुझे प्रकृत संतोष होता। श्री अरविंद घोष में मेरे कल्पित आदर्श पुरुष की छाया मिली।"

महात्मा गांधी के प्रति उनकी असीम श्रद्धा थी। पर समझते थे :

"महात्मा गांधी की अहिंसा नीति के कारण, एवं महात्मा गांधी ऐसे महान् व्यक्ति के भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने के कारण भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन को काफ़ी बाधा पहुँची। महात्मा गांधी यह प्रचार करने लगे कि भारतीय प्राचीन आदर्श के साथ भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का समन्वय नहीं हो सकता।"

साम्यवादी सिद्धांत को शचींद्रनाथ सान्याल पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सके, जैसा कि सरदार भगतसिंह, बटुकेश्वरदत्त आदि क्रांतिकारियों ने किया था। भौतिकवाद का विरोध करने, बल्कि उसे समझने के लिए उन्होंने जीवनविज्ञान और मनोविज्ञान का गहराई से अध्ययन किया, मानवविज्ञान की ख़ाक छानी, पर वह अपने विचारों पर डटे रहे, उनका अंतिम मत यह था :

"इस पहलू के अलावा समाजवाद के और भी बहुत-से सिद्धांत हैं जिनसे मैं सहमत नहीं हूँ, यथा मार्क्सवादियों का यह कहना है कि इतिहास की अभिव्यक्ति आर्थिक कारणों से ही हुआ करती है तथा संसार में अभिव्यक्त

हरेक प्रकार की सभ्यता के मूल में आर्थिक कारण ही प्रधान रूप में सक्रिय होते हैं। इस बात को भी मैं स्वीकार नहीं कर पाया।"

उन्होंने अनेक विषयों पर गंभीर चिंतन किये। धार्मिक विचारों के होने के कारण उन्होंने स्वाभाविक रूप से हिंदुओं और मुसलमानों के संबंध पर भी विचार किया।

प्रथम महायुद्ध के ज़माने में ही रासबिहारी बोस के साथ उत्तर भारत के क्रांतिकारी आंदोलन के अन्यतम नेता होने के कारण उन्हें आजीवन काले पानी की सजा मिली। उसका सारा ब्यौरा इस पुस्तक में दिया गया है। इसमें न केवल आपबीती है, बल्कि समसामयिक क्रांतिकारी आंदोलन का एक इतिहास है। वह १९१९ में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद आम बंदी-मुक्ति में छोड़ दिये गये। इसके बाद वे १९२१ का असहयोग आंदोलन चुपचाप देखते रहे, उस समय उन्होंने विवाह भी कर लिया, पर आत्मा की बेचैनी नहीं मिटी। जानकारों को मालूम है कि शचींद्रनाथ सान्याल ने विवाह तो कर लिया पर वह रात को अक्सर उठ कर पागलों की तरह टहला करते थे, जिससे घबरा कर उनकी पत्नी सहम जाती थीं। उपन्यासकार शरदच्चंद्र शचींद्रनाथ सान्याल को जानते थे और ऐसे ही लोगों के चरित्र को ले कर उन्होंने वह अमर उपन्यास 'पथ के दावेदार' लिखा।

जब महात्मा गांधी ने चौरी-चौरा कांड के कारण, जिसमें एक थाने के २० के लगभग सिपाही जनता द्वारा घेर कर ज़िंदा जला दिये गये थे, असहयोग आंदोलन स्थगित कर दिया, तब जो लोग यह आशा करते थे कि शायद असहयोग से ही भारत स्वतंत्र हो जाय, उनमें से बहुतों को निराशा हुई और एक बार फिर क्रांतिकारी दल के लिए मनोभूमि तैयार हो गयी। हर जगह नौजवान बेचैन हो कर आगे आये। शचींद्रनाथ सान्याल भला फिर किस प्रकार चुप रहते! उन्होंने फिर से क्रांतिकारी संगठन शुरू कर दिया, फिर से अस्त्र-शस्त्र एकत्र होने लगे, फिर से बम के कारखाने चालू हो गये और शचींद्रनाथ सान्याल जिसे सबसे अधिक महत्व देते थे—फिर से भयंकर रूप से राजनीतिक और क्रांतिकारी साहित्य, दर्शन, शास्त्र आदि पढ़े जाने लगे। रूस की क्रांति की किरणें अब भारतीय क्रांतिकारी के मनों की पंखुड़ियों तक अपना सुनहला रंग फैला चुकी थीं और बड़े ज़ोरों के साथ भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के साथ ही साथ समाजवाद के विभिन्न पक्षों का अध्ययन शुरू हुआ। क्रांतिकारियों के संबंध में अक्सर यह चित्र सामने रखा जाता है जैसे वे पिस्तौल के घोड़े मात्र के प्रेमी हों, जिससे पुस्तकालयों में बैठ कर उन पुस्तकों के अध्ययन वाला अंश, जिन्हें कोई नहीं पढ़ता, बिल्कुल आँखों से ओझल हो जाता है। जेलों में पहुँच कर क्रांतिकारियों की यह अध्ययन-प्रवृत्ति और भी बढ़ जाती थी, जिसका एक छोटा-सा ब्योरा यहाँ देने का लोभ में संवरण नहीं कर सकता।

अंदमन की बात है। वहाँ ब्रिटिश सरकार अधिक से अधिक साम्यवादी साहित्य इसलिए भेज रही थी कि लोगों का मन आतंकवाद वाले हिस्से से हट जाय, जिससे ब्रिटिश सरकार को बहुत परेशानी और डर था। एक मोटी पुस्तक आती। यदि यह एक व्यक्ति के पास रहती, तो कई दिनों में दूसरे व्यक्ति की बारी आती, इसलिए क्रांतिकारी क़ैदी उसे फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर लेते, जिससे

लाभ यह होता कि पहले दिए उनसे एक व्यक्ति पढ़ता, पर दूसरे दिन दो व्यक्ति पढ़ते, तीसरे दिन तीन व्यक्ति पढ़ते, इस प्रकार थोड़े समय में बहुत से लोग इस पुस्तक को पढ़ जाते थे। साथ-साथ बहस भी होती जाती थी।

शचींद्रनाथ सान्याल इस प्रकार के अध्येताओं में सर्वश्रेष्ठ कहे जाएँगे। वे अंग्रेज़ी, बँगला, हिंदी की पुस्तकें पढ़ते, उर्दू की कुछ पुस्तकों को पढ़वा कर सुनते, मित्रों से पैसे मँगा कर पुस्तकें पढ़ते। इस प्रकार उनका ज्ञान-जीवन चलता था।

१९२२ के बाद उन्होंने उत्तर भारत एक अच्छा संगठन बना लिया, जिसके कुछ प्रमुख अभिनेता थे—सुरेश चक्रवर्ती, रामप्रसाद बिस्मिल, विष्णुशरण डुबलिस, राजेंद्र लाहिड़ी, रोशनसिंह, अशफ़ाक़ उल्ला, यतींद्रनाथ दास, रामदुलारे त्रिवेदी, सुरेंद्र पांडेय, वीरेंद्र पांडेय, रमेश गुप्त, मनमोहन गुप्त आदि-आदि। इनमें से कइयों को फाँसी हुई। चंद्रशेखर आज़ाद वर्षों तक क्रांतिकारी दल का गौरवपूर्ण नेतृत्व करने के बाद गोली से मारे गये। अफ़सोस है कि शचींद्रनाथ सान्याल अपने दल का पूरा इतिहास नहीं लिख सके, पर जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह बहुत ही प्रामाणिक है और उससे पता लगता है कि क्रांतिकारी किस प्रकार जेल के बाहर ही नहीं, जेल के भीतर भी भयंकर संग्राम करते रहे। जहाँ कई क्रांतिकारी जेल तथा अन्य तकलीफ़ों से पागल हो गये, वहाँ बचे-खुचे क्रांतिकारियों ने किस प्रकार जेल की ईंटों से ईंटें बजा दीं, मानसिक और नैतिक बल की उच्चतम पराकाष्ठा का परिचय दिया, यह सब इस पुस्तक में पढ़ा जा सकता है, और एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा लिखा हुआ जो स्वयं एक महान क्रांतिकारी और चिंतक था। चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण और छेड़-छाड़ के बाद यह ग्रंथ पाठकों की और भी अधिक समझ में आयेगा, उनके मन की गहराई में उतर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—मन्मथ नाथ गुप्त,
प्रकाशन विभाग,
पुराना सचिवालय, दिल्ली।

आधुनिक हिंदी कविता : सिद्धांत और समीक्षा

विश्वंभरनाथ उपाध्याय का समालोचनग्रंथ। प्रभात प्रकाशन, दिल्ली। सन १९६२। मूल्य : १६·००।

पिछले सौ वर्षों में आधुनिक हिंदी काव्य इतना समृद्ध हो गया है कि उसपर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने की आवश्यकता है। पहली आवश्यकता है इस विवेकपूर्ण निर्णय की कि--इस सारे ढेर में महत्वपूर्ण क्या है, सारहीन क्या? संचित करने योग्य क्या है, त्याज्य क्या? पठनीय क्या है, अपठनीय क्या? दूसरे, जो साहित्य, इतिहास का अंश बनने जा रहा है, उसका मौलिक ढंग से परीक्षण किया जाय। तीसरे, इस विश्लेषित और परीक्षित सामग्री की तलस्पर्शी समीक्षा की जाय। और चौथे, विभिन्न संदर्भ-ग्रंथों, शोध-ग्रंथों एवं समीक्षा-ग्रंथों को आधार बना कर आधुनिक हिंदी साहित्य का एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जाय। यह कार्य एक व्यक्ति के बस का नहीं है।

डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय कर्म से

अध्यापक हैं। आधुनिक साहित्य के अध्ययन के लिए उन्हें स्वयं अनेक प्रकार के ग्रंथों का अध्ययन करना पड़ता है। कथ्य को सुबोध बनाने के लिए उन्हें विस्तार में जाना पड़ता है। अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए काव्य से उद्धरण देने पड़ते हैं। इसीसे उनकी आलोचना परिचयमूलक, व्यक्तिप्रधान और व्याख्यात्मक कोटि की है। स्वभाव से वे विचारक हैं। अतः यह समीक्षा उनकी विश्लेषण-शक्ति की परिचायिका है। मार्क्सवाद की ओर झुकाव होने के कारण, प्रगतिवादी मानदंडों से वे प्रभावित हैं। इसीसे हमारे काव्य का मूल्यांकन उन्होंने एक विशेष दृष्टिकोण से किया है। संक्षेप में, डॉ० उपाध्याय कर्म से अध्यापक, स्वभाव से आलोचक और प्रभाव से प्रगतिवादी हैं। इन सभी तथ्यों का प्रभाव उनकी समीक्षा-पद्धति पर पड़ा है।

आधुनिक काल को इन्होंने भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग, प्रगतिवाद, नवगीत-प्रवाह और प्रयोगवादी युग में विभाजित किया है। इस प्रकार समीक्षा के क्षेत्र में बहुत पहले से प्रचलित काल-विभाजन को इन्होंने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। कोई भी अध्यापक मौलिकता के फेर में नहीं पड़ना चाहता, ये भी नहीं पड़े। लेकिन इन अध्यायों के अंतर्गत जो सामग्री इन्होंने दी है, वह प्रचुर और वैविध्यपूर्ण है। उसमें कुछ ऐसी है जो अंग्रेज़ी के समीक्षा-ग्रंथों से सीधी उठायी गयी है, जैसे छायावाद के प्रसंग में रोमांटिसिज़्म की विशेषताओं—कल्पना का अतिरेक, व्यक्तिवाद, मानवतावाद, अतीत के प्रति प्रेम, अलौकिक के प्रति अनुराग, सौंदर्यानुभूति आदि—की विस्तृत चर्चा। बीच-बीच में पूँजीवाद के विकास, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एवं औद्योगिक विकास पर पूरे निबंध खपा दिये हैं। इससे आलोचना अनुपातहीन हो गयी है। कला के प्रसंग में रस-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि एवं वस्तु-ध्वनि को विस्तार से समझाया है। इससे इनका अंग्रेज़ी और संस्कृत समीक्षा-शास्त्र से परिचय तो सिद्ध होता है, पर यह भी लगता है कि यह आलोचना विद्यार्थी-वर्ग को दृष्टि में रख कर लिखी जा रही है। डॉ० उपाध्याय यह मान कर चले हैं कि उनका पाठक परिचित विषयों के संबंध में भी किसी प्रकार की जानकारी नहीं रखता।

भारतेंदु-युग से छायावाद-युग तक की समीक्षा जितनी परिपूर्ण है, छायावादोत्तर-काल की उतनी नहीं। प्रसन्नता की बात इतनी ही है कि इसके अंतर्गत नवगीत-प्रवाह नाम से इन्होंने एक स्वतंत्र धारा को स्वीकार किया है। उपाध्याय जी स्वभावतः प्रगतिवाद के पक्ष में हैं; अतः उसकी स्थापना के लिए इन्होंने जितना श्रम किया है, उतना ही उत्कट प्रयत्न प्रयोगवाद को उखाड़ने के लिए भी किया है। प्रयोगवाद का इनका अध्ययन सहानुभूतिशून्य, पूर्वग्रह से भरा हुआ और कौशल-पूर्ण तर्कों से संयुक्त है। पूरा अध्याय ही व्यंग्य और तिरस्कार से पूर्ण है। प्रयोगवादियों के चिंतन को इन्होंने 'संकीर्ण' कोटि का बतलाया है। उन्हें कहीं 'बौने' और कहीं 'नकलची' कहा है। उनकी 'अर्थ की लय' को इलियट के 'म्यूज़िक ऑफ़ आइडियाज़' का अनुवाद घोषित किया है। इनके मुक्त छंद को 'उच्छृंखल छंद' कहा है। अज्ञेय जी के लिए लिखा है: **"अज्ञेय का अहंवाद धीरे-धीरे प्रगतिवाद को निगल कर मंद गति से विश्राम की मुद्रा में जुगाली करने लगता है। जुगाली के समय जैसे पशु आँखें बंद कर लेता**

है, वैसे ही . . .।" निश्चित रूप से यह शिष्ट आलोचना की भाषा नहीं है। उपाध्याय जी ने यहाँ-वहाँ महावीरप्रसाद द्विवेदी, सुमित्रानंदन पंत और अज्ञेय के विचारों का ही खंडन नहीं किया, वरन अपने दल के डॉ० रामविलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान से भी मोर्चा लेने का साहस प्रदर्शित किया है। इससे इनके विचारों की स्वतंत्रता प्रदर्शित होती है। लेकिन आलोचक की ईमानदारी के कई परीक्षा-स्थल होते हैं। उनमें से एक अपने विरोधियों के संबंध में लिखना भी है। उपाध्याय जी के प्रगतिवादी होने के कारण काव्य का प्रबुद्ध पाठक सामान्य रूप से यह जानना चाहेगा कि प्रयोगवादियों के संबंध में इनकी धारणाएं क्या हैं। खेद के साथ सूचित करना पड़ता है कि यहाँ ये बुरी तरह से असफल हुए हैं।

इस ग्रंथ की एक विशेषता खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा और लोकसाहित्य का विवरण देना भी है। यहाँ तक तो ठीक है। पर इसके साथ इसमें उर्दू काव्य के अध्ययन के प्रति आग्रह कुछ खटकता है। लेखक का कहना है कि ऐसा उसने हिंदी-उर्दू की आधारभूत एकता को सिद्ध करने एवं भारतीय संस्कृति की एकता के विकास के लिए किया है। उर्दू के प्रश्न को प्रगतिवादी लेखक बराबर छेड़ते रहे हैं। उपाध्याय जी ने यह काम चाहे अपने स्वभाव की सरलता के कारण किया हो या सहृदयता के कारण या किसी राजनीतिक दल के संकेत से, है काफ़ी चिंताजनक। हिंदी-उर्दू की इस तथाकथित एकता के प्रश्न ने ही हिंदुस्तानी की समस्या को जन्म दिया था, यह बात हम लोग अभी भूले नहीं हैं। जहाँ तक भारतीय संस्कृति का प्रश्न है, वह कोई ऐसी सीधी रेखा नहीं है जिसे कोई एक व्यक्ति झटके से खींच कर दिखा दे। जहाँ तक सम-कालीन साहित्य के अध्ययन का प्रश्न है, वहाँ उर्दू ही क्यों, सभी प्रांतीय भाषाओं—बँगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि—के साहि-त्यों का अध्ययन होना चाहिए। अतः हमारी दृष्टि से केवल उर्दू के प्रश्न को उठाना साहित्य के क्षेत्र में सांप्रदायिकता के बीज बोना है।

डॉ० उपाध्याय के वैचारिक जगत में एक प्रकार के मानसिक तनाव के दर्शन होते हैं। इन्होंने वाल्मीकि और माघ, कांट और मार्क्स, तथा इलियट और अरविंद से एक साथ अपना परिचय सिद्ध किया है। इनके साहित्यिक व्यक्तित्व का विश्लेषण करें, तो उदात्त तत्वों को पकड़ने की इनकी क्षमता में अविश्वास नहीं किया जा सकता। छाया-वाद के महत तत्वों का अन्वेषण, विश्लेषण और संयोजन इन्होंने पूर्ण मनोयोग और काफ़ी छानबीन के साथ किया है। उलझन उस समय खड़ी होती जब इन्हें स्मरण आता है कि अरे, मैं तो प्रगतिवादी हूं और तब प्रस्तुत प्रसंग में ये कुछ दोष ढूंढ़ने लगते हैं। और आगे बढ़ते हैं, तब फिर चिंता होती है कि सहृ-दयों को मेरी समीक्षा ग्राह्य होगी अथवा नहीं। इस प्रकार उदात्त भाव, प्रगतिवादी मनो-वृत्ति और उपयोगिता के मिश्रित तत्वों से इनकी आलोचना का निर्माण हुआ है।

डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय की 'आधु-निक हिंदी कविता' इतिहास, आलोचना और निबंध का एक मिश्रित रूप है जो संपादित और संक्षिप्त हो जाने पर ही एक मूल्यवान कृति सिद्ध हो सकती है।

—विश्वंभर 'मानव',
८८८ कल्याणी देवी,
इलाहाबाद।

प्रतिपत्तिका

●●

हिंदीतरभाषाभाषी हिंदी विद्यार्थी की कठिनाइयाँ

किसी भी परभाषा को सीखने में विद्यार्थी कुछ कठिनाइयों का अनुभव करता है। हिंदीतर भाषी हिंदी को परभाषा के रूप में सीखते हैं। हिंदी भारत की भाषा होने के कारण अनेक दृष्टियों से वह अभारतीय भाषाओं की अपेक्षा अन्य भारतीय भाषाओं के अधिक निकट है। अतः अंग्रेज़ी, रूसी, चीनी आदि भाषाएँ सीखने में हिंदीतरभाषियों को जो कठिनाइयाँ होती हैं, उनकी तुलना में हिंदी सीखने में कहीं कम कठिनाइयाँ होती हैं। फिर भी हिंदी भाषा पर पूर्ण अधिकार पाने के लिए हिंदीतरभाषियों को इन कठिनाइयों का सामना तो करना ही पड़ता है।

विभक्तियों के प्रयोग, लिंग-निर्णय, वर्तनी, उच्चारण, शब्दों के प्रयोग आदि में उन्हें कुछ ऐसी कठिनाइयाँ होती हैं जो कि हिंदी सीखने के मार्ग में सदा रोड़े अटकाती रहती हैं। हम ऐसे कई हिंदीभाषियों को भी पायेंगे जो इनके प्रयोग में भूल करते रहते हैं, क्योंकि उनके मन में यह धारणा है कि हिंदी उनकी अपनी मातृभाषा होने के कारण उसे उन्हें सीखने की आवश्यकता नहीं होती है। वे समझते हैं कि उन्हें हिंदी अपने आप आ जाती है और हिंदी बोलने में, लिखने में वे कोई ग़लतियाँ नहीं कर सकते।

'ने' का प्रेत—'ने' हिंदी के कर्ता कारक की विभक्ति है। जब सकर्मक क्रिया भूत काल में रहती है, तब कर्ता के साथ 'ने' लगाने का नियम है। इस नियम के अपवाद भी हैं। अर्थात यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता; जैसे 'मैं पुस्तक लाया' (पुंलिंग); 'मैं पुस्तक लायी' (स्त्रीलिंग); 'मैं समझा' (पुं०); 'मैं समझी' (स्त्री०); 'मैंने छींका'—ये प्रयोग हिंदी में सही हैं। हिंदी-तरभाषियों के लिए यह 'ने' विभक्ति एक नयी चीज़ है। प्रारंभ में हिंदी सीखते समय हिंदीतर विद्यार्थी इसके प्रयोग में अक्सर ग़लती कर बैठता है, और उसे वह एक भूत के समान मानता है। इसके प्रमाण में आपको हिंदीतर प्रदेशों में 'ने भूत और उसका वशीकरण' नामक पुस्तकें भी देखने को मिलेंगी। पश्चिमी हिंदी का यह विशेष चिह्न बाक़ी हिंदी वालों को भूत के समान न दिखायी

पड़ने पर भी एक मुसीवत-सा लगता होगा। अतः हम कह सकते हैं कि यह 'ने' हिंदी की बला है जो कि आज सारे भारत की बला बनी हुई है। जब हिंदी को विश्वभाषा का स्थान मिलने लगेगा तब यह 'ने' अवश्य विश्व की बला बन बैठेगी।

द्विकारकीय विभक्तियाँ—यह तो मानने की बात है कि प्रत्येक भाषा की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं, लेकिन ऐसी विशेषताओं को क़ायम रखना जिनका प्रयोग प्राचीन काव्यों में भी नहीं मिलता, तथा जिनके निष्कासन से भाषा में कोई कुरूपता नहीं आती, या भाषा के वाक्यों के अर्थबोध पर कोई असर नहीं पड़ता तथा दूसरों को भाषा सीखने में सहूलियत हो जाती है, कहाँ तक उचित होगा यह कम महत्व का प्रश्न नहीं है।

'को' कर्म तथा संप्रदान दोनों कारकों की विभक्ति है। इसी प्रकार 'से' करण तथा अपादान कारकों की विभक्ति है। अतः कभी-कभी वाक्यों के अर्थ समझने में और इन विभक्तियों के प्रयोग करने में कठिनाई होती है। जैसे **'मुझको तुमको दो रुपए देने हैं', 'उसने पिचकारी से बच्चों से होली खेली'**। प्रायः वाक्यों में कर्म विभक्ति का लोप हो जाता है, जैसे **'मैंने पत्थर फेंका'**। कभी-कभी संबंधसूचक भी विभक्ति का काम करते हैं तो कभी-कभी अव्ययों में भी विभक्तियाँ पायी जाती हैं। जैसे, **'वह कुर्सी समेत उठ गया', 'वह कब का चला गया'**। हिंदी में अधिकतर दो-दो विभक्तियाँ एक ही साथ प्रयुक्त होती हैं, जैसे **'उनमें से मेरा कोई मित्र नहीं है'**। इसी प्रकार संज्ञा के साथ विभक्तियों के लग जाने से कभी संज्ञा का रूप परिवर्तन होता है और कभी नहीं। कभी-कभी विभक्ति संज्ञा से मिला कर लिखी जाती है और कभी-कभी संज्ञा से अलग। इस प्रकार की विषमताएं या विशेषताएँ अन्य भाषाओं में न होने के कारण तद्भाषाभाषियों को विभक्तियों के प्रयोग में अधिक सतर्कता बरतनी पड़ती है और हिंदी सीखने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है।

जटिल लिंगभेद—हिंदी में दो ही लिंग होने के कारण हिंदीभाषियों को भी लिंग-निर्णय में कठिनाई होती है। जिनकी भाषाओं में तीन या उससे अधिक लिंग होते हैं, उन हिंदीतरभाषियों को इसमें अधिक कठिनाई होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हिंदी में पुरुष की 'मूंछ' स्त्रीलिंग है और स्त्री का 'स्तन' पुंलिग। एक ही अर्थबोधक दो शब्द दो लिंगों में प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'पक्षी' पुंलिंग और 'चिड़िया' स्त्रीलिंग। 'दही', 'घी' आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो कि कुछ प्रांतों में पुंलिग में और कुछ प्रांतों में स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं।

हिंदी में लिंग के अनुसार क्रिया के रूप में परिवर्तन होता है। इस दृष्टि से भी लिंग का ज्ञान नितांत आवश्यक होता है। अतः मलयालमभाषी, जिसकी भाषा में कर्ता के लिंग के अनुसार क्रिया को बदलने का नियम नहीं है, जब तक इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेगा तब तक क्रिया का सही प्रयोग नहीं कर पायेगा। हिंदी में अकारांत विशेषण के रूप भी संज्ञा के अनुसार बदलते रहते हैं, यथा : अच्छा लड़का, अच्छी लड़की। तथाकथित द्रविड़ भाषाओं में विशेषण अविकारी होते हैं।

हिंदी	अच्छा लड़का	अच्छी लड़की
तेलुगु	मंचि बालुडु	मंचि बालिका
तमिल	नल्ल पय्यन	नल्ल पेन्
मलयालम	नल्ल आण् कुट्टी	नल्ल पेन् कुट्टी
कन्नड़	वळ्ळेद हुडुग	वळ्ळेद हुडिगी

लिंग-निर्णय में कोई स्पष्ट व्याकरण-नियम न होने के कारण हिंदीतरभाषियों को अधिक अभ्यास करना पड़ता है तब ही वे इन ग़लतियों से बच सकते हैं।

संख्या और क्रमवाचक शब्द—संख्यावाचक शब्दों की बनावट में हिंदी और दक्षिण भाषाओं में समानता नहीं है। जहाँ हिंदी में हर संख्या में इकाई संख्या पहले और दहाई संख्या बाद में आती है, वहाँ दक्षिण भाषाओं में इसका ठीक उलटा होता है। उदाहरण के लिए :

हिंदी	तेलुगु	तमिल	कन्नड़	मलयालम
तेईस	इरवैमूडु	इरवत्तु मूंडु	इप्पत्तमूर	इरवत्तिमून्
पचासी	इनमै अइदु	एनबत्त अंजि	एबत्तैदु	एबत्त अंजि

हिंदी में हर दहाई से पहले की संख्या बनाने के लिए उस दहाई शब्द के पहले 'उन' जोड़ना पड़ता है, जैसे उनचास (५०–१=४९), उनहत्तर (७०–१=६९), लेकिन दक्षिण की भाषाओं में इस प्रकार की गड़बड़ी नहीं है। हिंदी में सवा, डेढ़, पौने दो, ढाई, साड़े तीन आदि भिन्नांकों में अपूर्णांक पहले और पूर्णांक वाद में बताया जाता है। लेकिन दक्षिण की भाषाओं में इसका क्रम ठीक विपरीत होता है। इसी प्रकार क्रमसंख्यावाचक विशेषण बनाने के लिए एक से चार तक एक नियम है तो पाँच से भिन्न नियम है। लेकिन दक्षिण की भाषाओं में इसके लिए एक ही नियम लागू होता है। इस कारण भी हिंदीतरभाषियों को हिंदी की संख्याएँ सीखने में कुछ कठिनाई होती है।

बहुरूप क्रियाएँ—हिंदी में तीन कालों के अनेक विभागों में विभक्त किये जाने के कारण तथा क्रिया के साथ संयुक्त क्रियाएं जुड़ जाने के कारण भी क्रिया के अनेक रूप बन जाते हैं। जैसे 'आ' धातु से 'आता', 'आता है', 'आता हो', 'आता होगा', 'आया', 'आया है', 'आया था', 'आया हो', 'आया होगा', 'आया होता', 'आये', 'आयेगा', 'आ जायेगा', 'आया हुआ', 'आया हुआ है', 'आ गया', 'आ गया है', 'आ गया था', 'आ चुका', 'आ चुका है', 'आ चुका हो', 'आ चुका होता', 'आ चुका था', 'आ चुका होगा', 'आ रहा है', 'आ रहा था' आदि अनेक रूप बन जाते हैं। अपनी भाषाओं में इस प्रकार के विभेद न होने के कारण हिंदीतरभाषी इन रूपों को देख कर घबराते हैं।

हिंदी में प्रयुक्त कुछ तत्सम शब्दों का प्रयोग दक्षिण की भाषाओं में भी पाया जाता है, लेकिन कहीं-कहीं उनके अर्थ भिन्न होते हैं। 'शिक्षा', 'श्रद्धा', 'उपन्यास', 'अनुमान', 'प्रमाद', 'प्रपंच', 'प्रस्तुत' आदि कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनका अर्थ क्रमशः 'दंड', 'लगन', 'भाषण', 'संदेह', 'बहुत अच्छा', 'संसार', 'वर्तमान' होता है। दक्षिण भारत के लोग इनके प्रयोग में प्रायशः ग़लती कर जाते हैं।

अरबी-फ़ारसी शब्द—संस्कृत शब्दावली की भरमार प्रत्येक भारतीय भाषा में पायी जाती है। लेकिन मुसलमानी प्रभाव के कारण हिंदी में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी ख़ूब प्रचलन हुआ है, जिनका प्रयोग हमें हिंदी प्रांतों के जनसाधारण की भाषा में भी पाया जाता है, किंतु उन शब्दों के समानार्थक सरल संस्कृत शब्द भी उपलब्ध हैं। हिंदीतरभाषी इन शब्दों से भरी भाषा समझने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। जैसे :

(१) **मुझे इन ख़राब हालतों से बचाने वाला कोई रहमदिल क्या इस बड़ी दुनिया में नहीं है?**

(२) **इन विषम परिस्थितियों से मेरी रक्षा करने वाला कोई दयालु क्या इस विशाल विश्व में नहीं है?**

पहला वाक्य हिंदी वालों को जितना सरल तथा स्वाभाविक और दूसरा कठिन तथा अस्वाभाविक मालूम पड़ता है, उतना ही हिंदीतरभाषियों को पहला कठिन और दूसरा सरल मालूम पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि अरबी-फ़ारसी शब्द बहुलता के कारण हिंदीतरभाषियों को हिंदी सीखने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है।

उच्चारण की समस्या—अपनी भाषाओं में कुछ ध्वनियों का लोप अथवा कम प्रयोग होने के कारण हिंदीतरभाषी उन ध्वनियों का उच्चारण ठीक तरह से नहीं कर पाते। लेकिन जब हिंदीभाषियों द्वारा भी इन ध्वनियों का ग़लत उच्चारण करते हुए सुनते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्य को लीजिए : **'स्टेशन से निकलते ही उस स्त्री ने मुझसे कहा कि आप कृपया स्कूल जा कर स्कंदगुप्त नाटक के अभिनय का प्रबंध समाप्त कीजिए।'** इसके दो उच्चारण-भेद इस प्रकार हैं :

(क) **सटेसन से निकलते ही उस स्त्री ने मुझसे कहा कि आप क्रिप्या सकूल जा कर इसकंदगुप्त नाटक के अभिनय का परबंध समाप्त कीजिए।**

(ख) **स्टेषन से निगलते ही उस स्त्री ने मुछसे कहाम् कि आप कृपया स्कूल जा कर स्कंदगुप्द नाडग के अबिनय का प्रपंथ समाप्द कीजिए।**

उक्त वाक्य का (क) रूप हिंदीभाषियों द्वारा तथा (ख) रूप दक्षिणभाषियों द्वारा बोला जाता है।

भाषाविज्ञान के सिद्धांत के अनुसार परभाषा सीखते समय तद्भाषाभाषी के उच्चारण को प्रमाण मान कर उसका अनुकरण करना आवश्यक होता है। इस सिद्धांत के आधार पर यह सोचना आवश्यक है कि क्या निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण कोष्ठकों में दिये शब्दों की भाँति करना लाज़िम है, क्योंकि इस प्रकार का उच्चारण हिंदी प्रांतों में पाया जाता है : **भाषा (भासा), शमा (षमा). प्रबंध (परबंध), स्कूल (सकूल), स्त्री (इस्त्री), समाप्त (समापत्), राजेंद्र (राजिंद्र), समकालिक (सम्कालिक), ऋषि (रिषि), मातृभूमि (मात्रिभूमि)।**

अधिकांश व्यक्ति यह कहते हैं कि हिंदी में जो लिखा जाता है, वही बोला जाता है, तथा देवनागरी लिपि सर्वथा वैज्ञानिक है। लेकिन इस लिपि में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' तथा तेलुगु और तमिल-मलयालम की कुछ विशेष ध्वनियों के लिए भी कोई लिपि-चिह्न नहीं है। हिंदी में लिखते हैं 'राम' और 'नगर' लेकिन उसका उच्चारण करते हैं 'राम्' और 'नगर्' आदि। इस कारण भी वर्तनी संबंधी भूल होती रहती है। आजकल कुछ भाषावैज्ञानिक इस दिशा में कुछ सुधार लाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि हिंदी के उच्चरित रूप और उसके लिखित रूप में पर्याप्त अंतर आ गया है। उनके कुछ प्रस्तावित सुधार निम्न प्रकार हैं :

(१) 'ष' का उच्चारण 'श' की भाँति हो रहा है, अतः 'ष' वर्ण की आवश्यकता नहीं है।

(२) 'ङ', 'ञ', 'ण', 'न' में से किसी एक वर्ण से काम लिया जा सकता है, अतः शेष वर्णों की ज़रूरत नहीं है।

(३) 'ऋ' का उच्चारण 'रि' जैसा ही होता है, अतः 'ऋ' वर्ण की ज़रूरत नहीं है।

(४) 'ज्ञान' को 'ग्यान' की भाँति उच्चरित करते हैं, अतः 'ज्ञ' वर्ण को हटा सकते हैं।

वर्तनी संबधी अराजकता—हिंदी की वर्तनी में भी अनेक प्रकार की अव्यवस्थाएँ व्याप्त हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित शब्दों का कौन-सा रूप सही है, इसका उत्तर हमें कहीं भी भली भाँति नहीं मिलता :

जाओ, जावो; जाएगा, जायेगा, जावेगा; जाऊँआ, जाऊँगा; आई, आयी; स्थाई, स्थायी; सम्मान संमान; संबंध, सम्बंध, सम्बन्ध, संबंध, हिन्दी, हिंदी; चिन्ह, चिह्न; बहिन, बहन; छः, छह, छ, छै, छय; छओं रूप, छहों रूप; कर्ता, कर्त्ता; इमली, इम्ली; कपड़ा, कप्डा; तरबूज, तर्बुज; छियालीस, छयालीस; अँधेरा, अंधेरा, अँधियारा।

वाक्य-रचना में अंतर—वाक्य-रचना में भी हिंदी और दक्षिण की भाषाओं में भिन्नता है। जैसे :

हिंदी	**जब वह आया था तब मैं इधर नहीं था।**
दक्षिणभाषी रूप	**वह आने पर मैं इधर नहीं।**
तेलुगु	**वाडु वच्चिनप्पुडु नेनु इक्कड लेनु।**
मलयालम	**अवन् वनप्पोल ञान इल्लयिरान्नु।**

कन्नड़	अवनु बंदाग नानु इल्लिरलिल्ल।
तमिल	अवन वरुबोद नान् इगे इल्लै।
हिंदी	उसने बताया कि राम आता है।
दक्षिणभाषी रूप	राम आता है, इति वह कहा।
तेलुगु	रामुडु वच्चननि अतडु चेप्पेनु।
मलयालम	रामन वरुन्नु एन्नु अवन् परयुन्नू।
कन्नड़	रामनु बर्दरिदु अवनु हेळिरु।
तमिल	रामन वरिक्करान डांड्रु अवन् सोन्नार।

वाक्य-रचना में इस प्रकार का अंतर होने के कारण दक्षिण के हिंदी विद्यार्थी प्रायः त्रुटियाँ करते रहते हैं।

जैसा ही ऊपर बताया जा चुका है, हिंदीभाषी भी उपर्युक्त त्रुटियों से मुक्त नहीं रहते लेकिन वे आवश्यक तथा वांछनीय सुधार ला कर भाषा सीखने में सरलता लाने की बजाय यह कहते फिरते हैं कि हिंदी का यह रूप भी सही है और वह रूप भी। इससे राष्ट्रभाषा की उन्नति के स्थान पर हानि ही हो रही है। अवांछनीय अथवा अनावश्यक सुधार लाने के प्रयत्न में जो सज्जन लगे हुए हैं यदि वे सारे भारत को दृष्टि में रख कर सुधार लाना चाहेंगे तो उत्तम रहेगा जिससे हिंदीतर विद्यार्थी कम परिश्रम से हिंदी सीख सके।

—विजय राघव रेड्डी

अंग्रेज़ी की प्रथम भारतीय कवयित्री

तरुलता दत्त

एक यूनानी विचारक ने कहा है कि 'जिनको देवता प्यार करते हैं, वे कम उम्र में मर जाते हैं और बहुत-से लोग इस प्रकार कीर्ति के उच्च शिखर पर पहुँचने से वंचित रह जाते हैं।' यह कथन तरु दत्त के संबंध में अक्षरशः सही जान पड़ता है।

तरु दत्त के नाम के साथ ही इंडो-एंग्लियन कविता की सफलता के द्वार खुलते हैं। तरु जन्म से ही कोमल और क्षीणकाय थी। अपनी संतान के प्रति अतिशय स्नेही पिता गोविंदचंद्र दत्त के संरक्षण में वह पली। उन्होंने उसका पूरी सावधानी से पालन-पोषण किया और उसे कभी

किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दिया। वे कलकत्ते के प्रमुख न्यायाधीश थे, और प्रथम दर्जे के पंडित। संस्कृत और अंग्रेज़ी का उन्होंने खूब अध्ययन किया था।

सन १८५६ में तरु का जन्म कलकत्ता में हुआ। वह गोविंदचंद्र जी की तीसरी संतान और सबसे छोटी बेटी थी। बड़ी बहन अरुणा, जो आजीवन तरु की गाढ़ संगिनी बनी रहीं, तरु से दो साल बड़ी थीं। साहित्य एवं अन्य ललित कलाओं में उन्हें भी अत्यधिक रुचि थी। इन दोनों से बड़ा था भाई अरुण। उसकी पढ़ाई के लिए घर पर ही एक अध्यापक आया करते थे। भाई के साथ-साथ दोनों बहनें भी पढ़तीं। पिता भी, जब कभी समय मिलता, बड़े चाव से बच्चों को पढ़ाया करते थे। इसके उपरांत तरु ने पुस्तकें पढ़ कर और लोगों से सुन कर हिंदुओं की पौराणिक गाथाओं और लोककथाओं से परिचय प्राप्त किया।

इस बीच, सन १८६८ में तरु के भाई अरुण का अचानक देहांत हो गया। अपने एक-मात्र पुत्र के वियोग से गोपीचंद्र और उनकी पत्नी को बहुत बड़ा धक्का लगा। इस विपन्नावस्था में ही उन्होंने जान लिया कि उनकी दोनों पुत्रियों का स्वास्थ्य भी शंका से खाली नहीं है। पुत्र-वियोग की कटुता को भुलाने और पुत्रियों के समुचित दैहिक एवं मानसिक विकास की दृष्टि से गोपीचंद्र ने परदेश-गमन का निश्चय किया।

जब उन्होंने १८६९ में मातृभूमि से विदा ली, तब तरु केवल १३ साल की ही थी। गोविंदचंद्र पहले फ़्रांस के नीस नामक शहर में कुछ दिन ठहरे। यह प्रथम अवसर था जबकि तरु कलकत्ता की सीमित दुनिया को छोड़ कर विशाल विश्व की गोद में आयी थी। उसके मासूम एवं कोमल हृदय पर फ़्रांस ने गहरा असर डाला। वहाँ अल्प समय में ही दोनों बहनों ने फ़्रांसीसी भाषा इतनी अच्छी तरह सीख ली कि वे अच्छी से अच्छी किताबें पढ़ और समझ सकने योग्य हो गयीं।

इसके बाद १८७० से तीन साल तक वे लंदन में रहे, फिर भी तरु को इंग्लैंड से बढ़ कर फ़्रांस ही अधिक आकर्षक तथा आत्मीय लगा। वहाँ रहते हुए उसने अंग्रेज़ी तथा फ़्रांसीसी साहित्य का खूब अध्ययन किया। उसे केवल गद्य में ही नहीं, काव्य, संगीत तथा चित्रकारी में भी काफ़ी रुचि थी। उसने उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड के सुरम्य वातावरण में शांति के साथ अपना कलात्मक रुचि का जीवन व्यतीत किया।

इंग्लैंड से लौटने के बाद दोनों बहनें हल्की-फुल्की काव्य-रचनाएँ करने लगीं, परंतु क़लम की वरदानी तो तरुलता ही थी। अरुणा ने अपनी अधिकांश प्रतिभा तथा ध्यान चित्र-कला और संगीत की ओर मोड़ दिया।

विदेश-यात्रा के बावजूद अरुणा की हालत में ख़ास सुधार नहीं हुआ। और आख़िर १८७४ की एक मनहूस घड़ी में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी।

अरुणा के वियोग से तरु का जीवन अधूरा-सा हो गया। ऐसा एक भी दिन नहीं बीता था जबकि वे दोनों साथ न रही हों। क्या खाना-पीना, क्या खेलना-खिलाना, क्या पढ़ना और क्या घूमना ! जीवन-चर्या में ही नहीं, वे मन से, आत्मा से भी अभिन्न थीं। पिता अपनी पुत्रियों के इस आपसी प्रगाढ़ प्रेम को खूब समझते थे। अतः तरु का चित्त हलका करने के लिए वे उसका

ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करने का यत्न करने लगे। उन्होंने तरु को संस्कृत पढ़ाना आरंभ कर दिया। तरु का भी अब यही एकमात्र सहारा रह गया था। वह संस्कृत की ओर आकृष्ट हुई और संस्कृत के व्याकरण के जटिल नियमों को सीखने में लग गयी।

तरु ने अपना पहला लेख फ़्रांसीसी भाषा में लिखा था जिसमें उसने लोकोंत द लील की कविता की आलोचना की थी। लेख को पढ़ कर एक अंग्रेज़ आलोचक को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि इसकी लेखिका कोई भारतीय हो सकती है, और उसने यही मान लिया कि वह लेख 'तरु दत्त' के छद्म नाम से किसी फ़्रांसीसी ने ही लिखा है।

तरु का सर्वप्रथम काव्य-संग्रह 'फ़्रांस के खेत से काटी हुई फ़सल' (A sheaf gleaned in French fields) का प्रकाशन १८७६ में हुआ था। प्रस्तुत काव्य-संग्रह में लगभग अस्सी फ़्रांसीसी कवियों की कविताओं के अनुवाद हैं। कुछ कविताओं—प्रायः आठ का—अनुवाद तरु की बहन अरुणा दत्त ने किया था। इस काव्य-संग्रह में अधिकांश फ़्रांसीसी साहित्य के रोमांटिक युग की कविताओं के ही अनुवाद दिये गये हैं, और कुछ ऐसे कवि भी सम्मिलित हैं जिनका रोमांटिक आंदोलन से संबंध नहीं था।

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण ने फ़्रांस में आँद्रे तोरिए का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने एक पत्रिका 'Revue des Deux Mondes' में उसकी आलोचना प्रकाशित की। इंग्लैंड में एडमंड गॉस ने भी 'दि एग्ज़ामिनर' में इस काव्य संग्रह का परिचय प्रकाशित किया। उन्होंने इस पुस्तक-समालोचना का मनोरंजक विवरण लिखा है :

"मिस्टर एडमंड गॉस 'दि एग्ज़ामिनर' के कार्यालय में बैठे थे और पत्र के सुप्रसिद्ध संपादक से शिकायत कर रहे थे कि नवीन प्रकाशनों में कोई वास्तव में अच्छी पुस्तक तो ढूंढने से भी नहीं मिलती। जिस समय वे यह कह रहे थे उसी समय एक डाकिया हिंदुस्तान से आया हुआ एक पैकेट ले कर पहुँचा जिसमें एक अजीब रंगों वाली पुस्तक थी, जो भवानीपुर के एक प्रेस में मुद्रित हुई थी। जिन लोगों को कलकत्ता प्रेसों की छपाई और जिल्दसाज़ी की जानकारी है वे समझ सकते हैं कि जिस समय लंदन निवासी पत्र-संपादक ने नारंगी रंग के आवरण-पृष्ठ वाली उस पुस्तक पर छपे हुए रहस्यपूर्ण नामों को पढ़ाते हुए उसे समालोचक की ओर बढ़ाया, उस समय उसे कितना विस्मय हुआ होगा। संपादक ने उस पुस्तक को मिस्टर गॉस की ओर बढ़ा दिया। उन्होंने विक्टर ह्यूगो की एक कविता का अनुवाद तत्काल पढ़ा. . .और, आलोचक का ध्यान आकृष्ट करने के लिए इन पंक्तियों में पर्याप्त सौंदर्य था।"

संपादक ने वह पुस्तक एडमंड गॉस को आलोचना के लिए सौंप दी। मगर एडमंड गॉस ने उसकी जो आलोचना की, उसकी संपादक को ही नहीं, दूसरों को भी आशा न थी। गॉस महाशय इस पुस्तक का मूल्यांकन करने वाले जौहरियों में सर्वप्रथम रहे हैं। फिर अन्य आलोचकों के हाथों में भी वह रचना गयी तथा फ़्रांस और इंग्लैंड की पत्रिकाओं ने उस पर आशातीत पुष्प-वृष्टि कर डाली। तरु ने इस पुस्तक में सिर्फ़ मूल रचनाओं के अनुवाद ही नहीं, साथ में कवियों के परिचय और अपनी टिप्पणियाँ भी दीं, जो उसकी लोकप्रियता में विशेष सहायक सिद्ध हुईं। तरु की टिप्पणियों में उसकी संतुलित आलोचना-शक्ति साफ झलक रही थी।

उपन्यास की ओर भी दोनों बहनों का काफ़ी पहले से ही झुकाव हो गया था। दोनों के मन में बरसों से एक साध घर कर गयी थी। वह यह, कि तरु एक उपन्यास लिखे और अरुणा उसके लिए आवश्यक चित्र बनायें।

तरुलता ने फ़्रांसीसी भाषा में 'ल जुर्नल द मदमाज़ेल दार्वेर' (Le Journal de Mademoiselle d' Arvers) नामक एक उपन्यास भी लिख डाला जिसमें एक फ़्रांसीसी बाला की डायरी के रूप में कथा दी गयी है, जो वास्तव में दिलचस्प है। उस उपन्यास में कथावस्तु की उतनी सूक्ष्मता भले ही न हो, पर उसमें एक मुग्ध किशोरी के आंतरिक भाव-विन्यास का, उसके जीवन की आकांक्षाओं और मानसिक उथल-पुथल का सजीव और सुंदर चित्रण किया गया है। अतः उसका हर तरफ़ हार्दिक स्वागत हुआ।

अरुणा के जीवन-काल में ही दोनों ने मिल कर कुमारी क्लारिस बादेर के एक फ़्रांसीसी उपन्यास का अनुवाद भी आरंभ कर दिया था, किंतु वह पूरा न हो सका। इस कार्य के दौरान में कुमारी क्लारिस बादेर और तरु में गाढ़ी मित्रता स्थापित हो गयी। इस फ़्रांसीसी लेखिका ने ही तरु के उस प्रथम उपन्यास को सँवारा और प्रकाशित करवाया।

इसी बीच तरु का स्वास्थ्य गिरता गया। जाँच होने पर पता चला कि जिस यक्ष्मा ने अरुण और अरुणा की प्राणाहुति ली थी, उसीने तरु को भी जकड़ लिया है। अपने पिता गोविंद-चंद्र के जीवन की अंतिम और एक मात्र आशा की रेखा तरुलता ही बाक़ी बची थी। इसलिए गोविंदचंद्र ने उसके स्वास्थ्य का खूब ध्यान रखा। किंतु परिणाम अनचाहा ही होने को था।

तरुलता को भी मालूम हो गया कि मैं कुछ ही दिनों की मेहमान हूँ, पर इस बार वह हताश नहीं हुई। बुझने से पहले ज्योति प्रज्वलित हो उठी। उसने अपने भीतर असीम चैतन्य-स्रोत और चरम उत्साह का अनुभव किया। अपना अधिकांश समय वह लेखन-कार्य में ही लगाने लगी। उसने खूब कविताएँ लिखीं।

पर धीरे-धीरे वह इतनी कमज़ोर पड़ती गयी कि लिख पाना भी उसके लिए मुश्किल हो गया। फिर वह बहुत दिनों तक जीवित न रह सकी। किसी अज्ञात स्थल में बैठी उसकी प्यारी दीदी शायद अपनी लाड़ली की राह देख रही थी। अपने जीवन के बाईसवें वर्ष सन १८७७ के ३० अगस्त को तरु की इहलीला समाप्त हो गयी।

तरुलता की मृत्यु के पश्चात उसकी मौलिक कविताओं का एक संग्रह 'प्राचीन वीरगाथाएँ और हिंदुस्तानी लोक गाथाएँ' (Ancient Ballads and Legends of Hindustan) प्रकाशित हुआ। इनमें अधिकांश कथाएँ भारतीय पुराणों से ली गयी हैं और केवल कुछ में उसकी मनःस्थितियों या व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है।

यद्यपि तरु को पाश्चात्य शिक्षा मिली थी और धर्म से वह ईसाई थी, परंतु उसने भारतीयता का कभी त्याग नहीं किया। उसने पूर्ण सहृदयता के साथ हिंदू जनश्रुतियों और महाकाव्यों की कथाओं को अपनाया। वह प्रथम महत्वपूर्ण आंग्ल-भारतीय कवियित्री थी जिसने भारत के हृदय को और भारतीय वातावरण को सचाई के साथ अंग्रेज़ी में अभिव्यक्त किया। उसने अपने विचारों

पर अंग्रेज़ी रंग नहीं चढ़ने दिया। वेदांत का उसके काव्य पर स्पष्ट प्रभाव है। अपने देश की सांस्कृतिक परंपरा का गर्व उसमें स्पष्ट झलकता है। सीता, सावित्री, प्रह्लाद, ध्रुव आदि पौराणिक कथाओं का उसने भावुकता और सहृदयता के साथ वर्णन किया है।

तरुलता की अधिकांश कविताओं में आत्माभिव्यक्ति नहीं मिलती। वे प्रधानतया वर्णनात्मक हैं। 'दि लोटस' में उसने कमल की उत्पत्ति का वर्णन किया है। यह एक सॉनेट है और इसमें तरु का सॉनेट पर जो अधिकार दिखायी देता है इसकी तुलना टेनिसन के सॉनेट 'अकबर्स ड्रीम' से की जा सकती है। उसने अनुकांत छंद भी लिखे। इन कविताओं में प्रकृति का बहुत सुंदर चित्रण मिलता है। उसकी वर्णनात्मक प्रतिभा अत्यंत शक्तिशाली थी।

तरु दत्त की साहित्य-सेवा केवल तीन वर्ष के छोटे-से दायरे में ही सीमित रही है। इसका दावा भले ही न किया जा सकता हो कि उसकी कविता सर्वथा निर्दोष थी, फिर भी उसकी भाव-शबलता, प्रकृति का अवलोकन और अंकन, प्रेम और कोमल भावनाओं की सहज अविरलता ने उसकी क़लम की प्रभविष्णुता की धाक जमा दी थी और यह सिद्ध कर दिया था कि उसकी प्रतिभा प्रथम श्रेणी की थी। अकाल मृत्यु का शिकार हो जाने के कारण तरु का साहित्य भले ही अल्प हो, पर उसमें मौलिकता की चिर सुगंधि है, और वह भारतीय साहित्य-क्षितिज पर उज्वल ध्रुव-तारिका बन कर चिरकाल तक जीवित रहेगी।

—अनवर आगेवान,
शिवराजगढ़ (वाया गोंडल), सौराष्ट्र।

गोष्ठी-प्रसंग

विवेचना में 'यह पथ बंधु था'

एनीबेसेंट मेमोरियल हाल में पिछली २१ जून को सायंकाल ६ बजे 'विवेचना' की बैठक में श्री नरेश मेहता के उपन्यास 'यह पथ बंधु था' पर विचार विमर्श हुआ। श्री इलाचंद्र जोशी ने गोष्ठी की अध्यक्षता की और श्री नेमिचंद्र जैन के मुख्य समीक्षा प्रस्तुत की। नेमि जी की समीक्षा के बाद श्री उपेंद्रनाथ अश्क ने अपने विचार व्यक्त किये। अश्क जी ने मुख्य समीक्षा के संदर्भ-सूत्रों से मुक्त हो कर अपना अभिमत व्यक्त किया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में बहस की धुरी मुख्य समीक्षा न रह गयी। यदि 'विवेचना' की गोष्ठी किसी एक पुस्तक या अन्य प्रकार की साहित्यिक उपलब्धि की इकाई पर आयोजित विचार-विमर्श है, न कि परिसंवाद, तो प्रधान लेख से ही बहस को प्रस्रवित होना चाहिए। बाद के अभिमतों में नयी प्रतिवादास्पद बातें उठायी ही न जायँ, यह हमारा मतलब नहीं। हमारा तो यही आग्रह है कि मुख्य समीक्षा को बहस का केंद्र

बनाया जाय। यदि समीक्षा ऐसे बहस की धुरी बन सकने में असमर्थ हो तो यही बात गोष्ठी में उठायी जाय।

अश्क जी ने नरेश जी के 'यह पथ बंधु था' से यह शिकायत थी कि उसे दो-तीन बार के प्रयत्न के बाद ही वे पूरा पढ़ पाये। उन्हें उपन्यास के नायक श्रीधर का चरित्र सदोष और असंगतिपूर्ण लगा। वह अगर '**मूर्ख पोंगा या इंपल्सिव**' होता तो '**यह उपन्यास हिंदी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास बन गया होता।**' उपन्यास में बीच-बीच में बड़ा घपला और अतिरेक है, किंतु अतिरेक बावजूद उपन्यास बहुत अच्छा लिखा गया है। जगह-जगह उपन्यास में बहुत ही अच्छे अंश मिलते हैं और पारिवारिक चित्रण तो अत्यंत सफल हैं। उपन्यास में भाषा संबंधी भूलें भी हैं।

डाक्टर सत्यव्रत सिन्हा ने नेमि जी से सहमति और अश्क जी से असहमति व्यक्ति की। उनकी दृष्टि में होरी के बाद हिंदी उपन्यास में श्रीधर ही एक ऐसा चरित्र आया है जो अत्यंत स्वाभाविक और संवेदनशील है। उसके चरित्र में जो रूमानियत है वह उसके युग विशेष की देन है।

श्री विजयदेव नारायण साही को यह उपन्यास बहुत अच्छा लगा, किंतु उनके मन में कुछ शंकाएँ भी उठीं। उन्हें यह उपन्यास 'स्टिमुलेट' नहीं कर पाया। इसका कारण उन्होंने भी श्रीधर को ही माना, किंतु इसलिए नहीं कि वह 'इंपल्सिव' नहीं है बल्कि इसलिए कि वह '**कन्विंसिंग**' नहीं बन पाया है। उसके चरित्र में 'यूनिटी' नहीं है। उसके कार्यों में असंगतियाँ हैं। अंत तक वह बच्चा ही रह जाता है, वयस्क तो जैसे होता ही नहीं। उपन्यास में आयी हुई स्थितियाँ एक दूसरे की पूरक न हो कर एक दूसरे को खंडित करती हैं। वह अपने भीतर के किसी सत्य का आविष्कार करने के लिए घर छोड़ता है किंतु वह उत्तरोत्तर अकिंचन और निरीह होता जाता है। उनके विचार से श्रीधर साधारण बनना चाहता ज़रूर है, किंतु है वह एक असाधारण चरित्र। यदि सफल न हो पाना ही साधारणता है, तब बात दूसरी है।

अंत में श्री जोशी जी ने अध्यक्षपद से अपनी राय व्यक्त की। उन्होंने बताया कि बहुत दिनों बाद यह एक अच्छा उपन्यास पढ़ने को मिला है। जहाँ तक श्रीधर के चरित्र का प्रश्न है, उसे जैसा होना चाहिए था, ठीक वैसा ही है। उपन्यास की शैली अत्यंत सीधी और नयी है। उसमें कहीं कृत्रिमता नहीं है। सारे उपन्यास को जिस प्रकार 'अंडरटोन्स' में और सहजता के साथ लिखा गया है, वही इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसमें रूमानियत ने कहीं भावुकता का रूप नहीं लिया है। यह उपन्यास कुल मिला कर बहुत ही अच्छा लिखा गया है।

—विवेचक

नयी कविता के नये गीत का संदर्भ

कुछ दिनों पहले 'कल्पना' १४४ में शमशेर जी की एक डायरी प्रकाशित हुई थी, जिसमें उन्होंने मेरे द्वारा संपादित हो रहे 'नये कवियों के नये गीत' के परिपत्र पर कुछ प्रश्न उठाये थे। चूँकि इन प्रश्नों से नयी कविता की सही स्थिति के वारे में एक भ्रम की स्थिति पैदा हो सकती है, इसलिए ज़रूरी है कि उनका निराकरण कर दिया जाय।

पहले अपने परिपत्र का मज़मून पेश कर दूँ, फिर शमशेर जी के प्रश्नों को उठाऊँ। परिपत्र की पंक्तियाँ थीं :

"नयी कविता पर अस्पष्टता, अर्थ-शून्यता, और गद्यात्मकता का दोष मढ़ने वाले विद्वान आलोचकों ने संभवतः इस तथ्य पर विचार नहीं किया कि सहज मानवीय अनुभूति निश्छल तथा अकृत्रिम भूमि पर ही टिकने में अपनी सार्थकता मानती है। टेक, तुक, छंद के अन्वेषी आलोचक के लिए इस प्रश्न से बच कर निकल जाना आसान हो सकता था, किंतु नये कवि की उदार और ऊर्ध्व-मुखी चेतना का क्या हो? उसके लिए तो यह जीवन-मरण का प्रश्न था।

नये कवि ने इस प्रश्न को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया और शायद इसीके उत्तर में उसने कृत्रिम और सच्चे गीतों का अंतर स्पष्ट करना प्रारंभ किया, मोटे-मोटे आलोचना-ग्रंथों के द्वारा नहीं, बल्कि सर्वथा नये और ताज़े गीतों के द्वारा।"

इसपर शमशेर जी का पहला प्रश्न है—क्या वह भूमि टेक, तुक, छंद को छोड़ कर ही प्राप्त की जा सकती है?

कहना न होगा कि कविता अपने जन्मविंदु पर कृत्रिम शिष्टाचारों की कायल नहीं थी। जीवन की निश्छलता, शुद्धता और भावों की सरलता का जितना अकृत्रिम और निश्छल वर्णन ग्रामगीतों (लोकगीतों के पूर्वरूप) में मिलता है उतना परवर्ती शिष्ट, शिक्षित (टेक, तुक, छंद-युक्त) कविता में नहीं मिलता। यह सही है कि शिष्ट गीत, टेक, तुक, छंद की व्यापक और विस्तृत भूमि पर उतर कर भी आचार्यों की शास्त्रीय रूढ़िप्रियता के कटघरे में चक्कर काटने लगा। जो टेक, तुक, छंद भक्तिकालीन कवियों की राग-रागिनियों के माध्यम से सरल मन की सरल निष्ठा को वाणी दे रहे थे, वे रीतिकाल तक आते-आते सरल अभिव्यक्ति के पाँवों की ज़ंजीर बन गये, आत्मा पर पहाड़ बन कर बैठ गये।

अपनी शास्त्रीय संगीत परंपरा को पीछे छोड़ कर रवींद्र ने जो अपना अलग रास्ता (शिष्ट गीतों और लोकगीतों के बीच का) अपनाया, उसका कारण सिर्फ़ इसी टेक, तुक, छंद के बँधे और पूर्व नियोजित पैटर्न से मुक्ति पाने का था।

मुझे लगता है कि आधुनिक मन की चेतना में रँगी कविता को लिखने के लिए टेक, तुक, छंद को छोड़ने या उनमें दक्षता प्राप्त करने का प्रश्न उठाना ही उचित नहीं है। निराला जी ने गीत की कठोरतम सीमाओं के भीतर भी गीतों की निश्छल तथा अकृत्रिम भूमि की खोज की है और ठाकुरप्रसाद सिंह या केदारनाथ सिंह ने गीत के बँधे-बँधाये पैटर्न से अलग हट कर भी सर्वथा ताज़े गीत दिये हैं।

आज जिसे आधुनिक बोध की चेतना नहीं मिली है, वह टेक, तुक, छंद में पारंगत हो कर भी नये गीत की भावभूमि पर उतर पाने में असमर्थ है। उदाहरण के लिए कविसम्मेलनों के पागल, निर्मोही, कुसुमाकर जैसे सैकड़ों उपनामधारी कवि हमारे सामने हैं।

प्रश्न है, ये कवि टेक, तुक, छंद छोड़ कर भी—अभिव्यक्ति की निश्छल और अकृत्रिम भूमि पर कभी उतर पायेंगे क्या?

फिर अस्पष्टता पर विचार करते हुए शमशेर कहते हैं : **"फिर, क्या, नयी कविता, हिंदी में अगर मेरी ही कविता लें तो वह, अस्पष्ट नहीं है?"** ज़रूर है, किंतु वह आपकी या आज की कविता की उपलब्धि नहीं है। वह आज की कविता की दुर्बलता है और आज के बहुत सारे कवियों की आत्मप्रवंचना से उत्पन्न हुई है। यह सुखद समाचार है कि विश्व के सारे प्रबुद्ध कवि इससे मुक्त होने का प्रयास करते दीख रहे हैं। पश्चिम में भी डायलन टॉमस की अस्पष्टता या इब्सन की कांप्लेक्सिटीज़ से निकल कर फ़िलिप लार्किन, आमिस, टेड ह्यूक्स और वेन जैसे कवियों ने लिखना प्रारंभ किया है। कुहरिल भावुकता का भी इन कवियों ने बहिष्कार किया है। हिंदी में नयी कविता के नाम पर चलने वाली बहुत सारी कविताओं में इसका अभाव है, अत: यदि उनमें अस्पष्टता और अर्थशून्यता है तो आश्चर्य नहीं।

इस कमज़ोरी का तिरस्कार पाठकों ने कविता के प्रति अपनी उदासीनता दिखा कर और आलोचकों ने झुंझला कर समसामयिक सारे नये सृजन को कृत्रिम, अस्पष्ट और अर्थशून्य कह कर किया। पाठकों का यह रुख तो कुछ हद तक क्षम्य हो सकता है, किंतु आलोचक तो नीर-क्षीरविवेकी होता है, वह इतना रूढ़ क्यों हुआ?

मैं एक प्रश्न रखता हूँ, कि क्या यह हक़ीक़त नहीं है कि अस्पष्ट और अर्थशून्य कविताओं के साथ ही कुछ अच्छी कविताएँ भी उपेक्षित पड़ी हैं?

मेरा लक्ष्य आलोचकों को इसी प्रवृत्ति की ओर इंगित करना था। जहाँ ईमानदारी की बात नयी कविता में अस्पष्टता या अर्थशून्यता के होने की है वहीं उसके अपनी अंतरात्मा में सरल और निर्मल होने की भी है। नयी कविता ने निश्चित रूप से पहले के वैटिक रोब्ज़ को उतार फेंका है।

आज की नयी कविता साधारण पाठक की ज़बान की कविता है। जैसे एक व्यक्ति बातचीत करता है, गप्पें लड़ाता हे, हँसता है, रोता है, उसी प्रकार नयी कविता भी बिना किसी कृत्रिम घटा-टोप के सरल बातचीत के लहजे में उतर आयी है।

शास्त्रीय परंपरा का आलोचक नयी कविता की इस सरल भूमि का दर्शन नहीं कर पाता जिसे आज की नयी कविता ने अपनी लंबी यात्रा के दौरान में प्राप्त किया है। नयी कविता की

यह एक विशिष्ट और सम्माननीय उपलब्धि है, जो उसे पूर्ववर्ती सारे कविताओं से अलग करती है और यही भूमि है जहाँ से नयी कविता के भीतर उसी के समानांतर ही चलने वाले नये गीत का जन्म होता है। तात्विक रूप से नया गीत, नयी कविता से अलग नहीं है। रूपगत भिन्नता जरूर है उसमें, लेकिन आधुनिक मन का बोध दोनों प्रकार की रचनाओं का प्राणबिंदु है।

जहाँ यह सदा आवश्यक नहीं कि हर नयी कविता अपने स्वभाव में लिरिकल ही हो, वहाँ नया गीत लिरिकल सांग का प्रभाव उठाता हुआ उत्पन्न होता है। गेयता नये गीत में होती है, किंतु अपने स्वच्छंद और मुक्त रूप में । परंपरावादी संगीत का बंधन नये गीत पर नहीं हो सकता, जबकि या बंधन पूर्ववर्ती गीतों के लिए आवश्यक था। भक्तिकालीन कवियों के गीत या छायावादियों के गीतों की कसौटी थी : **'नृत्यं वाद्यं गानं त्रयं संगीतमुच्यते।'** नये गीत की सार्थकता वहीं सफल हो जाती है जहाँ वह संगीत का प्रभाव छोड़ता हुआ किसी आधुनिक भावबोध को वाणी देता है।

रचना की प्रक्रिया की दृष्टि से नया गीत नये कवियों के लिए भी एक कसौटी है और एक चुनौती भी। जहाँ आधुनिक चेतना का बोध, युग की जटिल बौद्धिकता, मन के सामाजिक और व्यक्तिगत संदर्भ में आज के व्यक्ति का आंतरिक संकट आदि नयी कविता में डिस्टिंक्ट रूप में उभरते हैं, वहीं इन्हीं स्थितियों को भोगने वाले और इन्हीं को वाणी देने वाले नये कवि के गीत में इनका डिस्टिंक्ट रूप ओझल रह जा सकता है, जिसका नतीजा हो सकता है कि हम किसी नये कवि के प्रेमगीत को किसी छायावादी के गीत से कनफ्यूज़्ड कर दें। किंतु यहीं सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है। आधुनिक चेतना को समर्पित हुए नये कवि के हृदय और मस्तिष्क में आज के बदलते हुए मानव-मूल्य, जटिल युगबोध, व्यक्ति का आंतरिक संघर्ष यह सब पिघल कर एकाकार हो जाते हैं। फिर वह कवि जब प्रेम का गीत भी गाता है तो उसका रोमैंटिसिज़्म भी डिरोमैंटिसाइज़ेशन की प्रक्रिया से छन कर होता हुआ आता है, कवि के चारों ओर के संदर्भों और परिवेशों का आलाप कवि के आधुनिक मन के बुद्ध बोध के रूप में उतर आता है। इस समय रीज़निंग्स आधुनिक मन की आंतरिक लय में घुलमिल जाती हैं और फिर एक नया गीत जन्म लेता है। कह सकते हैं कि नये कवि का नया गीत युग के ठोस अनुभवों और अनुभूतियों का लयात्मक तरल स्वरूप है।

जिस प्रकार पहले की कविता के लिए छंद का बंधन आवश्यक था, उसी प्रकार आज की नयी कविता के लिए मुक्त छंद भी अनिवार्य शर्त समझा जा रहा है। इस तरह नयी कविता एक बंधन से मुक्त हो कर दूसरे बंधन की लपेट में आ गयी है।

नया गीत इस दिशा में नयी कविता को पुनः मुक्त करने का प्रयास हो सका है। नयी कविता के नये गीतों में निश्चित रूप से पहले के शास्त्रीय छंद और आज के मुक्त छंद के बीच अभिव्यक्ति के लिए कहीं अधिक लचीला माध्यम तैयार हो रहा है।

—उदयभान मिश्र,
संपादकीय हिंदी विभाग,
प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय,
दिल्ली-६ ।

अभिमत

—जगदीश गुप्त द्वारा चित्रित आवरण चित्र ने मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया है। सचमुच एक साहित्यिक पत्रिका का आवरण चित्र जैसा होना चाहिए आपने वैसा ही दिया है।

—सत्यनारायण 'नाटे', डालटनगंज।

—'माध्यम' के दोनों अंक उत्सुक प्रतीक्षा के साथ देखे। पत्रिका का संपादन सचमुच राष्ट्र-भाषा की गरिमा के अनुरूप हो रहा है।

—जगदीश गोयल, दिल्ली।

—'माध्यम' के दोनों अंक देख कर मुझे बेहद खुशी हुई। आवरण देख कर ही जिस साहित्यिकता और सुरुचिसंपन्नता का बोध होता है, वह भीतर की सामग्री देख कर द्विगुणित हो उठता है। बँगला की विशिष्ट साहित्यिक पत्रिकाएँ देख कर जो हूक मन में उठती थी, 'माध्यम' को देख कर शांत हुई है। रचनाओं का चयन बहुत सुंदर है। कविताएँ दूसरे अंक की दुर्बल रहीं। **—नवल, कलकत्ता।**

—'माध्यम' का प्रवेशांक और जून का अंक देखा। बहुत भाया। इस अंक की सामग्रियाँ और भी महत्वपूर्ण एवं सफल लगीं। प्रत्येक स्तंभ एक ठोस उद्देश्य की गहराई लिये पूर्ण है, कोई मिलावट नहीं।

—गोपाल भागलपुरी, मुज़फ्फरपुर।

—हाल ही में सर्वेश्वर जी के पास माध्यम का एक अंक देखा। बहुत पसंद आया।

—अमीक़ हनफ़ी, इंदौर।

—'माध्यम' का जून अंक हाथों में है। लगभग सब पढ़ गया हूँ। सब सामग्री उच्च कोटि की है। 'सहवर्ती साहित्य' से आप परिचय करा रहे हैं, यह किसी भी भाषा के लिए शुभ है। 'प्रतिपत्तिका' एक अच्छा स्तंभ

—'माध्यम' प्रगति पर है, होना ही था।... 'माध्यम' से बड़ी आशाएँ हैं। यह अवश्य ही एक समर्थ पत्रिका बनेगी।

—लक्ष्मीचंद्र जैन, कलकत्ता।

—'युगांत' की भाषा संस्कृतमय है और उसमें काव्य जैसा आनंद है। 'औक़ात' का अंदाज़ा बहुत बढ़िया रहा। इन दो शब्दों में आपने एक लेख की बात कह डाली।...'माध्यम' के लेखों' की भाषा सरल होनी चाहिए।

—बनारसीदास चतुर्वेदी, फ़िरोज़ाबाद।

—सुरुचिपूर्ण, सादे, सौम्य आवरण पर नज़र टिकी रह गयी। दिनकर सोनवलकर जैसे तरुण कवि की 'आस्था' की नींव ठोस है।

—सुभाष घोष, अंबिकापुर (म० प्र०)।

—यह मासिक पत्रिका शीघ्र ही हिंदी साहित्य में अपना सर्वोच्च स्थान बना लेगी।

—बनवारीलाल ढाकरिया 'अखिलेश', जबलपुर।

—आपका यह युगांतकारी प्रयास निश्चय ही अप्रतिम एवं स्तुत्य है। मेरी तो निश्चित धारणा है कि 'माध्यम' नये युगबोध के लिए कालजयी प्रतिमान सिद्ध हो कर रहेगा। हर विधा में 'माध्यम' अद्वितीय लगा। श्री जगदीश गुप्त का आवरण-शिल्प तो सोने में सुगंध ही है।

—दीनेंदु भारती, मुज़फ्फरपुर।

—'माध्यम' २ में जैनेंद्र के 'समय और हम' पर श्री हर्षनारायण की विवेचना बहुत पसंद आयी। उन्होंने बड़े सटीक ढंग से विषय को लिया है और भारतीय चिंतन की कमज़ोरियों को उघाड़ा है। यह देश सूडो-अध्यात्मवाद से बेतरह पीड़ित है और आलोचनात्मक दृष्टि के अभाव में कठिन मनोजड़ता का शिकार बनता जा रहा है। रमेश बक्षी की कहानी भी काफ़ी पसंद आयी।

—महेंद्र कुलश्रेष्ठ, होशियारपुर

है। 'विवेचना' का स्तर आम पत्रिकाओं की विवेचना से निःसंदेह ऊँचा उठ गया है। कहानी दोनों पसंद आयीं। गीतों में, 'प्रभात' और उमाकांत मालवीय के गीत उल्लेखनीय हैं। इतनी स्वस्थ सामग्री के लिए एक बार फिर बधाई। **—यशवंत, बरेली।**

—'माध्यम' के दोनों अंक पढ़ गया। हर्ष हुआ कि मुद्दत के बाद एक सुरुचिपूर्ण और संतुलित विचारों का मासिक प्रकाश में आया। नये अंक की दोनों कहानियाँ कैशोरीय भावुकता और रोमैंटिक एप्रोच लिये हैं। 'मलयज' की परिमल गोष्ठी पर टिप्पणी उन कई टिप्पणियों से अधिक विचारपूर्ण, उत्तेजक है जो इधर-उधर पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं।

—रवींद्र कालिया, नयी दिल्ली।

—हास्यव्यंग्य को भी स्थान दें तो मुझे और प्रसन्नता होगी।

—पांडेय शिवचंद्र 'मधुप', मुजफ्फरपुर (बिहार)।

—विश्वास है, इस पत्रिका के द्वारा हिंदी साहित्य में एक नये युग का जन्म होगा।

—तिजारिया, आगरा।

—'माध्यम' २ प्राप्त हुआ। 'सहवर्ती साहित्य के अंतर्गत मराठी साहित्य पर डॉ० माचवे का लेख जल्दी में लिखा हुआ जान पड़ता है। अनुवाद के लिए उन्होंने जो कविताएँ चुनी हैं उनसे भी मुझे असंतोष है। श्याम परमार तथा रमेश कुंतल मेघ के निबंध एवं हर्षनारायण की समीक्षा अंक की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। **—दिनकर सोनवलकर, दमोह।**

—'माध्यम' का प्रवेशांक मिला था। बहुत सुंदर निकला है। हिंदी में 'विविध-विषय-विभूषित' पत्र-पत्रिकाओं का अभाव नहीं है। लेकिन हाँ, विशुद्ध साहित्यिक पत्र की कमी बहुत खटकती थी। इस कमी को दूर करने में 'माध्यम' समर्थ एवं सक्षम होगा, ऐसी मेरी धारणा है। प्रवेशांक से इस धारणा को बल मिलता है। **—कमल जोशी, जमशेदपुर।**

—'माध्यम के मई तथा जून के अंक दिखे। सभी सामग्री अत्यंत उच्च कोटि की एवं उपयोगी है। 'सहवर्ती साहित्य' शीर्षक स्तंभ अत्यंत महत्वपूर्ण योजना है।

—राजेंद्र सक्सेना, बंबई।

—'माध्यम' वस्तुतः हिंदी की उच्चस्तरीय पत्रिका है। 'माध्यम' के दूसरे अंक में अंबादत्त पंत, श्याम परमार और रमेश कुंतल मेघ के लेख; 'प्रभात', उमाकांत मालवीय और श्यामसुंदर घोष की कविताएँ मुझे बहुत अच्छी लगीं। श्याम परमार और रमेश कुंतल मेघ के लेखों में विस्तार के साथ गहराई भी है, जो पाठकों को कुछ समझने-सोचने का विस्तृत क्षेत्र प्रदान करती हैं। हाँ, रमेश बक्षी की कहानी और 'प्रतिपत्तिका' के अंतर्गत रवींद्र भ्रमर का अपना दृष्टि-विंदु पाठक के मन-प्राणों को झकझोर देते हैं।

—अजित शुकदेव, मुजफ्फरपुर।

शब्द संख्या	प्रथम दो खंड प्रकाशित	पृष्ठ संख्या
प्रथम खंड २१९४८	आकार	प्रथम खंड ६१८
द्वितीय खंड २११२७	डिमाई चार पेजी	द्वितीय खंड ५९९

प्रति खंड का मूल्य पचीस रुपये

प्रकाशन के पूर्व आर्डर देने पर ५ खंडों का मूल्य सौ रुपये

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

प्रकाशक तथा मुद्रक : रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

माध्यम

वर्ष २ : अंक ९
जनवरी १९६६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

निमित्तमात्रं भव

जनवरी १९६६
वर्ष २ : अंक ९
पूर्णांक : २१

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविता

कहानी

सहवर्ती साहित्य

माध्यम

अंक २२ में :

●●

सूचना

कई व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण 'माध्यम' का 'केरल विशेषांक' फ़रवरी '६६ में न निकल कर मई '६६ में प्रकाशित होगा।

●●

बालकृष्ण राव

खुल गये निर्गम के द्वार

आज सत्रांत हुआ
वर्षों की एकनिष्ठ साधना की
सारी उपलब्धियाँ
गुरु को समर्पित कर
शिष्य कृतकार्य हुए।
खुल गये निर्गम के द्वार,
लंबी साँस छोड़ी अजगर ने:
एक और पीढ़ी नये स्नातकों की
निकली,
और पिछले पदचिह्नों को रौंदती चली गयी।

यों ही साँस छोड़ता है अजगर
हर सत्रांत पर,
यही द्वार खुलते हैं;
सारी अर्जना का भार गुरु को समर्पित कर,
हल्की हो,
इसी देहली को लाँघ,
इन्हीं पदचिह्नों को रौंदती,
स्नातकों की एक नयी टोली हर बार चली जाती है।

घटता नहीं है ज्ञान, दान कर देने से
प्रत्युत बढ़ जाता है:
हर सत्रांत पर
विदा कर उत्तीर्ण शिष्यों को
गुरु कुछ और ज्ञानवृद्ध नज़र आते हैं।
आयु बढ़ती है गुरु की ही यहाँ,
शिष्यता अजर है।

अभी-अभी
अजगर फिर खींचेगा साँस,
कुलपति का आँगन
फिर भर जायगा।

●

सेठ गोविन्ददास

मैं कौन हूँ

(आचार्य रजनीश जी से हुई एक चर्चा के आधार पर)

महर्षि रमण से किसी ने पूछा, "मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूँ, क्या आप करा सकेंगे?" श्री रमण ने कहा, "ईश्वर के दर्शन नहीं, लेकिन तुम्हें ईश्वर बना सकता हूँ।" वस्तुतः हम जिसे देख सकते हैं, वह हमारा स्वरूप नहीं हो सकता और यदि परमात्मा हमारा स्वरूप है, तो उसका दर्शन असंभव है। परमात्मा के नाम से जो दर्शन हमें होते हैं, वे हमारी ही कोई कल्पनाएँ होंगी। आत्म-दर्शन असंभावना है। यह शब्द ही असंगत है।

धर्म के साहित्य में बहुत स्थानों पर कहा गया है—'स्वयं को जानो।' वैसे जो भी जाना जा सकता है, वह 'परे' होगा। 'स्व' तो वह है, जो जानता है। 'स्व' अनिवार्य रूप से ज्ञाता है। उसे किसी भी उपाय से ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। जहाँ भी ज्ञान की घटना संभव होती है, वहाँ कुछ जाना जाता है और कोई जानता है। जो जानता है, उसे ही जानने की चेष्टा आँखों को उसी आँख से देखने के समान है। खेल में कुत्ते अपनी पूँछ पकड़ने की चेष्टा करते हैं। वे जितनी तीव्रता से झपटते हैं, पूँछ उतनी ही शीघ्रता से हट जाती है। यह हो भी सकता है कि कुत्ता अपनी पूँछ पकड़ ले किंतु स्वयं को ज्ञेय बनाना संभव नहीं है।

फिर आत्म-ज्ञान का क्या अर्थ होगा? क्या आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता? क्या आत्म-ज्ञान की सारी बातें व्यर्थ हैं? नहीं, आत्म-ज्ञान हो सकता है, लेकिन ज्ञान का सामान्यतः ज्ञेय से जो संबंध है और जो अर्थ है उससे बहुत ही भिन्न और विपरीत अर्थों में। जगत की सारी वस्तुएँ ज्ञेय की भाँति जानी जाती हैं। स्वयं को तो ज्ञेय की भाँति जानने का प्रश्न ही नहीं। उसे जानने की विधि तो यह है कि चित्त के समक्ष यदि कोई ज्ञेय न रह जाय तो उस निर्विषय चैतन्य में जो अनुभूति होती है, वही आत्म-ज्ञान है। यद्यपि उसे आत्म-ज्ञान कहना ज़रा भी उचित नहीं, क्योंकि वहाँ न कोई ज्ञाता है और न कोई ज्ञेय है। वहाँ कोई भी द्वैत नहीं है। ज्ञान तो दो के बीच का संबंध है। वहाँ न दो है, न कोई संबंध। इसलिए उसे, अच्छा हो कि 'जानना' न कह कर 'होना' कहा जाय। वह ज्ञान न हो कर अनुभूति है। चूँकि मनुष्य की सारी भाषा द्वैत पर खड़ी है, और अद्वैत अनुभूति से प्रकट करने के लिए उसके पास कोई संकेत नहीं है, इसलिए कहा गया है कि सत्य के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। लावोत्से का वचन है: 'जो भी कहा जायगा वह असत्य होगा।' फिर कहे बिना कोई उपाय नहीं और जिन्होंने सत्य को अनिवर्चनीय कहा है, वे जीवन

भर सत्य के ही विषय में बोलते रहे हैं। इस असंगति के पीछे बड़े गहरे कारण हैं। ज्ञान कहा नहीं जा सकता, इसे वे जानते हैं और प्रेम बिना कहे रहने नहीं देता। जो उन्होंने जाना है, जो उन्होंने पाया है, गूँगे के इशारे ही सही, किसी भी भाँति जीवन के अंधकारपथ पर लड़खड़ाते सद्‌यात्रियों को अपनी अनुभूति जता देना चाहते हैं। उनके शब्दों को जो पकड़ लें, वे नासमझ हैं। शब्दों को फेंक दें, इशारे को पकड़ लें। शब्दों को पकड़ने से संप्रदाय बन जाते हैं और इशारों को पकड़ने से साधना का जन्म होता है। कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, कन्फ़्यूशियस या लाओत्से के शब्द तो भिन्न हैं किंतु इशारा एक है।

आत्मज्ञान की खोज में जो व्यक्ति आत्मा को एक ज्ञेय पदार्थ की भाँति खोजने निकलते हैं, वे भूल में पड़ जाते हैं। जैसे आत्मा को ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता, वैसे ही उसे किसी आकांक्षा का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि जिसे पाना है, वह पाने वाला ही है। खोज और खोजी भिन्न नहीं हैं। और आत्मा को केवल वे ही जान पाते हैं जो सब जानने से शून्य हो जाते हैं। जब जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता तो चेतना स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाती है और जब पाने की कोई भी दौड़ नहीं रह जाती, तब हम उस स्थान को जान जाते हैं, जहाँ हम सदा से खड़े हैं। बुद्ध को जब समाधि उपलब्ध हुई और किसी ने उनसे पूछा कि उन्हें समाधि से क्या मिला तो उन्होंने कहा, "मिला कुछ भी नहीं, और खोया बहुत कुछ। वासना खोयी, विचार खोये, सब भाँति की दौड़ खोयी और पाया वही जो सदा से पाया हुआ है और जिसे कभी भी खोया नहीं था।" जो सदा से पाया हुआ है, जिसे कभी खोया भी नहीं जा सकता, उसका ही नाम 'स्वरूप' है। इस 'स्वरूप' को जानना है तो उसका उपाय यही है कि जो कभी खोया हो, या कि जिसे खोया जा सकता हो, उन सबसे स्वयं ही छोड़ दिया जाय। फिर जो शेष रह जाता है, वही 'स्वरूप' है। वेदांत के नेति-नेति के महावचन का यही अर्थ है, वह स्वरूप को पाने की विधि है। जो-जो प्रज्ञा में विषय बनता है, जानता है कि 'यह भी मैं नहीं, 'यह भी मैं नहीं'। इस भाँति जब कोई भी विषय कहने को न रह जाय कि 'यह भी मैं नहीं', तब उस निर्विषय और निर्विकल्प बोध में जो मैं हूँ, उसका उद्‌घाटन अथवा अनुभूति होती है और यह मान लिया जाता है कि मैं कौन हूँ।

—अध्यक्ष, प्रथम शासन निकाय,
हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

कुमार विमल

'बीट जेनरेशन'

कुछ लोगों का कहना है कि 'बीट जेनरेशन' अमरीकी तरुणों की अश्लील वृत्ति,[१] नैतिक या मानसिक अशक्तता और भ्रांत जीवन-दृष्टि का एक साहित्यिक प्रतिफलन है। इन अमरीकी तरुणों को कई आलोचकों ने 'अविकसित आत्मा का मनुष्य' कहा है, क्योंकि इन्हें ऐसे काम बहुत रुचिकर हैं—मोटर-गाड़ियों को ख़ूब तेज़ी से हाँकना, कामुक व्यापारों में लीन रहना, 'मारिजुआना'[२] या 'पेयोट'[३] जैसे नशीले पदार्थों का सेवन करना।[४] 'बीट जेनरेशन' के कवियों को जिस प्रकार 'मारिजुआना' या 'पेयोट' जैसे नशीले पदार्थ का सेवन प्रिय है, उसी प्रकार फ़्रेंच कवियों के बीच बॉद्लेयर को अफ़ीम और 'हशिश' के सेवन की लत थी। इन नशीले पदार्थों की कृत्रिम उत्तेजना के द्वारा बॉद्लेयर को जीवन के दैनंदिन यथार्थों से पलायन करने में सुविवा होती थी और उसे कई प्रकार के मानसिक इंद्रजालों से गुज़रने का रोमानी अनुभव होता था, जिसका काव्यात्मक अंकन उसने 'दु में एत दु हशिश' और 'ले पारादिस आर्तिफ़िसिये' शीर्षक रचनाओं में किया है। किंतु, 'बीटों' और बॉद्लेयर या गोतिये जैसे कवियों के मादक द्रव्य-सेवन में यह अंतर है कि ये लोग ध्वनि और रंग या गंध और वर्ण इत्यादि से संबद्ध ऐंद्रिय बोधों के विपर्यय के लिए, अर्थात 'साइनेस्थेसिया' के लिए नशे का सहारा लेते थे। इसका प्रयोग बॉद्लेयर ने 'पोएम दु हशिश' और रिंबॉ ने 'ले इल्युमिनेशंस' शीर्षक रचनाओं में किया था। किंतु, 'बीट जेनरेशन' के लिए 'मारिजुआना' या 'पेयोट' जैसे मादक द्रव्य-सेवन का उद्देश्य काव्यात्मक प्रेरणा अथवा मानसिक

---

१. उदाहरण के लिए एलेन गिंसबर्ग की 'द लॉयन फ़ॉर रियल' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं।

२. इसे 'मारिहुआना' भी कहते हैं। यह प्रमीली—(अफ़ीम के सार से निर्मित एक उपशामक औषधि) या कोकेन से भिन्न पदार्थ है। यह मलबेरी परिवार के 'कनाबिस सटिवा' या 'हेंप' नामक पौधे के सूखे फूल से बनाया जाता है और नशीले धूम्रपान के उपयोग में आता है।

३. यह 'मारिजुआना' से भी अधिक नशीला होता है। यह मेक्सिको देश का एक प्रकार का मादक द्रव्य है, जो नागफनी की फुनगियों सें बनाया जाता है: इन दोनों नशीले पदार्थों के सेवन से 'बीट जेनरेशन' के कवि चेतन और अचेतन की विभाजक दीवार को तोड़ते रहते हैं; साथ ही अबुद्धिवाद एवं सहजानुभति की दशा में रहना चाहते हैं।

४. 'आइ स्मोक मारिजुआना एव्री चांस आइ गेट'।—एलेन गिंसबर्ग।

इंद्रजाल की प्राप्ति नहीं है। उसका एकमात्र उद्देश्य सामाजिक अवीक्षणों से आक्रांत मस्तिष्क और स्मृति के कठोर नियंत्रण से भावुक मुक्ति की प्राप्ति है--पलायन या छुटकारा है। मतलब यह कि इस 'बीट[1] जेनरेशन' के सदस्य मूलतः 'बुर्जुवा रिबेल्स' हैं, जिन्हें 'न्यू बोहेमियंस' भी कहा जा सकता है। इन्हें समय-समय पर कई नामों से पुकारा गया है। जैसे--'साइलेंट जेनरेशन', 'वेटिंग जेनरेशन', 'गो जेनरेशन' इत्यादि। कुछ लोगों का आक्षेप है कि 'बीट जेनरेशन' के सदस्य अपने व्यक्तित्व की तलछट पर जीते हैं और एक तरह से अस्तित्ववादी हैं। यद्यपि इनका अस्तित्ववाद सार्त्र से भिन्न और 'कीर्कगार्द' के निकट है। दूसरी ओर 'बीट जेनरेशन' के एक-दो विचक्षण सदस्यों का कहना है कि उनकी पीढ़ी तो निर्मम रूप में एक धार्मिक पीढ़ी है, क्योंकि 'बीट जेनरेशन' के कवि ऐसी पंक्ति भी लिखते हैं--'आइ हैव मिस्टिकल विज़ंस एंड कॉस्मिक वाइ-ब्रेशंस'। किंतु 'बीट जेनरेशन' के पास, सही मानी में, आध्यात्मिक मूल्यों और अभौतिक सत्यों के अन्वेषण की कोई भूख नहीं है। वे परंपरा का खुल कर विरोध करते हैं और आत्मसुख को ही आचरण का प्रमाण मानते हैं। वैसे इनका रुचि-विस्तार कम प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि इनका 'बॉप',[2] 'ग़ोटा गो', 'रॉक एंड रॉल', 'हिप्स्टेरिज़्म',[3] और 'मेथड एक्टिंग' से ले कर 'ज़ेन बुद्धिज़्म' एवं नशीले चमत्कारों तक में मन लगता है। अतः इन्हें अतियथार्थवादियों (सुर्रियलिस्टों) की तरह 'एंटी रैशनल' या अतिस्फीत बुद्धिवाद का विरोधी और 'प्रिमिटिव वाइटैलिटी' का उपासक कहा जा सकता है। शायद 'प्रिमिटिविज़्म' के प्रति आसक्ति रख कर 'बीट जेनरेशन' अपनी अबुद्धिवादी प्रवृत्तियों की रक्षा करना चाहता है, क्योंकि यह प्रवृत्तिमार्गी है, 'इंसटिंक्ट्स' की अबाधित प्रेरणाओं पर चलता है, अज्ञानता को ज्ञान से अधिक महत्व देता है तथा विवेकशील चयन या विधि-निषेध की धारणा को मृत्यु का पर्याय मानता है। शायद इसीलिए 'बीट जेनरेशन' को अपचारी या विध्यतिक्रमी भी कहा जाता है।

'बीट जेनरेशन' की भोगवादी प्रवृत्ति और जगत-जीवन के प्रति अनास्था का एक सबल कारण आणविक अस्त्र-युग का हठात आगमन है, क्योंकि आणविक अस्त्र-युग ने 'भविष्य' और 'मृत्यु' की पूर्वप्रचलित धारणाओं को—इन दोनों की अर्थ-व्याप्ति को बदल दिया है। इस संहारक अस्त्र-युग के पहले 'भविष्य' हमारी काल-चेतना और जीवन-दृष्टि का आवश्यक अंग था और उसका घटित होना अनिवार्य था। इसलिए मनुष्य को वैयक्तिक और सामाजिक धरातल पर यह सोचना पड़ता था कि उसका भविष्य कैसे अच्छा या बुरा होगा। किंतु संहारक अस्त्रों के आविष्कार के बाद भविष्य की अच्छाई या बुराई पर सोचना ही व्यर्थ है, क्योंकि अब 'भविष्य' का अस्तित्व ही प्रश्नास्पद हो गया है—भविष्य के अस्तित्व पर ही एक बड़ा प्रश्नवाचक चिन्ह लग

---

१. 'बीट' शब्द का कोशार्थ है--ताल। बैंडमास्टर के डंडे की चोट से व्यक्त होने वाला ध्वनि या संगीत का परिमापित क्रम।

२. इसके आधार पर इन्होंने कई शब्द बनाये हैं--'बेबॉप', 'बॉप प्रोसोडी' इत्यादि।

३. 'हिप्स्टेरिज्म' की भाषा को 'नॉन कम्यूनिकेशन' का माध्यम कहा जाता है। इस तरह 'हिप्स्टेरिज्म' की भाषा 'चुप्पी का संकेत' है।

गया है। संभव है, एक गजर के बाद व्यक्ति या समाज के लिए—समूची मनुष्यता के लिए किसी 'भविष्य' का कोई अस्तित्व ही नहीं रहे। अतः आज भविष्य की चिंता एक अनावश्यक प्रश्न है। भविष्य के सौकर्य और उज्वलता के लिए वर्तमान की बलि देना व्यर्थ है। इस संहारक शक्ति का परिपार्श्विक प्रभाव 'मृत्यु' संबंधी धारणा पर भी पड़ा है, क्योंकि मृत्यु की विनाशक शक्ति एक पूर्णता पर पहुँच गयी है। आधुनिक महासंहारक अस्त्रों के आविष्कार के पूर्व 'मृत्यु' व्यक्ति के लिए एक विराम मात्र थी। कारण, मनुष्य मृत्यु के बाद भी अपनी संतति, साहित्य, कला-सृष्टि अथवा ऐतिहासिक कृत्यों के माध्यम से जीवित रहता आया है। किंतु अब मृत्यु के पास इतनी शक्ति आ गयी है कि वह संपूर्ण मानव-जाति और उसकी सभ्यता-संस्कृति, इतिहास, साहित्य एवं कला को एक बार निगल सकती है। अतः संवेदनशील मनुष्यों का मृत्यु-भय से त्रस्त रहना स्वाभाविक है। 'बीट जेनरेशन' के कवि इसे ही 'फ़ाइनेलिटी ऑफ़ डेथ' कह कर अपने साहित्य में चित्रित करते हैं।

कुल मिला कर 'बीट जेनरेशन' का साहित्य-सर्जन सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक बंधनों से सर्वथा मुक्त है। उनकी रचनाओं में असाधारण वैयक्तिकता का विस्फोट है, जिसके द्वारा उन्होंने आधुनिक युग में प्रचलित 'सामूहिकता के उन्माद' का विरोध किया है। फलस्वरूप उनकी साहित्य-साधना निर्बंध वैयक्तिकता की अपरंपरित अभिव्यक्ति का उन्मत्त प्रयास है और उनका जीवन रागी मन के आदेशों पर चलने वाला आत्मविनाश का कटु-मधु साधन है। अभिव्यक्ति-माध्यम की दृष्टि से संगीत-कला के क्षेत्र में उन्हें 'जाज़'[1] अत्यंत प्रिय है; क्योंकि 'जाज़', उनके अनुसार, आत्मा की आंतरिक स्वतंत्रता का संगीत है और साहित्य के क्षेत्र में उनकी अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम, कुछ विशिष्ट अपवादों को छोड़ कर, कविता है—किंतु ऐसी कविता, जिसका कोई संबंध साहित्य की परंपरित मनःस्थितियों, छंद और व्याकरण से नहीं है। इतना ही नहीं, यह कविता रूप-रंग में भी अभूतपूर्व है। जैसे गिंसबर्ग की अनियमित कविता, जिसे 'हाउल' कहा गया है या जैक मिशेलाइन की 'स्ट्रीट कॉल न्यू ऑर्लियंस' शीर्षक कविता।

अब यह 'बीट जेनरेशन', जो वैयक्तिकता और सामूहिक मृत्यु-भय के अंतर्द्वंद्व से उत्प्रेरित है, अमरीका से बाहर अन्य देशों में विविध नामों से अपना प्रसार पा रहा है। इंग्लैंड के 'क्रोधी तरुण'—'टेड्डी ब्वायज़', जापान के—'सन ट्राइबर्स' और हिंदुस्तान की 'भूखी पीढ़ी' के युवक साहित्यकार[2] इस तथ्य को उदाहृत कर रहे हैं। इसलिए 'बीट

---

१. ऐसा बैंड बाजा, जिसमें पियानो, तुरही, सक्सोफोन, बेंज़ो और ढोल आदि सम्मिलित रहते हैं। इसके उद्भव का संबंध अमरीकी नीग्रो जाति के उस लोक-संगीत के साथ है, जो 'श्वेत संस्कृति' के साथ उनके पार्थक्य का सूचक था। किंतु, 'बीट जेनरेशन' को जाज़ इसलिए प्रिय है कि इसका संगीत विवेकवर्जित अयौक्तिक होता है।

२. जो भुक्खड़ हो कर भी 'अविश्वास्य क्षमता' से युक्त हैं, 'आमिषाशी यौन भावना' के 'आतमंभर' पुजारी हैं, आधुनिक युग की द्वंद्वविलासिता में रस लेते हैं, नांदनिक एवं नैतिक के समांतराल संघर्ष को व्यर्थ मानते हैं और चित्रानुग स्निग्धता से युक्त अपनी उत्कविता के द्वारा

जेनरेशेन' के पक्षधरों का कहना है कि 'बीट जेनरेशन' आधुनिक युग की अंतरराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि है और वह हमारे युग की अस्तव्यस्तता को प्रतिबिंबित करता है।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि अमरीकी 'बीट जेनरेशन' जिस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व कर रहा है—चाहे वह 'जाज़' के प्रेमियों का बेलगाम संगीत हो या चालू फ़ैशनों में अश्लीलता के समावेश का आग्रह हो, उसका प्रतिपक्ष हमें रूस की तरुण प्रवृत्ति में मिलता है, जो रूसी जन-जीवन, शासन-यंत्र, साहित्य और कला के नैतिक संस्कारों का द्योतक है। रूस में 'रॉक एंड रॉल' को वह छूट नहीं है, जो अमरीका में है। 'प्रावदा'[1] के एक लेख[2] से तो यही पता चलता है कि रूस के लोग संगीत तक को नैतिकता के निकष पर परखना चाहते हैं। अमरीका के 'बीट जेनरेशन' को जो 'जाज़'-वादन बहुत प्रिय है और जो 'जाज़'-वादन 'व्वायस ऑफ़ अमेरिका' का सबसे अधिक जनप्रिय कार्यक्रम माना जाता है, उसका रूस में 'जाज़ोमेनिया' कह कर बहुत विरोध किया गया है। रूसी विचारक अमरीकी 'बीट जेनरेशन' की तरह यह मानने को तैयार नहीं है कि 'जाज़ोमेनिया' आधुनिक काल की मूल चेतना का प्रतीक है। रूसी विचारक इसे 'सामाजिक मानस' की रुग्णता मानते हैं और इसे 'बुर्जुआ आर्ट फ़ॉर्म' कह कर हिक़ारत की नज़र से देखते हैं। इस धारणा को व्यक्त करने वाले अनेक निबंध रूस की प्रतिष्ठित समसामयिक पत्रिकाओं[3] में मिलते हैं, जिनमें आधुनिक साहित्य और कला के अंतर्गत व्याप्त अश्लीलता का और उसकी सैद्धांतिक पृष्ठभूमि में काम करने वाले जीवन-दर्शन का घोर विरोध किया गया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह पता चलता है कि 'बीट जेनरेशन' ने आधुनिकता के एक प्रमुख अभिशाप को अपना समाज-दर्शन बना लिया है। आधुनिकता का प्रमुख अभिशाप यह है कि उसने समाज में सांस्थिक अस्थिरता को फैला दिया है, जिसके चलते 'व्यक्ति' कुछ निराश्रित सा हो गया है। पहले पुत्र पिता के धंधे को उत्तराधिकार में प्राप्त कर जीवन-यापन कर लेता था—नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के कंधों पर आराम से बैठी रहती थी, किंतु अब यह स्थिति बदल गयी है। प्रौद्योगिकी के विकास ने व्यवसाय की दुनिया में आशु और तीव्र परिवर्तन को फैला रखा है। गलाघोंट प्रतियोगिता के कारण आज एक व्यवसाय दूसरे व्यवसाय को निगलने के लिए सुरसा की तरह मुँह बाये रहता है। इस तरह आज अधिकांश व्यक्ति और परिवार जीविका की अस्थिरता के ज्वालामुख पर बैठे हुए हैं। दूसरी ओर बृहत पैमाने पर किये गये उत्पादन और सामूहिक संचार एवं आवागमन के साधनों ने व्यक्ति के रुचि-वैचित्र्य को दबोच दिया है। एक प्रकार की और एक प्रयुक्ति की चीजें उत्पादित होती हैं और संचार-सुविधा के कारण एकाएक फ़ैशन की तरह फैल कर

क्षुधार्तवाद या 'हंग्रियलिज्म' को तूल देते हैं। फलस्वरूप इनके काव्यदर्शन को मृत्युमेधी शास्त्र कहा जा सकता है।

१. अगस्त, १९५८ ईसवी।

२. 'इरैडिकेट वल्गैरिटी इन म्यूजिक'।

३. 'प्रावदा', सोविएत्स्क्या', 'युस्तितसिया', 'सोविएत्स्क्या कुल्तुरा' इत्यादि।

समूचे समाज को एकरंग बना देती हैं। फलस्वरूप आज का व्यक्ति 'स्वेच्छा' या 'आत्मरुचि' को आंशिक रूप में भी संतुष्ट नहीं कर पाता है। इन्हीं कारणों से आधुनिक मानव-समाज (सोसाइटी) अपनी प्राणवत्ता और जीवंतता को खो कर धीरे-धीरे 'समूह' (मास) बनता जा रहा है। अतः आज के युवकों में अपने आपको समाज से अलग या असंबद्ध (डिसएफ़िलियेट) करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यही सब देख कर और सोच कर 'बीट जेनरेशन' समाज को 'फ़ोनी' कहता है तथा समाज से पृथक रह कर जीवन के अभिप्राय और यथार्थ को ढूंढ़ना चाहता है। उदाहरणार्थ, एलेन गिंसबर्ग की 'पोएम रॉकेट' शीर्षक कविता में कुछ ऐसा ही प्रयास है।

—द्वारका साहू लेन,
मुसल्लहपुर, पटना-६।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रतिक्रिया

'युगवाणी'-काल में छायावाद का स्वप्न भंग हो जाने पर कविश्री सुमित्रानंदन पंत ने नये जीवन के निरूपण के लिए सन १९३८ में 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन और संपादन किया था। उसके प्रथम अंक के संपादकीय में उन्होंने लिखा था:

कविता से स्वप्न-भवन को छोड़ कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आये...! इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर वास्तविकता के उस नग्न रूप से सहम गयी है। अतएव, इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं चल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषग-सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ा है। और युग-जीवन ने उसके चिर संचित सुखस्वप्नों को जो चुनौती दी है उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।

उस समय पंत जी की उक्त पंक्तियों की ओर मैं गंभीर रूप से आकृष्ट नहीं हुआ था, वयस्क हो जाने पर भी मुझमें मेरा कैशोर्य बना हुआ था, अभाव और वेदना का अनुभव करता हुआ भी छायावाद के भाव-जगत में ही भ्रमण करता था। मैं भी कविता लिखता था, किंतु 'हिमानी' में हिमजल की तरह ढुलक कर मेरा काव्य-स्रोत सूख गया। उस समय इसका कारण व्यक्तिगत ही समझता था। अब इतने वर्षों बाद समझने लगा हूँ कि कारण व्यक्तिगत नहीं, सार्वजनिक था। शोषण और पीड़न ने असमय ही मुझे विरस कर दिया था। चाहे जीवन में हो, चाहे कविता में, रस तो गोरस की तरह रक्त-मांस का ही आसव है, जब शरीर को भरण-पोषण नहीं मिलता तब न तो 'पत्रों का मर्मर संगीत' रह जाता है, न 'पुष्पों का रस-राग-पराग'।

जीवन में नीरस सूनेपन का अनुभव तो छायावाद के युग में भी करता था, 'देवदास' के माध्यम से मैंने अपने ही लिए लिखा था—'तुम महाशून्य के अधिवासी', किंतु उस समय यथार्थ को भी भावात्मक दृष्टि से ही देखता था। सन १९३९ में शरच्चंद्र की दिव्यात्मा देवियों जैसी बहन का देहावसान निराला जी की 'सरोज' की तरह निःसहाय परिस्थिति में हुआ, तब मैं जीवन में पहली बार एकाएक विक्षुब्ध हो उठा, मेरा विक्षोभ समाजवाद का स्वर ले कर 'युग और साहित्य' (सन १९४०) में फूट पड़ा।—कुछ समय बाद श्मशान-वैराग्य की तरह जब मेरा विक्षोभ शांत हो गया, और मैं फिर दैनंदिन जीवन में दत्तचित्त हो गया, तब जस का तस रह गया——यथार्थ का भुक्तभोगी होते हुए भी भाव और आदर्श का अनुरागी।

पृथ्वी पर मैं स्वयं कोई भावादर्श बना कर नहीं आया था, और न जीवन का कोई 'मॉडल' बना कर चला था। जन्म की तरह ही मेरा नवजात हृदय भी कोरा था। उस पर परिव्राजक पिता और मीराँ की-सी साधिका बालविधवा बहन की संस्कृति, कला और करुणा की छाप मेरे अनजाने ही पड़ गयी। देहाती मदरसे में पढ़ते समय गुप्त जी की कविता और महात्मा गांधी के सात्विक नाम ने मुझमें भाव और आदर्श का अनुराग जगा दिया। नगर में आने पर अग-जग से अनजान ऐसे शिशु-हृदय को ब्रह्मलीन स्वामी रामतीर्थ के मधुर अध्यात्म और स्वामी सत्यदेव के ओजस्वी साहित्य से उद्‌बोध और उत्साह मिला। सन १९२१ में (गांधी-युग के आरंभ में) मेरे ग्रामीण हृदय के अनुरूप ही खादी अनायास मेरा परिधान बन गयी। बालहंस की तरह मैं इधर-उधर डोलता रहा, आजीविका के लिए जम कर किसी लोकोद्यम में नहीं लग सका। जान पड़ता है, मेरा स्वभाव असांसारिक अथवा रोमांटिक था। सृष्टि में नैसर्गिक प्राणियों (खग-मृग) की तरह स्वच्छंद विचरण करता था। सन १९२४ में निराला जी के मुक्त छंद और मर्मस्पर्शी राग से प्रभावित हो कर छायावाद की ओर उन्मुख हो गया। उन्हीं दिनों एक चित्रावली में किशोरमुख कृष्ण के ललित-कलित केश देख कर मैं भी लंबे बाल रखने लगा। अपने केशकलाप में मैंने मानो कला को ही शिरोधार्य कर लिया। बाद में लंबे बाल छायावादियों की पहचान हो गये।

किशोरावस्था में ही मेरा जैसा बहिरंतर निर्माण हो गया वह एक दैवी संयोग था। क्या यह मेरा स्नायविक दौर्बल्य था कि कोमल प्रभावों को ही ग्रहण कर सका? भिन्न परिस्थितियों और भिन्न उपादानों में मैं क्या से क्या हो जाता, जैसे अन्य लोग हो जाते हैं। हाँ, सबकी तरह मेरे साथ भी जन्मजात दैहिक प्रवृत्तियाँ थीं। उन्हें पल्लवित-पुष्पित-रसान्वित होने का आजीवन सुअवसर नहीं मिला। मैं अविकच कुड्मल ही रह गया, वायव्य भाव-जगत के वायुमंडल में ही साँस लेता रहा, ठोस अभावों की ओर ध्यान नहीं दे सका। कालांतर में, ('युग और साहित्य' के लेखन-काल में) मेरा भी ध्यान अभावों की ओर चला गया। उसमें उद्धृत बच्चन जी की इन पंक्तियों में मुझे भी अपना उद्‌गार मिल गया:

मेरा तन भूखा, मन भूखा
मेरी फैली युग बाँहों में
मेरा सारा जीवन भूखा!

वास्तव में तन-मन की भूख प्रगतिवादियों द्वारा प्रतिपादित 'रोटी और सेक्स' की भूख थी। आदर्शवादी होते हुए भी 'सामयिकी' (सन १९४३) में मैंने भी इस हल्के-फुल्के शब्द का प्रयोग कर लिया।

क्या अव्यावहारिक भावुक होने के कारण मेरा जीवन शोकजनक हो गया? तो फिर आज व्यावहारिक जगत भी अभावग्रस्त क्यों हो गया है? चतुर्दिक व्याप्त खाद्य-संकट किस वस्तु-स्थिति का संकेत कर रहा है? यह अन्न का तात्कालिक अकाल मात्र नहीं है। यह तो उस

रसाभाव का द्योतक है जो आगे-पीछे सबके जीवन को रिक्त करता आ रहा था। वही रसाभाव साहित्य में अतृप्ति और कुंठा के रूप में व्यक्त हुआ था, जिसका रूढ़िवादियों द्वारा उपहास किया गया था। किंतु उपहास और उपेक्षा से वह यथार्थ परांमुख नहीं हुआ, बंगाल के नये भुक्तभोगी तरुण कवियों द्वारा 'हंग्री जेनेरेशन' में उद्वेलित हो गया। आज निराला जी और नवीन जी जीवित होते तो 'हंग्री जेनेरेशन' में विक्षुब्ध पीढ़ी का साथ देते। ओह, वे भी साहित्य और समाज को अपना बलिदान दे कर भूखे ही चले गये।...

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बंगाल में जैसा अकाल फैला था आज वैसा ही अकाल सारे देश में फैल गया है, और अब सारे संसार में फैलने जा रहा है। यह औद्योगिक युग का अभिशाप है। अतएव बंगाल की 'भूखी पीढ़ी' के नवयुवक कवियों की कविता को केवल पाश्चात्य प्रभाव की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, क्योंकि पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सभी दिशाएँ अपनी समस्याओं में एक सी हो गयी हैं। अमरीका के 'बीटनिक' और बंगाल की 'भूखी पीढ़ी' के नवयुवक कवि एक ही अभिशप्त वातावरण से उद्विग्न हैं। गुनाहों के इन देवताओं अथवा पवित्र पापियों की भर्त्सना उन मर्यादावादियों द्वारा की जाती है जिनका स्वार्थ विषमता में भी अभी सुरक्षित है। वे समाज में अपना आरक्षित स्थान सदा-सर्वदा के लिए बनाये रखना चाहते हैं, इसीलिए नैतिकता की दुहाई देते हैं। पार्वती, सुरबाला, अन्नदा जीजी, राजलक्ष्मी, चंद्रमुखी जैसे दिव्य चरित्रों के चित्रकार शरद ने जब 'चरित्रहीन' लिखा तब मर्यादावादियों द्वारा उन पर भी अनैतिकता का लांछन लगाया गया था। शरद के कलंकित पात्र सामाजिक विडंबना के विद्रूप थे। 'भूखी पीढ़ी' के कवि आर्थिक विडंबना के विद्रूप हैं। शरद के युग में नर-नारी का स्नेह और सौहार्द शेष था, अतएव आर्थिक विषमता ने मानवता को सर्वथा ग्रस नहीं लिया था। अब आर्थिक विषमता ने केवल वर्ग-संघर्ष ही नहीं उत्पन्न कर दिया है, स्त्री-पुरुष में अप्रेम भी उत्पन्न कर दिया है। अप्रेम का कारण स्वभाव-जन्य और कामजन्य भी हो सकता है; किंतु विकृत आर्थिक युग का भी प्रभाव स्वभाव और काम पर पड़ता है। इस युग में जब कि अर्थ विकृत हो गया है तब 'काम' सुकृत कैसे रह सकता है? वास्तविकता यह है कि इतिहास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है, अकाल और भ्रष्टाचार से कृत्रिम आर्थिक मूल्यों (बाज़ारू मूल्यों) और उन पर अवलंबित नैतिक मूल्यों का उन्मूलन होने जा रहा है।...

आप्त युगों का आस्थावान होते हुए भी मुझे जीवन कुछ ऐसा मिला कि मैं भी सर्वहारा की सतह पर आ गया। जीवन तो 'बीटनिकों' का-सा मिला किंतु उसके साथ 'बीटल' गायकों जैसा संगीत मानो मुक्त छंद के साथ गीतकाव्य की तरह ले कर लोकपथ पर चलता रहा; गद्य को राग से लयमान करता रहा, ऊबड़-खाबड़ पथ को चाँदनी से स्निग्ध बनाता रहा, गति को आरोह-अवरोह का तालमेल देता रहा, लड़खड़ाते क़दमों को सम्हालने के लिए गीत की टेक लेता रहा। किंतु यह सब भी तो भावना और कल्पना की तरह भुलावा था; हवा में गुब्बारे की तरह तैरना था, जीवन तो जस का तस एकरस नीरस था, श्मशान की तरह अवसन्न था। आश्चर्य है कि अब तक मुझमें प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न हुई थी, किंतु इस असह्य स्थिति ने एकाएक मेरे भीतर ऐसी उथल-पुथल मचा दी कि मैं अंतर्द्वंद्व से अत्यंत आंदोलित हो उठा। मेरा स्वप्न ही भंग नहीं हो गया, मेरी

मान्यताओं का मान भी भंग हो गया। अब इतने वर्षों बाद 'रूपाम' में प्रकाशित पंत जी के वक्तव्य की सार्थकता समझने लगा।

घोर उदासी में मेरे सामने यह विषण्ण प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि जिस खादी, संस्कृति, कला और उससे प्रभावान्वित केश में अपना अंतर्बाह्य रूप ले कर युगयात्रा कर रहा हूँ, नव जीवन पाने के लिए उसमें से किसे छोड़ूँ ? किसी एक को छोड़ना सबको छोड़ना है, क्योंकि ये अन्योऽन्य और अनन्य हैं। प्रश्न का उत्तर मुझे उस पितृपक्ष में मिला जिसमें श्रद्धालु हिंदू अपने केश मुड़वा देते हैं। लीजिए, जीवन के शोक-पर्व (युग-संकट) में मैंने भी केश मुड़वा दिये। क्या यह केवल प्रतिक्रिया मात्र है, इसमें भी कोई प्रक्रिया नहीं है ? मैं यदि वीतराग संन्यासी नहीं हूँ तो मेरे केश फिर उगेंगे। मुझमें राग अभी शेष है, तभी तो विक्षोभ और अंतर्द्वंद्व है। गृहस्थ नहीं, वानप्रस्थ नहीं, संन्यासी नहीं, चिरकुमार हूँ। यदि काल की निष्ठुरता से अस्तमित नहीं हो गया तो मेरे नये केशों में फिर कैशोर्य लहरायेगा।

—लोलार्क कुंड, भदैनी, वाराणसी।

विष्णु खरे

पुनरवतरण

(द सेकेंड कमिंग)

हालाँकि इस धरती पर हमें तुम्हारी ज़रूरत है यीशु
हालाँकि हम तुम्हारा वचन याद करते हैं और तुम्हारी सख्त ज़रूरत है
लेकिन मैं वह जगह सोच नहीं पाता जहाँ तुम अवतरित होओ
और सुरक्षित रह सको।

अमरीका में लोग तुम्हें 'बीटनिक' समझेंगे
जब कि 'मारिजुआना', 'बीटल्स' और गर्भ-निरोधकों के
तुम्हारे अज्ञान की वजह से 'बीटनिक' तुम्हें अस्वीकार करेंगे।
और यदि तुम घोषित करोगे कि तुम भगवान के बेटे हो
तो दुनियादार इंसान इसे एक और शिगूफ़ा समझ कर कंधे झटक लेंगे।
मनचले रिपोर्टर हर संभव कोण से तुम्हारा चित्र लेंगे
और शायद हॉलीवुड से एकाध आकर्षक प्रस्ताव भी आ जाय !
तुम शायद अपनी अँगुलियों की छाप न दो, समवेदी या सहयात्री बनो
और 'वॉल स्ट्रीट' के मंदिरों के पुजारियों को खदेड़ना चाहो।
अमरीका-विरोधी गतिविधियों में यूँ हिस्सा लेने का पुरस्कार
देशनिकाला तुम्हें शीघ्र ही मिल जायगा।
मुझे नहीं मालूम तुम काले थे या गोरे थे या रंगीन थे
लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम कहे बिना न रहोगे
कि काले और गोरे और रंगीन पड़ोसी हैं
'कू-क्लक्स-क्लान' तथा भगिनी संस्थाएँ ऐसे उपदेश बर्दाश्त न कर सकेंगी।
अमरीका स्वचालित राइफ़लों का देश है
और ऊँची इमारतों पर से निशाना आसानी से लगता है।

समाजवादी देशों में तुम्हारा स्वागत मुस्कराहटों से होगा
किंतु तुम्हारी बातचीत चुपचाप रिकॉर्ड की जायगी
तथा वैज्ञानिक तरीक़ों से तुम्हारा पीछा किया जायगा।

तुम्हारे भाषणों की पांडुलिपियाँ माँगी जायगी ताकि
सांस्कृतिक मंत्रालय उनकी अनुमति दे सके
और निस्संदेह उनमें से 'ईश्वर', 'आत्मा,' 'मानव रोटीके लिए ही न जियेगा' सरीखे
निरुपयोगी बूर्जुआ शब्द और वाक्य हटाने होंगे।
लेकिन तुम तो वाणी का प्रचार करोगे और वे
तुम्हें पूछताछ के लिए रोक लेंगे, फिर तुम कुछ बरस तक
किसी 'कम्यून' में स्वेच्छा से श्रम करोगे।
भारत के विषय में भी कुछ कह नहीं सकता
तुम तो जानते हो तुम्हारे हिं ू शिष्य का खून अभी सूखा नहीं है !

कोई जगह तुम्हारी नहीं है यीशु
क्योंकि तुम हर अन्याय के खिलाफ़ अपना गुस्सा ज़ाहिर करोगे।
हिरोशिमा और हंगरी, क्यूबा और तिब्बत
अल्जीरिया और अंगोला, कश्मीर और कांगो
पास्तरनाक और ट्राटस्की, रोब्सन और रोज़ेनबर्ग !
तुम एक अत्यधिक अलोकप्रिय मसीहा सिद्ध होओगे !

फिर भी एक दिलासा है, एक संतोष है।
मानवीय पीड़ा कम करने की दिशा में
'पोंटियस पाइलेट' के ज़माने से अब हमने जो प्रगति की है
उसे महसूस कर तुम्हें आश्चर्य होगा।
इस बार या तो गोली होगी या बिजली की कुरसी
या ज़हरीली गैस का कमरा।

●

आंग्लभाषा विभाग,
शासकीय महाविद्यालय, रतलाम।

असीक़ हनफ़ी

उर्दू की नयी कविता—२

(*गतांक से आगे*)

इन आशंकाओं ने आज के अस्त-व्यस्त जीवन के हंगामों को अर्थहीन और सारी दौड़-धूप को निरर्थक बना दिया है। रास्ते और मंज़िल दोनों समय के धुँधलकों में लुप्त हैं। एक घुटन है कि अंतरतम तक फैल गयी है:

इस सफ़र में रास्तों के ज़ख्म हैं और कुछ नहीं

(अहमद फ़राज़ : अनदेखे दयारों के सफ़ीर)

मैं बालरूमों में बुझ रहा हूँ, शराबख़ानों में जल रहा हूँ
जो मेरे अंदर धड़क रहा था,
वो मर रहा है

(साक़ी फ़ारुक़ी : नोहा)

मैं भी अपनी सोच में गुम हूँ
पागल हो कर नाच रही है होटल की रक़्क़ासा भी

(मुनीर नियाज़ी : साहिली शहर की एक रात)

हवा का झोंका भटक रहा है
दयारे ख़ुशबू की जुस्तुजू में

(फ़ारिग़ बुख़ारी : रोग)

मुझे शब के ज़िंदाँ से बाहर निकालो
मैं दिन के समंदर की गहराइयाँ नापना चाहता हूँ

(शहरयार : इल्तिजा)

और फिर इक नया दिन
पुराने मकानों की गंदी छतों पर
बरहना फिरेगा

(मुहम्मद अलवी : नया दिन)

आज की रात कुछ नहीं होगा
आज की रात है हिमाक़त की
आज सी रात कल भी आयी थी
आज सी रात कल भी आयेगी

(शहरयार : आज की रात)

रोज़ ये आफ़ताबे आलमताब
एक गर्दिश में मुब्तिला रह कर
मंज़िले सब्र के क़रीं आ कर
सुर्ख़रू हो के डूब जाता है

(बाक़र महदी : शाम)

लब पे इक बावज़्न लय की थाप पड़ती है मगर
रक़्स करते ही नहीं अल्फ़ाज़
साज़े मअना से निकलती ही नहीं आवाज़

(अमीक़ हनफ़ी : रात)

और मैं
एक काग़ज़ जिसकी सादा सी इबारत
कोई पढ़ता ही नहीं

(अमीक़ हनफ़ी : शबगश्त)

हमारा तर्ज़े शायरी भी लज़्ज़ते सुकूत है
उसे सुनायें किस तरह कि होंट भी पराये हैं

(वहीद अख़्तर : ख़ामोशी की आवाज़)

यांत्रिक तनाव, स्नायविक खिंचाव, अपने-अपने दुख-सुख् की चहारदीवारियों में बंद नागरिक समूह, सामूहिक सामाजिक तानाशाही, प्रकृति से टूटने और मशीनों से न जुड़ पाने का एहसास और नये युग-संकेतों को न समझ पाने का दुख उर्दू के नये कवि को व्याकुल रखता है :

फ़र्द जब दो से ज़ियादा हों तो बन जायें अवाम
हाथ में जिनके वही फ़र्द फिर इक कठपुतली
तालियाँ, दारोरसन, बारिशे-संग
या कोई और भयानक अंजाम

(अहसन अहमद अश्क : हेमलेट)

मंज़िले मक़सूद उनकी, और मैं महवे सफ़र!

(अमीक़ हनफ़ी : सिंदबाद)

आहनी पहियों ने फ़ौलादी ज़ुबाँ में अपनी
बात दुहरायी, ये आवाज़ थी जानी-बूझी
ऐसी मानूस ज़ुबाँ थी कि जिसे उम्र तमाम
सुनते रहते हैं मगर सीख नहीं पाते हैं

(काज़ी सलीम : रफ़्तार)

इक आग-सी जलती रहती है रग-रग में मेरी
इक बेमअनी-सा दर्द मेरा एहसास जगाता रहता है
इस तरह कि मैं सब कुछ यूँ ही महसूस करूँ और कुछ न कहूँ
जब तक ये जहन्नुम रोशन है
मैं ज़िंदा हूँ

(बाक़र महदी : जहन्नुम)

गूँजते शहर, रवाँ और दवाँ राहगुज़र
कारख़ानों के धड़कते हुए सीने का धुआँ
मक़तबे-ए-अहले-हुनर, मदरस-ए-फ़िक्रो-नज़र
ज़िंदगानी से छलकते हुए मैदानो मकाँ
अरक़-जहद से महकी हुई किश्ते-दहक़ाँ
दश्ते महनत में पिघलती हुई रोशन घातें
जागते-दौड़ते दिन, नींद में लिपटी रातें
लाती हैं रोज़ सुख़नवर के लिए सौग़ातें

(वहीद अख़्तर : दुआए-नग़मा)

ये नया शहर नज़र आता है ख़ाबों का दयार
शायद इस वास्ते ऐसा है कि इस बस्ती में

कोई ऐसा नहीं जिस पर हो मेरी ज़ीस्त का बार
कोई ऐसा नहीं जो जानता हो मेरे उयूब
आश्ना, साथी, कोई दुश्मने जाँ, दोस्त-शिआर

(अख़्तरुल ईमान : नया शहर)

वो जानी-पहचानी रहगुज़र थी
मगर वहाँ अब ग़लीज़ चेहरों का कारवाँ
चीथड़ों के अंबार
आने वाली मुहीब जंगों के ज़ायचे
हफ़्तरंग खाके उठाये
चुपचाप जा रहा था

(बलराज कोमल : अजनबी)

इसी प्रकार और भी आधुनिक, यांत्रिक, नागरिक जीवन की चेतना और पीड़ा की संवेदना प्रकट हुई है:

नाच ऐ रात के सीने में धड़कते हुए शहर
मरते जाते हैं क्लब, जाज़ की तानें हुईं सल्ब
सुबह की चाप से अंधे हुए जलते हुए बल्ब
जहर की तरह सुरंगों में चली टयूब की लहर

(साक़ी फ़ारूक़ी : कासनी रोशनी)

नगर-पीड़ा से सचेत हो कर मैंने एक लंबी कविता 'शहरज़ाद' लिखी है जिसमें एक आधुनिक औद्योगिक नगर का नख-शिख-वर्णन इस तरह किया है:

देख रहा हूँ एक हश्तपा
शीशे की आँखों वाला
ताँबे की नब्ज़ों वाला
लोहे के दाँतों वाला
पत्थर की आँतों वाला
अपने तेज़ नुकीले पंजे फैलाता है
खेतों के लहँगों की गोटें नोच रहा है
देहातों को नंगा करने की तरकीबें सोच रहा है।

बलराज कोमल ने अपनी नज़्म 'नारियल के पेड़' में गाँवों के प्रति आज के नागरिक दृष्टिकोण पर यूँ व्यंग्य किया है:

गाँव वो नन्हें खिलौने हैं जिन्हें
देखने आते हैं शहरों के सताये लोग कितनी चाह से

मूल्यों के गत्यवरोध से उत्पन्न जड़-स्थिति का भी उर्दू के नये कवियों को पूरा एहसास है और वे नयी गतिशीलता की तलाश कर रहे हैं:

पेड़ के नीचे
तन्हाई की घोर गुफा में तुम बैठे थे
थकी-थकी पलकों में तुम्हारी ओस के मोती
चिमटे थे
पवन रुकी...सब बिखर गये

(वज़ीर आग़ा : मुलाक़ात)

अब आओ ये भी कर देखें तो जीने का मज़ा आये
कोई खिड़की खुले इस घर की और ताज़ा हवा आये

(ख़लीलुर्रहमान आज़मी : बदलते मौसम)

एक वीरानी का एहसास, न-कुछपन का एहसास, कुछ न होने का एहसास, बेमज़ा कुंठा-ग्रस्त आत्मपीड़न का एहसास उर्दू की नयी कविता में जगह-जगह और तरह-तरह से अभिव्यक्त हुआ है:

जिधर देखो वही सुनसान गलियाँ
गया था तेरी बज़्मे रंगोबू में
कहाँ ले आयी ये शामे ग़रीबाँ

(मुनीबुर्रहमान : एक नज़्म)

मगर आज जिस सिम्त देखो
निगाहों के कश्कोल में
सूने बामोदरो सक़्फ़
सूखे दरख़्तों से झड़ कर गिरे ज़र्द पत्तों, चटख़ती हुई
टहनियों के सिवा कुछ नहीं है

(मुनीर नियाज़ी : माज़ी)

मैं, मेरी जलती हुई आँखें
मेरे बेजान होंट
कितने पत्थर हैं जो तेरे हाथ के मुहताज हैं

(शहज़ाद अहमद : संगरेज़)

यूँ टूट कर हयात से करता रहा हूँ प्यार
जिस तरह ब्याहता से मुहब्बत करे कोई

(शाज़ तमकिनत : शजरे ममनूआ)

नहीं, नहीं मैं रोती कब हूँ
इसका मुझको ध्यान कहाँ है
मुझ पर तुम उँगली न उठाओ
ये गीली लकड़ी का धुआँ है

(फ़हमीदा रियाज़ : अंदेशा)

यही बहुत है
कभी-कभी झिलमिलाते पैकर
हटा के घूँघट झलक दिखायें
ठुमक ठुमक कर दिये जलायें

(क़ाज़ी सलीम : झलकियाँ)

इस अवस्था में मनुष्य अपने आपको एक अजीब अप्रस्तुतपन और निष्क्रियता से दो-चार पाता है। वह सोचता बहुत है पर करता कुछ विशेष नहीं, तटस्थ है; उदासीन है; अकर्मण्य है।

हयात अपनी मंज़िल पे गो आज भी गामज़न है
मैं ख़ामोश
तनहा खड़ा सोचता हूँ
कोई दूर से आ के मुझको पुकारे

(बलराज कोमल : मैं शायर, मैं फ़नकार)

ख़ुदफ़रामोशी में जीना भी कोई जीना है
कोई हसरत
कोई अरमाँ

कोई उम्मीद तो हो
इतनी ख़ामोशी में जीना भी कोई जीना है

(ज़हूर नज़र : सन्नाटा)

ऐ मेरी नामुस्तइद, मजहूल ज़ात
कोई फ़िक्र !
कोई काम !
कोई बात !

(अमीक़ हनफ़ी : आईनाख़ाने के क़ैदी से)

इस विचित्र नीरवता और स्तब्धता के चट्टानी वातावरण में कोई किसी की नहीं सुनता। अपनी ही आवाज़ पलट कर सुनायी देती है या आकाश में विलीन हो जाती है।

और फिर यूँ हुआ
इब्ने-मरियम ने देखा
तो मैदान में
चंद भेड़ें खड़ी थीं

(मुहम्मद अलवी : इब्ने मरियम)

ये तसव्वुर जिस तरह अंधा कुआँ हो
'तुम कहाँ हो आओ, मैं घबरा रहा हूँ'
'आ रहा हूँ'

(विमलकृष्ण अश्क : गूँज)

'अश्क' की इस तीन पंक्ति की कविता में तकनीकी चमत्कार भी विचारणीय है। दूसरी पंक्ति का अंतिम चरण प्रतिध्वनित हो कर तीसरी पंक्ति बन गया है। आधुनिक यथार्थ का यह मृगजल मनुष्य को 'नार्सीसस' की तरह बावला बना देता है जिसका पीछा करती हुई उसकी अपनी प्रतिध्वनियाँ उसे मौत के मुँह में ढकेल आयी थीं। आत्म-स्मृति का दूसरा रुख़ है आत्म-विस्मृति से ख़ुद को पाना :

मेरी मेज़ के पास रद्दी की जो टोकरी थी, उसे साफ़ करने लगा तो मैं चौंका
मेरे नाम का इक लिफ़ाफ़ा था जिसमें बड़ा ख़ूबसूरत सा ख़त था
और ये ख़त वही था, जो इक रोज़ मैं बैठ कर अपने ही आपको लिख रहा था

(ख़लीलुर्रहमान आज़मी : एक ख़त)

अजन्मे स्वप्नों का गर्भपात, अनकहे की घुटन, अपने आपके व्यर्थ व्यय हो जाने का दुख इन कवियों की संवेदनशीलता को तरह-तरह से उत्तेजित करता है और तब एक विलय-भावना जाग उठती है:

जो न लिक्खे गये
और न बोले गये
ऐसे अल्फ़ाज़. . .क़स्बे के पुल से गुज़रते हुए दिन की मानिंद
उखड़ते हुए फ़ासिलों की तरह
लरज़ती हुई धुंध में खो गये हैं

(अहमद हमेश : मुड़ते हुए उफ़ुक़)

राहे-महताब में ख़्वाबों के परीशाँ साये
आग ही बन के यकायक रगे जाँ तक आये

× × ×

कौन सी शाख़ से पूछूँ मैं नशेमन उनका
हर किरन बन गयी मसकन उनका
वो मुझे छोड़ गये और मैं तकता ही रहा
मैं अकेला था, अकेला ही रहा

(मुनीबुर्रहमान : एक नज़्म)

सर्द पलकों की सलीबों से उतारे हुए ख़्वाब
रेज़ा-रेज़ा हैं मेरे सामने शीशों की तरह

(अहमद फ़राज़ : नींद)

दूर आकाश के उस कोने में
इक मैली चादर में लिपटी
शाम खड़ी है
आओ चलें उस शाम की चादर में छुप जायें
शाम—जो हम दुखियों की माँ है

(अहमद हमेश : शाम)

नयी उर्दू कविता में, शाम, रात, अँधेरा, जंगल, रेगिस्तान आदि प्रतीकों को समसामयिक परिवेश के उद्दीपन के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है।

बंद कमरों में तड़पती
शहवतों की लाल आँखें
शाहराहों पर गुजरती लड़कियों की
नीम उरियाँ छातियों को
डस रही हैं।
शाम इक-इक पेड़ पर चिल्ला रही है।
दिन गया
रात आ रही है

(मुहम्मद अलवी : रात आ रही है)

नयी उर्दू कविता अब यौन-प्रक्रियाओं और प्रतीकों से किसी प्रकार की झिझक महसूस नहीं करती। जलील हाशमी तो न केवल यौन-प्रतीकों को प्रधानता देते हैं बल्कि संभोग की विभिन्न प्रक्रियाओं और स्थितियों को अनेक स्वनिर्मित प्रतीकों में छिपा कर अभिव्यक्त करने को अपनी कला की विशिष्टता मानते हैं।

होता है सफ़र शुरू
रेशम की लहरों में से होते हैं कमल तुलू
बजता है दीवानी दस्तक से शहरे-ममनू
उठता है मौज-ए-ख़ूँ
मरमर-से, साँचे में ढले हुए रोशनियों के सुतूँ
अपने चौड़े-चकले कंधों पर रख लेता हूँ

(जलील हाशमी : सूली और गुलाब)

उर्दू की नयी कविता अपनी प्रश्नाकुलता और संदेहात्मकता के बावजूद विश्वास और आस्था से सर्वथा विमुख नहीं। आस्था का संवादी स्वर उसकी हर रागिनी में अनुकंपित रहता है:

मैं तो सूरज का साथी हूँ
साथ चलूंगा
अंतिम किरनों से पूछूंगा
और कोई आवाज है मेरी

(अहमद हमेश : चलते-चलते)

हमारे जिस्मों की वुसअतों में
वो मौसमे-गुल है जिसकी कोई ख़िज़ाँ नहीं है

(बलराज कोमल : मौसमे गुल)

फिर भी दुनिया कितनी हसीं है
ऐसी मुक़द्दस जैसे मरियम
ऐसी उजली जैसे झूट

(फ़हमीदा रियाज़ : सच)

जलने दो ये दिये पुराने ख़ुद ही ठंडे हो जायेंगे
बह जायेंगे आँसू बन कर रोते-रोते सो जायेंगे

(अख़्तरुल ईमान : नयी सुबह)

बादल में रुपहली सी लकीर अब भी है बाक़ी
ईमान सलामत है ज़मीर अब भी है बाक़ी

(अमीक़ हनफ़ी : दिलासा)

मेरे उदास दिल न रो
सच है कि मुझमें क्या रहा
ढेर हूँ जैसे ख़ाक का
फिर भी कुरेद कर तो देख
इसमें है कुछ छुपा हुआ
जो मेरे साथ खो गया ये वही आदमी न हो

(खलीलुर्रहमान आज़मी : मेरे उदास दिल न रो)

बारहा तुंद हवाएं चलीं तूफ़ाँ आये
लेकिन इक फूल से चिमटी हुई तितली न गिरी

(मजीद अमजद)

इस परिचयात्मक लेख में उर्दू की नयी कविता की भावभूमि का एक विहंगम दृश्य प्रस्तुत किया गया है और मूल प्रवृत्तियों ही का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। सामयिक घटनाओं पर रची हुई अनेक सुंदर कविताओं को नज़र अंदाज़ करना पड़ा है। कवियों की व्यक्तिगत विशेषताओं की समीक्षा यहाँ नहीं की गयी है। कविताओं में जो कुछ समान नज़र आया है, युगसंपृक्त और आधुनिक भावबोध में डूबा हुआ है। उसे उपयुक्त ख़ानों में सूचीबद्ध कर दिया गया है। ज़ाहिर है कि मेरा उद्देश्य यहाँ प्रमुख तथा विशेष कवियों का परिचय प्रस्तुत करना नहीं है। मैं

तो इस भ्रांति को दूर करना चाहता हूँ कि उर्दू में नयी कविता नहीं है। मेरे इस लेख के हिंदी भावकों को न केवल उर्दू में नयी कविता के अस्तित्व का एहसास होगा बल्कि उसकी मूल प्रवृत्तियों की झाँकी भी मिल जायगी। यह बहुत ज़रूरी था। उर्दू और हिंदी बहुत निकट की दो भाषाएँ हैं और दोनों के नये कवियों के प्रयासों और प्रयोगों के परिणामस्वरूप रही-सही दूरियाँ भी उनके दरमियान से मिट जाती हैं। उर्दू की नयी कविता में भारतीय नगरों, क़स्बों और देहातों का वातावरण और हिंदू पौराणिक तथा भक्तिकालीन प्रतीकों को देख कर लोग सहर्ष आश्चर्य प्रकट करते हैं। मेरे ख़याल में यह न आश्चर्य की बात है न गर्व की। बड़ी सीधी सी बात है। परंपरागत कविता में एक प्रकार की वायवीयता थी और प्रेरणा के स्रोत अरबी और फ़ारसी कवियों के दीवान थे। इसलिए उसमें न केवल भारतीयता बल्कि पार्थिवता और इहलौकिकता भी कम थी। कुछ शायरों के यहाँ भारतीय दृश्य और मेले-ठेलों, त्योहारों आदि का चित्रण उस दौर में भी मिलता है लेकिन ऐसा केवल वर्णन या अलंकरण के लिए ही मिलता है। नयी कविता केवल 'ज्ञान' और 'बोध' को पर्याप्त नहीं समझती। और फिर नयी कविता यथार्थ और पार्थिवता के आधार पर सर्जनशील है और व्यक्ति तथा समष्टि के बीच सीधे रिश्ते की क़ायल है। व्यक्तिगत अनुभव और अनुभूति ही कवि को प्रेरित तथा सर्जन के लिए उत्तेजित करते हैं। इसलिए सहज ही वे अपनी कविता का परिप्रेक्ष भारतीय रखते हैं। इस दिशा में राही मासूम रज़ा, अमीक़ हनफ़ी, अहसन अहमद अश्क, माधव (एक पाकिस्तानी कवि का उपनाम), ताज सईद, सहबा अख़्तर, मुस्तफ़ा ज़ैदी आदि ने विशेष प्रयोग किये हैं। राधा, कृष्ण, गोपी, गोकुल, वृंदावन, जमुना, शिव, काली, सरस्वती, कामदेव, यम, गंगा, बुद्ध, मंदिर, आश्रम आदि अनेक शब्दों को प्रतीकवत या बिंबस्वरूप प्रयुक्त किया जा रहा है—केवल चित्रण या अलंकरण के लिए नहीं, गहरी संवेदनशीलता और सौहार्द के साथ। इन प्रयोगों से उर्दू की नयी कविता में एक नया आयाम खुला है। पुराने पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों और प्रसंगों को नये अर्थ-संदर्भ देना नये शायरों की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। कुछ नये शायरों ने भक्ति-काव्य से भी प्रेरणा ग्रहण की है। उत्तर प्रदेश, पंजाब और बंगाल की लोककथाओं और जन-जीवन से भी फ़ायदा उठाया गया है। फ़हमीदा रियाज़ और शफ़ीक़ फ़ातिमा शैरा ने घरेलू नारी के दुख-सुख और नारी-मन की विशिष्ट स्थितियों को पार्थिव परिवेश में अभिव्यक्त किया है और उनके प्रयोगों में एक असाधारण ताज़गी और नयापन मिलता है। बलराज कोमल ने गृहस्थ-जीवन से संबंधित प्रतीकों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। वे व्यक्तिगत जीवन के इन प्रतीकों का ऐसा सफल और कुशल प्रयोग करते हैं कि इस छोटे से दायरे में देश-काल भी सिमट आते हैं। उनके इस 'घरेलू' आईने में विश्व अपना रूप निहारता है। नये कवियों के पास कहने को नयी बात भी है और बात कहने का नया ढंग भी। उर्दू की नयी कविता के रूप-विधान, तंत्र, शब्दावली, शिल्प आदि का अंदाज़ा ऊपर के उदाहरणों से लगाया जा सकता है। तुकांत छंदोबद्ध कविताओं का चलन भी जारी है। अतुकांत छंदोबद्ध कविताओं की रचना भी जारी है। रबर छंद का प्रयोग भी हो रहा है और भावप्रवाह के अनुसार गति और यति के नियंत्रण का ढंग भी अनेक कवियों ने अपनाया है। गद्य की लय और गति का प्रयोग कम किया गया है

और जितना हुआ है, पसंदगी की निगाह से नहीं देखा गया। प्रतीक, अप्रस्तुत, बिंब, स्थानांतरित विशेषण और समसामयिक जीवन-बोध से प्रेरित तथा युगसंपृक्त उपमाओं और रूपकों के बड़े सफल और उपयोगी प्रयोग किये जा रहे हैं। अधिकांश नये शायर अधिकतर अपनी अनुभूति और भाव का सीधा बयान ही पसंद करते हैं। अत्यंत जटिल और उलझी हुई सांकेतिक या प्रतीकात्मक शैली अब कम प्रयुक्त होने लगी है। बिंबों तथा प्रतीकों की तलाश, भारतीय संस्कृति और आंचलिक जीवन में भी की जाने लगी है और वैज्ञानिक और यांत्रिक सभ्यता में भी। भाषा सरल, सुलभ और सहज होती जा रही है क्योंकि अब जीवन से शायर का रिश्ता अधिक निकट का और सीधा है। शब्द-चयन में अंग्रेज़ी, हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं के तौर-तरीक़े भी अपनाये जा रहे हैं।

उर्दू की नयी कविता को मुशायरों और राजनीतिक मंचों का मोह बिल्कुल नहीं है। इसलिए उसमें काव्येतर पूर्वग्रहों की छाया भी नहीं है। उर्दू का नया कवि अपने अंदर सिमटा है; अपने व्यक्तित्व की गुफा में बंद हो गया है लेकिन उसने 'व्यक्ति' को केंद्र मान कर एक ऐसा दायरा खींचा है जिसमें समष्टि का संपूर्ण अस्तित्व घिर गया है :

खिलवते ज़ात के महबस में ये बेनाम उमंग
जिस पे कौनैन हैं तंग

\+ \+ \+

यहीं ख़ुद साख़्ता फ़ानूस में है क़ैद वो शोले की लपक
हमनफ़स जिसकी है सदगूना जहन्नुम के अज़ाबों की कसक
फिर भी दिखलाती है हर आँख को जो जन्नते फ़रदा की झलक

(वहीन अख़्तर : शायरी)

—१४०, गांधी पार्क कॉलोनी,
इंदौर।

रामदेव आचार्य

शहीद सैनिक के प्रति

ऐ अपने वतन पर
और मेरे वतन पर
शहीद सैनिक!

तुझे मेरा चिंतन समर्पित है,
तुझे मेरी बौद्धिकता अर्पित है।

तेरे हर घाव पर
एक महाकाव्य जिंदगी पाता है,
तेरे घायल दर्द से
मीरां और कबीर का घायल दर्द
लंबी उम्र पाता है।
तू रामायण और गीता,
क़ुरान और बाइबिल,
गुरु-ग्रंथ साहिब और इंजील
से भी अधिक पवित्र है,
क्योंकि तुमने मर कर
इन्हें जिंदगी दी है!

हमारी परिभाषाएँ
तेरे दम से हैं।

लोकतंत्र का प्रकाश
तेरे बाज़ुओं की मशाल में है,
समानता तथा नागरिक अधिकारों
की गति तेरे क़दमों में है,
संविधान तथा संसद की भाषा
तेरे मोर्चों के संघर्षों में है
और हमारी धर्म-निरपेक्षता
तेरे पैटन टैंकों
तथा जेट विमानों
को कुचल देने की ताक़तों में है।

तेरे खून की रंगीनी में
पंचशील और विश्व-बंधुत्व
पल रहे हैं
और मेरी आज़ादी की ज़िंदगी
तेरी हर मौत में है,
तेरी हर कराह में है।

ओ शहीद सैनिक!
मेरा चिंतन तुझे समर्पित है,
मेरी बौद्धिकता तुझे अर्पित है।

●

प्रवक्ता,
अंग्रेजी विभाग,
लोहिया गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज,
चूरू (राजस्थान)

केशवचंद्र वर्मा

मेरी छोटी सी बगिया और छोटे-छोटे मन-छाप

● सुनो भई,
लाओ कहीं से कुछ 'कैक्टस' की 'वेरायटी'!
बेले और गुलाब को दो नयी 'सोसायटी'!
नये और पुराने की गोष्ठी जमे संग-संग!
('वै डोलें रस आपुने, इनको फाटै अंग!!')

● शायद किन्हीं गदेलियों की तलाश में
मैंने मेंहदी की रविश लगवायी थी!
गदेलियों के संस्मरण बिना मेंहदी लगवाये
लिखे जा सकते हैं—
यह मैं झाड़-झंखाड़ उग आने के बाद जान सका!

● बेले से मेरी इबर प्रीत है गयी जाग!
लेकिन कभी दिखता है अजब ही खटराग—
एक खुली भैंस और उसका कामाध्यात्म,
मुँह मारने को बोलती आतमा के 'डॉयलॉग'।

● ओ प्रभु!
क्या तुम गद्दर अनार और नतनेबुला को जन्मजात पका नहीं सकते?
इतनी मुग्धाओं के ज्वार
ओ पिता जी!
मेरी ही बगिया पर क्यों?

● लिपट-लिपट छज्जे पर चढ़ती हुई बेल
जब मुझे
ग़रारा पहने रसवान आलिंगनबद्ध नायिका की तरह दिखी—
तब मेरे पढ़े-लिखे दिमाग़ ने कहा कि
आप चोर हैं !
और एक कायर की तरह
मैंने धमकी में आ कर
अपनी बेल को निरुपमेय छोड़ दिया !

● सूखी कँटीली झाड़ियाँ
'क्रुद्ध युवकों' की तरह कुड़बुड़ाती हैं,
चरचराती हैं,
अपना खोखला यश दुहराती हैं,
अकड़ कर घसिट जाती हैं,
कहीं चूल्हा सुलगाती हैं।

●

६५, टैगोर नगर, प्रयाग।

शांति मेहरोत्रा

तीन कविताएँ

एक नये दिन का स्वागत

चुने जाने की प्रतीक्षा में
हरसिंगार झर रहा है

वीरान सड़कों से
बवंडर गुज़र रहा है

रंगीन तारीख़ों से घिरे
रीते वर्ग
अपनी निरर्थकता पर
सिर धुनते हैं

समृद्ध क्षण
पुराने धागे से
नये सपने बुनते हैं

झेलने को
फिर एक नया दिन !

सूरज निकल रहा है:
पिघला हुआ फ़ौलाद
साँचे में ढल रहा है।

तीन पग

आमंत्रित नहीं किया था मुझे
दुर्गम ऊँचाइयों ने,
मैंने ही समझा था
कि बढ़ने वाला हर पग
वामन का होता है।

सामने खुलती गयीं
घाटियाँ दरकी हुई
औरों का दाय जो
स्वयं ही सोख रही थीं,
चट्टानें, जो केवल कुछ करने को
राहें रोक रही थीं,
खिले टेसू से दहकते चीड़-वन,
बादलों के फटे परदे
में छुपा नीला गगन,
सब आत्मलीन !
सब दयनीय !
नप गये जो एक ही पड़ाव में।

क्या रहा अब शेष
बाक़ी दो पगों के हेतु ?

विरह : रेडियो शिल्प में

तुमसे दूर बीता
यह मनहूस दिन
एक मार्मिक नाटक के बीच
बहुत लंबा पॉज़ है।

इसे 'टेप' काट कर
निकाला नहीं जा सकता?

●

२० ए, घोष बिल्डिंग्स,
जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद।

● ●

रमेशचंद्र कौशिक

गुलाब और राजा की बकरियाँ

हमारे गुरु ने गुलाब का एक बिरवा
घर के आँगन में रोपा था
अस्सी करोड़ हाथों में सौंपा था
और सोचा था, सांसारिक शूलों को वहन कर
एक दिन पूर्णता पर पहुँचेगा
उल्लास और आनंद के प्रतीक
लाल-लाल फूलों से दमकेगा
मादक सुगंध से पड़ोस भी गमकेगा।

पौधा बढ़ता है
किंतु फूल खिलने से पहले ही
पत्ते और कलियाँ
खा जाती हैं राजा की बकरियाँ
शेष रह जाते हैं केवल शूल
जो मेरे और तुम्हारे
यानी सभी के पाँवों में चुभते हैं
घावों से दुखते हैं।

●

दिल्ली परिवहन,
सींधिया हाउस, नयी दिल्ली-१।

विद्यानंदन 'राजीव'

टूट रहे देशांतर

दूरियाँ सिमट रहीं
टूट रहे देशांतर
उठ रही धरती गगन की ओर
उतरता है भूमि पर आकाश !
मृत्तिका का आत्मज
पदन्यास करने चल दिया है
अभ्रभेदी पर्वतों के मस्तकों पर
दूरवर्ती अगम चंद्रदिक-गृहों में !
निमिष भर में व्यक्ति का
संसार भर में गूँजता हर शब्द
विश्व-आँगन, नभ-चँदोवा
अखिल संसृति
एक ही परिवार
आज प्रतिपल में बदलता
दिख रहा संसार !

वे पुरातन मान्यताएँ
जीर्ण हो कर टूटती हैं
उठ रहे हैं और
चिंतन के नये अंबार !
बदलते हैं पथ
पगों के बदलते विश्वास
उदित होता है
नवागत का नया दिनमान !
लेखनी भी छोड़ विरस परंपराएँ
पहनती अपना नया परिधान
आज कायाकल्प में रत हो रहे हैं प्राण——
उसके अद्यतन संकल्प——
'परिभाषित करेगी
समय के बदले हुए आयाम'
शब्द जननी को कहाँ विश्राम !

●

शासकीय बहुउद्देश्यीय विद्यालय
पो० ऑ० बरेली (भोपाल) म० प्र०।

इक़बाल बहादुर देवसरे

कहानी

गेंदे का झाड़ और चार फूल

"सुनिए, ज़रा यहाँ आइए।" उत्साहभरी आवाज़ में मेरी श्रीमती सुनीता ने अँगनाई से मुझे पुकारा।

मैं अपने कमरे में बैठा एक कहानी लिखने की मुद्रा में था, इसलिए वहीं से पूछा—"क्या बात है? अभी कुछ लिख रहा हूँ।"

"फिर लिख लीजिएगा। एक मिनट के लिए यहाँ आइए। देखिए, ये कितने सुंदर हैं।" अबकी बार उसकी पुकार और अधिक उत्साह से भरी थी।

आखिर लिखना बंद कर के अँगनाई में गया। तुलसी-चौरे के पास लगे गेंदे के झाड़ में चार बड़े-बड़े फूल खिले थे। शायद आज ही खिले होंगे, क्योंकि अभी उनके केंद्र वाली पंखुरियाँ संकुचित ही थीं। फिर भी फूल आकार में असाधारण दिखायी पड़ रहे थे; रंग भी अच्छा था।

सुनीता झाड़ के सामने बैठी फूलों को प्रसन्न मन से निहार रही थी। मेरे वहाँ पहुँचते ही मुस्कराती हुई बोली—"देखिए, कितने सुंदर हैं गेंदे के ये चार फूल! चारो हज़ार पंखुँरियों वाले हैं। और रंग देखिए, तपे सोने को मात कर रहा है! इतना छोटा झाड़ और इतने बड़े फूल! विचित्र सी बात है।"

मैंने सहज भाव से कहा—"लेकिन कौतूहल की क्या बात है। बड़े-छोटे फूल पौधों में खिला ही करते हैं और सुंदर भी होते हैं। उसी तरह ये फूल भी हैं।"

मेरी यह उपेक्षा सुनीता को कुछ खटकी; बोली, "ठीक है। पौधों में बड़े-छोटे फूल ज़रूर खिला करते हैं। लेकिन आपको शायद इस बात का पता नहीं है कि फूलों के आकार-प्रकार और सुंदरता में कुछ विशेषताएँ भी हुआ करती हैं। मुझे वे सभी विशेषताएँ इस झाड़ के इन चार फूलों में दिखायी दे रही हैं।" उसने एक फूल की डाल को हिला कर कहा—"देखिए, कितना आकर्षण है इन फूलों में। सौंदर्य तो जैसे बिखरा पड़ता है। गेंदे के इतने बड़े फूल पहले मैंने कहीं नहीं देखे थे। शायद यह पौधा किसी विशेष जाति का है, तभी तो हथेली के बराबर फूल इसमें खिल रहे हैं। साधारण गेंदे के झाड़ में इस आकार के फूल कहाँ देखने को मिलते हैं! इसकी नस्ल ही कोई दूसरी है। देखिए न, इसकी पत्तियाँ भी कितनी बड़ी-बड़ी हैं। मेरा तो ख्याल है कि ऐसा गेंदे का झाड़ बड़े-बड़े बाग़ीचों में भी ढूँढ़ें नहीं मिलेगा।"

इस भूमिका को सुन कर मुझे हँसी आ गयी। हँसते हुए मैंने कहा—"शायद गेंदे का यह झाड़ इसीलिए किसी विशेष जाति का है कि इसे श्रीमती सुनीता जी ने लगाया और पाला-पोसा है।"

इस व्यंग्य से सुनीता कुछ लजा सी तो जरूर गयी, लेकिन उसके उत्साह में कोई अंतर न पड़ा। वह अब भी बड़ी तन्मयता से फूलों का निरीक्षण कर रही थी। कभी किसी फूल को छूती, कभी किसी की डाल हिलाती और कभी समूचे झाड़ को हिला कर खुश हो रही थी।

वर्षा के आरंभ में सुनीता ने गेंदे का एक चार अंगुल का मरा-सा पौधा जाने कहाँ पा कर, यहाँ तुलसी-चौरे के पास लगा दिया था और फिर नियमित रूप से नहा-धो कर जब तुलसी को जल चढ़ाने बैठती, गेंदे के पौधे की सेवा करना कभी न भूलती थी। आज उसकी सेवाओं का फल उसके सामने था। उस मरे पौधे ने हरे-भरे झाड़ का रूप धारण कर के चार फूल खिलाये थे।

सुनीता को वहीं बैठा छोड़ कर मैं अपने कमरे में आ गया। इस झंझट में कहानी लिखने वाली मुद्रा ग़ायब हो गयी थी। बैठ कर भरसक कोशिश की, लेकिन मुद्रा न बनी और बनती भी कैसे! मेरी मेज़-कुर्सी के सामने जो खिड़की थी, अँगनाई का सारा दृश्य उससे दिखायी पड़ता था। तुलसी-चौरा और गेंदे का झाड़ तो ठीक आँखों के सामने ही था। निगाह उधर ही घूम रही थी। सुनीता अब भी वहाँ आसन जमाये बैठी थी। झाड़ और फूलों के साथ खेलने से अभी जी नहीं भरा था। उसका मुख भी प्रसन्नता के कारण फूल की तरह ही खिला दिखायी दे रहा था। होठों की मुस्कानें अंतर के सुख को स्पष्ट कर रही थीं। मुझे ऐसा लग रहा था मानो वह पौधे के संपूर्ण सौंदर्य को अपनी आँखों में भर लेना चाहती है।

सुनीता को मैंने आज की तरह प्रसन्न पहले कभी नहीं देखा था। अभी पिछले दिनों जब हम दोनों आगरा गये थे, ताज देखने भी गये। वहाँ का सुंदर 'लॉन', हरे-हरे वृक्षों की पंक्तियाँ, फूलों के समूह, जलाशय तथा सजीवता का बोध कराने वाली फूल-पत्तियों की पच्चीकारी, सभी कुछ आँखों देखा और हाथों छुआ था। सुनीता वहाँ की एक-एक कलाकृति पर मुग्ध थी लेकिन किसी से चिपटी नहीं थी। शायद उन सबमें वह चुंबक-शक्ति न थी जो इस गेंदे की तरह सुनीता को अपने से चिपटा लेती।

जाने कहाँ से एक हरे रंग की बहुत छोटी सी चिड़िया आ कर उस गेंदे के झाड़ पर बैठ गयी। उसके फुदकने से झाड़ और फूल हिलने लगे। सुनीता के लिए यह नया आकर्षण था। उसने इस नये आनंद में मुझे भी शरीक़ करना चाहा। आवाज़ दी—"सुनिए, ज़रा जल्दी से यहाँ आइए। एक नया तमाशा दिखायें।"

मैं खिड़की से वह तमाशा देख ही रहा था, इसलिए कमरे के अंदर से ही बोला—"नये तमाशे को देख कर तुम्हीं ख़ुश हो लो। मुझे क्यों बार-बार परेशान करती हो।"

वह कुछ क्षुब्ध सी हो कर बोली, "बड़े नीरस हैं आप!" फिर अपने आप धीरे-धीरे बड़-बड़ाने लगी, "बड़े लेखक और कवि बनते हैं। जाने कहानी, कविता कैसे लिखते हैं। कहाँ से भाव पाते होंगे। कैसे अनुभूतियाँ जागती होंगी! जिसे सौंदर्य-बोध नहीं, जिसके हृदय को ये

झाड़ और ये सुंदर बड़े-बड़े फूल नहीं गुदगुदा पाते, वह कवि या लेखक कैसा ! भावुकता तो इनसे कोसों दूर जान पड़ती है।"

मेरे कान उधर ही लगे थे। झुँझला कर आवाज़ दी—"आज खाना नहीं मिलेगा क्या ? मालूम होता है भूखे ही दफ़्तर जाना पड़ेगा।"

उसका स्वप्न टूटा। उठी और रसोईघर की तरफ़ चल पड़ी, लेकिन गर्दन मोड़-मोड़ कर झाड़ को निहारती जाती थी।

जिस मकान में हम लोग रह रहे थे, एक मारवाड़ी सेठ का था। सेठ कुछ भला आदमी न था। हर तीसरे-चौथे महीने कोई न कोई बहाना ले कर किराया बढ़ाने की चेष्टा करता रहता था, इसलिए इस मकान को छोड़ने-बदलने की बात एक अर्से से चल रही थी। थोड़ी परेशानी के बाद दूसरा मकान मिल गया था। नया बना मकान था। काफ़ी गुंजायश के बावजूद किराया कम था। मकान-मालिक बहुत भले थे। और सबसे सुविधा की बात तो यह थी कि वहाँ से मेरा दफ़्तर क़रीब था। सुनीता को मकान का यह सब क़िस्सा मालूम था। भोजन करते समय मैंने उससे कहा—"आज मैं एक-डेढ़ बजे तक दफ़्तर से मनुवाँ को भेज दूँगा। सब सामान बँधवा लेना। कल शाम तक नये मकान में पहुँच चलना होगा; क्योंकि परसों पहली तारीख है।"

"किसी दूसरे शहर में थोड़े ही जाना है। इस मुहल्ले से दो मुहल्ले आगे ही तो जाना है; ट्रक का प्रबंध कर लीजिएगा। एक बार में सब सामान आसानी से चला जायगा। बाँधने की भी विशेष ज़रूरत नहीं है। ट्रक के साथ जाने वाले को सामान पर निगाह रखने की ज़रूरत होगी। यों तो क़ीमती तथा टूटने-फूटने वाली चीज़ें मैंने बहुत पहले से बक्सों में बंद कर रखी हैं।" सुनीता ने कहा।

"तब ठीक है। आज दफ़्तर से लौटते समय मैं ट्रक वाले सरदार जी से कह दूँगा। कल दोपहर बाद वे ट्रक भेज देंगे। छुट्टी का दिन भी है; सब काम सहूलियत से हो जायगा।"

खाना खा कर मैं बैठक में आया और दफ़्तर जाने की तैयारी करने लगा। सुनीता भी रसोईघर से आ कर खिड़की के पास खड़ी हो गयी और वहाँ से गेंदे के झाड़ को निराहती हुई बोली—"हाँ, ये तो बताइए, मेरे इस गेंदे के झाड़ का क्या होगा ?"

"क्या होना है। यहीं लगा रहेगा।" मैंने सहज भाव से उत्तर दिया।

"वाह, आप कितने नीरस हैं। सौंदर्य से थोड़ा भी प्रेम नहीं। इसमें कितने बड़े-बड़े फूल खिले हैं। इतने सुंदर फूल उस मकान में कहाँ देखने को मिलेंगे ?"

"अगर तुम्हें फूलों का बहुत ज़्यादा मोह है, तो तोड़ कर साथ लिये चलना।"

"आप कैसी बात कहते हैं ? पेड़ पर से तोड़ लेने पर फूल मुर्झा कर सूख न जायँगे। ये ताज़गी कहाँ रहेगी ? फूलों की सुंदरता तो झाड़ पर लगे रहने में ही दिखायी देती है।"

"तो क्या तुम समझती हो कि वे हमेशा ऐसे ही तरोताज़ा बनें रहेंगे। पेड़ पर लगे रहने पर भी दो-चार दिन में सूख कर झड़ जायँगे। फूलों की ज़िंदगी ही कितने दिन की होती है ! खिले और सूखे और झड़े।"

"आपको पता नहीं है। गेंदे के फूल अगर झाड़ पर लगे रहें और पौधे को खाद-पानी मिलता

रहे, तो फूल महीनों ज्यों के त्यों ताज़े दिखायी पड़ते हैं। फिर गेंदे के फूलों की पँखुरियाँ तो कभी झड़ कर गिरती ही नहीं।" उसने दृढ़ता के साथ कहा।

"तब तुम चाहती क्या हो ?" मैंने एक प्रकार से उसकी दलील को मान कर पूछा।

"मैं इस झाड़ को यहाँ लगा नहीं छोड़ जाना चाहती। किसी भी उपाय से इसे नये मकान में ले चला जाय।"

"ठीक है, उखाड़ कर लिये चलना।"

"फिर वही बेतुकी बात। उखाड़ कर ले चलने पर समूचा झाड़ नष्ट हो जायगा। इसे तो इसी तरह हरा-भरा वहाँ पहुँचना चाहिए।"

मैं सोचने लगा, कितनी ममता है इसे गेंदे के झाड़ से। जैसे का तैसा उठा ले चलना चाहती है। किसी को मकान से मोह हो जाता है। छोड़ने पर दुख होता है। किसी को मुहल्ले-पड़ोस के मिलने-जुलने वालों का बिछोह सताता है। फिर जिस तुलसी के पौधे को ये नियमित रूप से सवेरे जल चढाया करती, संध्या में आरती उतार कर अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पण किया करती थी, उस तुलसी को नये मकान में ले चलने का कोई मोह नहीं। केवल गेंदे के झाड़ के प्रति इतना ममत्व क्यों ? मैंने उससे पूछा—"पहले ये तो बताओ कि गेंदे के झाड़ से तुम्हें इतनी ममता क्यों है ?"

वह कुछ न बोली। मैंने कहा—"शायद तुम्हें गेंदे के झाड़ से इसीलिए प्रेम है कि वह तुम्हारा पाला-पोसा है या उसमें बड़े-बड़े फूल खिल रहे हैं, जिनका रूप-रंग तुम्हें भा रहा है। अगर यही है, तो नये मकान में पहुँच कर किसी दूसरे फूल के पौधे को लगा लेना। उसमें भी समय पर फूल खिलेंगे। मैं श्री मेहता के बागीचे से गुलाब के जड़ोंवे ला दूँगा। लाल फूल वाला हज़ारी-बाग़ का गुलाब है। उसके फूलों को देख कर तुम गेंदे के इन फूलों को बिलकुल भूल जाओगी।"

सुनीता अनमनी सी हो कर बोली—"नहीं चाहिए मुझे आपका वह गुलाब का जड़ोंधा और उसके फूल।"

"क्यों ? तुम्हें गुलाब के फूल सुंदर नहीं प्रतीत होते ?"

"सुंदर-असुंदर लगने की बात नहीं है। अपनी-अपनी रुचि है।"

मुझे याद आया। एक पुस्तक में सौंदर्य-बोध के विषय में पढ़ा था—'सौंदर्य एक मानसिक अवस्था है, जो किसी वस्तु विशेष में नहीं, मानव-हृदय में विद्यमान है। उसी का नाम रुचि है। मनुष्य के हृदय में वास करने वाली वह रुचि जिस वस्तु को सुंदर समझ कर उसकी ओर आकृष्ट होती है, उस वस्तु में भी मानव-मन को अपनी ओर खींचने की एक विशेष शक्ति या आकर्षण हुआ करता है। मानवी रुचि तथा वस्तु-शक्ति जब आपस में मिल जाती हैं तो उससे सौंदर्य-बोध की उपज होती है। और मनुष्य को वह वस्तु सुंदर प्रतीत होने लगती है।'

मुझे सुनीता और गेंदे के झाड़-फूलों में यही रहस्य छिपा जान पड़ा। उसे अनमना देख कर मैंने दिलासा के भाव में कहा—"इस समय तो मैं दफ़्तर जा रहा हूँ, लौट कर सोचूँगा कि वह झाड़ किस प्रकार नये मकान में ले जाया जा सकता है।"

वह कुछ सोच कर बोली—"मेहता का बंगला तो आप के दफ़्तर के रास्ते में है!"

"हाँ, क्यों, गुलाब का जड़ोंधा चाहिए ?"

"नहीं, उसकी ज़रूरत नहीं है। इस झाड़ के विषय में एक उपाय मेरी समझ में आया है। मेहता के बाग़ीचे के माली से इसे उखाड़ ले चलने के बारे में पूछा जाय। वह ज़रूर कोई सुगम उपाय बता देगा। माली ठहरा, पौधों को इस क्यारी से उखाड़ कर उस क्यारी में लगाना उसका रोज़ का काम होगा। और अगर हो सके तो ज़रा देर को यहाँ आ कर पौधे को देख-समझ ले।"

"सोचा तो ठीक है। ख़ैर, दफ़्तर से लौटते समय उससे बात करूँगा।"

दफ्तर से लौटते समय मैंने माली से बात की, उसने पौधे को उखाड़ कर गमले में जमा देने का वादा किया। मैंने सुनीता को बता दिया और उसे ढाढ़स बँध गया।

दूसरे दिन सवेरे ही बूढ़ा माली मिट्टी का एक गमला ले कर आ गया। उसने पहले झाड़ के चारों ओर की मिट्टी को पानी से अच्छी तरह तर किया और फिर खोदना शुरू किया। सुनीता पूर्ण सतर्कता के साथ उसका हाथ बँटाने को मौजूद थी। चेतावनी भी देती जा रही थी—"देखना, बहुत सँभाल कर खोदना, पौधे की कोई जड़ न टूटने पाये! देखना, वह डाल लचक सी रही है। उस किनारे वाले फूल को धक्का न लगे। ठहरो, मैं उसे सँभालती हूँ।"

माली ने पूरी सावधानी के साथ मिट्टी सहित झाड़ को उखाड़ कर गमले में बैठा दिया। उसकी ताज़गी में थोड़ा भी फ़र्क़ न पड़ा। सुनीता माली के कार्य से बहुत ख़ुश हुई। पाँच रुपया का नोट ला कर उसके हाथ में रख दिया।

उसी दिन तीसरे पहर नये मकान में जाने की व्यवस्था होने लगी। ट्रक आ कर दरवाज़े पर खड़ा हो गया। सामान लादा जाना आरंभ हो गया। जब सब सामान ट्रक पर रख गया, मैंने सुनीता से कहा—"अपने इस झाड़ को भी ट्रक पर रखवा दो। सामान के साथ ये भी वहाँ पहुँच जायगा।"

"नहीं, इसे सामान के साथ ट्रक पर नहीं भेजूँगी।" वह बोली।

"क्यों, क्या हर्ज है।"

"रास्ते में जाने कैसा क्या हो। ट्रक के धक्कों और मनुवाँ की असावधानी से गमला टूट-फूट जाय, कोई डाल नष्ट हो जाय या किसी फूल को कुछ हानि पहुँच जाय।"

ट्रक सामान ले कर चला गया। मैंने कुछ रूखे स्वर से पूछा—"अब ये किस तरह जायगा?"

वह भी कुछ खीझ सी गयी, बोली—"जिस तरह मैं जाऊँगी उसी तरह ये भी जायगा।"

मैं समझ गया, गेंदे का यह झाड़ सुनीता की दुखती हुई नस है। अनहोनी घटनाओं की आशंका के कारण ये अपने झाड़ की ज़िम्मेदारी किसी दूसरे को नहीं सौंपना चाहती।

संध्या निकट थी, मैंने टैक्सी लाने के लिए आदमी भेज दिया। टैक्सी आ जाने पर मैंने कहा, "जल्दी सवार हो जाओ। अँधेरा होने से पहले वहाँ पहुँच जाना ठीक होगा।"

सबसे पहले उसने गमले को उठा कर सावधानी से पिछली सीट के सामने रखा और फिर ख़ुद आप सीट पर बैठ गयी। मैं उसकी बगल में बैठ गया। टैक्सी चल दी।

सुनीता का ध्यान पूर्ण रूप से झाड़ पर जमा था। एक हाथ से गमला पकड़े थी और दूसरे से फूल-पत्तियों को सहला रही थी। आँखें तो मानो संपूर्ण झाड़ का संतुलन साधे हुए थीं। उसे इस प्रकार व्यस्त देख कर मैंने कहा—"क्यों इस क़दर परेशान हो रही हो, गमला गिरा थोड़े ही जाता है।"

उसने एक बार मेरी तरफ़ देखा और फिर झाड़ पर दृष्टि जमा ली।

नये मकान में पहुँचते ही सुनीता गमले की व्यवस्था करने में पागल सी हो गयी। समस्त कमरों-बरामदों में घूम कर बार-बार मुझसे पूछती—"इसे कहाँ रखें? कौन सा स्थान ठीक होगा! अँगनाई तो इस मकान में है नहीं। खुले बरामदों में रखना ठीक न होगा। ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ यह सुरक्षित भी रहे और धूप-हवा भी पाता रहे।"

दो-एक स्थान मैंने बताये, लेकिन वे उसे पसंद न आये। दो-तीन बार अपने कमरे में आयी-गयी, फिर बोली—"मेरे कमरे में पूर्व की ओर जो बड़ी खिड़की है, उसके पीछे तो बहुत अच्छा खुला मैदान है। अगर उस खिड़की के सामने छोटी मेज़ लगा कर उस पर गमले को रख लिया जाय तो कैसा रहे? वहाँ झाड़ को धूप और हवा दोनों मिल सकेंगे। साथ ही मैं भी हर वक़्त देख-भाल कर सकूँगी?"

ट्रक से उतरा हुआ सारा सामान इधर-उधर बेतरतीब पड़ा था। मेरा ध्यान उसे ठिकाने से रखवा देने की तरफ़ था। इसलिए मैं कुछ खीझ सा गया, बोला, "तुम तो झाड़ के पीछे पागल हो रही हो। सारा असबाब बिखरा पड़ा है, उसकी कोई चिंता नहीं है। सिर्फ़ गमला ठिकाने से रखने की धुन सवार है। अपना भी समय बर्बाद करती हो और मेरा भी। इतने बड़े मकान में जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, जो जगह तुम्हें पसंद आये, वहाँ रख लो।"

उसने अंत में अपने कमरे की बड़ी खिड़की के सामने मेज़ पर गमले को रख लिया।

नये मकान में आये आठ-दस दिन हो गये थे; सुनीता अपने झाड़-फूलों पर पूर्ववत मुग्ध थी। नियम पूर्वक गमले में पानी डाला जाता था, तीसरे चौथे दिन खाद डाली जाती थी और दिन में बीसियों बार फूल-पत्तियों को सहलाया-दुलराया जाता था। झाड़ में खिले हुए फूल भी सुनीता को अपने सौंदर्य-पाश में बाँध लेने पर तुले हुए थे। दिन-प्रतिदिन उनका आकार और आकर्षण बढ़ता चला जा रहा था। केंद्र वाली संकुचित पंखुरियाँ भी अब बड़ी हो कर खिल रही थीं।

एक दिन मैं दफ़्तर से लौटा तो मुझे सुनीता बहुत अधिक प्रसन्न नज़र आयी। अभी कपड़े ही बदल पाया था कि उसने मुस्कराते हुए कहा—"मुँह-हाथ धोने के पहले एक मिनट के लिए मेरे कमरे में चलिए।"

"क्यों, कोई खास बात है?" मैंने पूछा।

"चलिए तो सही, खास ही बात है।" उसने आग्रह से कहा।

उसके साथ कमरे में पहुँचा। झाड़ के पास ले जा कर वह मुस्कराती हुई बोली—"अब इसकी सुंदरता और बहार देखिए!"

गेंदे का वह झाड़ मिट्टी के गमले की अपेक्षा, बहुत ही सुंदर, रँगी बेल-बूटे वाले चीनी

मिट्टी के बड़े से गुलदान में लहलहा रहा था। उस गुलदान के कारण वास्तव में झाड़-फूलों का सौंदर्य दूना बढ़ गया था। मैंने पूछा—"ये गुलदान कहाँ था?"

"पहले ये कहिए कि अब ये झाड़ कैसा दिखायी दे रहा है?"

"बहुत सुंदर नज़र आ रहा है। लेकिन इतना ख़ूबसूरत गुलदान तुम्हें मिल कहाँ से गया?"

"आज ही कलकत्ते से आया है।" वह हँस कर बोली।

"मज़ाक छोड़ो। सच कहो, कहाँ पाया। ये तो बहुत क़ीमती गुलदान मालूम होता है। इस डिज़ाइन और कारीगरी के गुलदान आजकल बाज़ार में कहीं नहीं दिखायी पड़ते।"

"आप सरला माथुर को तो जानते होंगे?"

"कौन सरला माथुर?" मैंने अनभिज्ञता से पूछा।

"मेरी सहेली सरला माथुर को आप नहीं जानते? सरला उन्हीं की तो पत्नी है, जो कभी-कभी आपके पास आया करते हैं और घंटों बैठ कर ग़ज़लें सुनाया करते हैं, जिन्हें आप फ़िज़ा साहब कहा करते हैं।"

"समझ गया, निरंजनलाल माथुर 'फ़िज़ा' लखनवी।"

"हाँ, उन्हीं की तो पत्नी है सरला।"

"तो वह तुम्हारी सहेली हैं। हाल ही में व्याह कर आयी हैं।"

"हाल में व्याह कर आयी हैं तो क्या हुआ। हम और सरला एक साथ ही पढ़ते थे। साथ-साथ ही संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। वह तो मेरी बहुत पुरानी सहेली है।"

"ख़ैर, इस गुलदान के मिलने की बात कहो।"

"वही तो बतला रही हूँ। सरला को मालूम था कि मैं यहाँ हूँ। इसलिए आज दोपहर में मकान का पता लेती हुई वह आयी थी। मिलने-मिलाने के बाद मैंने उसे अपना ये झाड़ दिखलाया। इतने बड़े फूल देख कर अचंभे में पड़ गयी। लेकिन वह मिट्टी वाला गमला उसे खटक गया, बोली—'इतने आकर्षक फूलों वाला झाड़ इस मिट्टी के गमले में अच्छा नहीं मालूम होता। बल्कि इस गमले के कारण झाड़-फूलों की चमक-दमक फीकी पड़ रही है। इस झाड़ को तो किसी सुंदर गुलदान में जमा कर रखना चाहिए।' मैं उसके कहने का कोई उत्तर न दे सकी। वह कहने लगी, 'मेरे यहाँ पुराने ज़माने का एक गुलदान खाली पड़ा हुआ है। मेरा ख़याल है कि वह इस झाड़ के लिए ठीक साबित होगा। अभी जा कर उसे भेज दूँगी।' कुछ देर बैठ कर सरला गयी और नौकर के हाथ उसे भेज दिया। इत्तफ़ाक़ से उसी समय मेहता साहब का वह बूढ़ा माली भी पौधे की हालत देखने आया। मेरे आग्रह पर उसने झाड़ को मिट्टी के गमले से निकाल कर इस गुलदान में बैठा दिया। मैंने उसे दो रुपये इनाम के तौर पर दे दिये।"

इसके बाद हम दोनों चाय पीने के लिए उसी कमरे में बैठे। कुछ इधर-उधर की बातों के बाद सुनीता एक क्षण झाड़ को लालसाभरी दृष्टि से देखती रही, फिर मुस्कराती हुई बोली —"मैं समझती हूँ, 'धर्मयुग' आदि सचित्र पत्रों में फूल-पौधों के जो रंगीन चित्र छपा करते हैं, वे ऐसे ही आकर्षक फूल-पौधों के फोटो ले कर छापे जाते होंगे।"

"हाँ, रंगीन फोटो उतारने के रंगीन फ़िल्म आते हैं। उन्हीं से फोटो ले कर और फिर बड़ा-छोटा ब्लॉक बनवा कर छापे जाते हैं। क्यों?"

"कुछ नहीं, यों ही पूछ लिया।" उसने सकुचाते हुए कहा।

"हमारे दफ़्तर के एक बाबू भी 'फोटोग्राफी' के शौक़ीन हैं। अक्सर सुंदर दृश्यों आदि के रंगीन फोटो खींच कर पत्रिकाओं में छपाते रहते हैं। पैसा भी मिलता है और शौक़ भी पूरा होता है। काम करते-करते अच्छा अभ्यास हो गया है उन्हें।"

"पत्रों में छपे हुए वे चित्र बिल्कुल सजीव से मालूम होते हैं।" सुनीता फूलों की तरफ़ देख कर बोली।

"तुम अपना मतलब कहो। इस जिज्ञासा के पीछे तुम्हारे दिमाग़ में ज़रूर कोई नयी बात चक्कर काट रही होगी।" मैंने मुस्कराते हुए कहा।

वह भी मुस्करायी, बोली—"बात कोई ख़ास नहीं है। हाँ, ख्याल में ये ज़रूर आया है कि अगर इस पौधे का भी रंगीन फोटो उतारा जा कर उसी तरह का चित्र बने तो कितना सुंदर मालूम हो।" उसकी निगाह फिर झाड़ की ओर घूम गयी। फिर भी मेरी ओर देख कर बोली—"क्या आप के दफ़्तर वाले बाबू इस झाड़ का फोटो न उतार देंगे?"

"उतार क्यों न देंगे। लेकिन रंगीन 'फोटोग्राफी' बहुत महँगी पड़ती है।"

"महँगे-सस्ते का तो कोई प्रश्न नहीं है। यदि 'धर्मयुग' के चित्रों जैसा इसका चित्र बन सके तो 'फोटो', 'फ़्रेम' आदि में सौ रुपया तक ख़र्च करने को मैं राज़ी हूँ।"

मैंने व्यंग्य किया—"इतना पैसा बेकार क्यों बर्बाद किया जाय। अगर तुम्हें गेंदे के फूलों का चित्र अपने पास रखना ही पसंद है तो पैसे की तरक़ीब मैं बता सकता हूँ।"

"हाँ, बताइए।" उसने उत्साह से भर कर पूछा।

"मेरे दफ़्तर में फूलों के बीजों की ढेरों सूचियाँ पड़ी हैं। उनमें हर प्रकार के फूलों के बड़े-बड़े रंगीन चित्र छपे रहते हैं। गेंदे के भी होंगे। आज दस-पाँच सूचियाँ लेता आऊँगा। देख कर अपनी पसंद का काट लेना। जी चाहे तो 'फ़्रेम' भी करा लेना।"

वह मेरी ओर से मुख फेर कर दूसरी ओर देखने लगी। मैं समझ गया कि उसे मेरा व्यंग्य खटक गया है। फिर भी मैंने हँस कर पूछा—"क्यों, क्या सूचियों के चित्रों से तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण न होगी?"

सुनीता क्षुब्ध हो कर बोली—"रहने दीजिए। मुझे मज़ाक़ अच्छा नहीं मालूम होता। मज़ाक़ के मौक़े पर ही मज़ाक़ भला लगता है।"

मैंने सोचा—लोग तो अपनी श्रीमतियों का दिल रखने के लिए जाने क्या-क्या करते हैं। उनके अनुरोध के पीछे मर मिटते हैं। आगरे का वह ताजमहल शाहजहाँ ने अपनी बेगम के अनुरोध पर ही तो बनवाया था। और कुछ न सही, किंतु सुनीता का यह आग्रह पूरा करना तो कोई कठिन बात नहीं है। बाबू से ज़बान ही तो हिलाना पड़ेगी।

मैंने कहा—"ख़ैर, मज़ाक़ ख़तम हो गया। अब सच कहो, क्या तुम इस झाड़ का रंगीन फोटो खिंचाना ही चाहती हो?"

"जी तो यही चाहता है। लेकिन आप तो मज़ाक़ करते हैं।"

"अच्छी बात है। कल दफ़्तर में बाबू से बात करूँगा।"

दूसरे दिन दफ़्तर में मैंने बाबू से सुनीता का अनुरोध स्पष्ट किया। बाबू सहर्ष तैयार हो गये। अगले दिन दूसरा शनिवार था। सबेरे ही कैमरा ले कर बाबू आ गये। गेंदे के झाड़ का फोटो खिंच गया। सुनीता ने उत्साह भरे स्वर में बाबू से पूछा--"चित्र कब देखने को मिलेगा?"

"पंद्रह-बीस दिन बाद। बंबई से बन कर आयेगा।" बाबू ने उत्तर दिया।

बाबू के चले जाने के बाद वह मुझसे बोली--"आप बाज़ार जायँ तो किसी 'फ़ैंसी' वस्तुओं के 'स्टोर' में कोई नये 'डिज़ाइन' का चाँदी का 'फ़्रेम' चित्र के लिए देख रखिएगा।"

"ओ हो, चाँदी के 'फ़्रेम' में चित्र रखा जायगा?" मैंने मुस्करा कर कहा।

वह भी थोड़ा मुस्करायी, बोली--"क्यों, इतने सुंदर फूल-पौधे का चित्र चाँदी के फ़्रेम में न सजाया जायगा, तो क्या चार पैसे वाले किसी काठ के चौखटे में रखा जायगा।"

अब गेंदे का वह झाड़ सुनीता के लिए केवल आकर्षण की वस्तु न था। बल्कि अकेले का साथी और मन को प्रफुल्लित रखने का साधन बन गया था। जब मैं दफ़्तर चला जाता, वह गुलदान के सामने बैठ कर झाड़-फूलों से खेला करती। पहले वह अवकाश के समय में अक्सर तानपूरा ले कर बैठ जाती थी और किसी न किसी गति का अभ्यास किया करती थी या कभी कोई पुस्तक ले कर बैठ जाती थी। लेकिन जिस दिन से गेंदे के फूलों का रोग उसके पीछे लगा था पिछले सभी मनोरंजन जाते रहे थे। दिन-दिन भर फूल-पत्तियों से खेलती रहती थी। इस खिलवाड़ से उसका जी कभी नहीं ऊबता था। दोपहर में अगर कोई सखी-सहेली मिलने आ जाती, तो उसे भी बरबस सुनीता के खिलवाड़ में शरीक होना पड़ जाता था। अक्सर जब मैं दफ़्तर से लौटता, सुनीता मुझे झाड़ के संमुख बैठी मिलती थी। यदि मैं कभी पूछ लेता--"इस खिलवाड़ से तुम्हारा जी नहीं ऊबता?" वह शीघ्र कहती--"दफ़्तर से आपका मन क्यों नहीं ऊबता।" कुछ भी हो, गेंदे के फूल-पौधे ने सुनीता के जीवन में एक नयी स्फूर्ति और उत्साह भर दिया था।

पंद्रह-बीस दिन बीत गये। एक दिन दफ़्तर में फोटो वाले बाबू ने एक 'पैकेट' ला कर मेरे सामने रख दिया, बोले--"बंबई से उस झाड़ का चित्र बन कर आ गया है।" मैंने पैकेट खोल कर देखा। दस-बारह के नाप में बहुत सुंदर चित्र बना था। बिलकुल सजीव सा दिखायी देता था। रंगों में तो ग़ज़ब की चमक-दमक थी। मुझे देखते-देखते मुझे स्मरण हो आया कि उस दिन सुनीता ने इस चित्र के लिए एक ख़ूबसूरत चाँदी के 'फ़्रेम' का आग्रह किया था। मैं दफ़्तर से कुछ पहले उठ कर सदर बाज़ार की तरफ़ चल दिया। बाज़ार में मुझे 'फ़्रेम' के लिए अधिक परेशान नहीं होना पड़ा। 'फ़ैंसी' वस्तुओं के 'स्टोर' में बहुत अच्छे 'डिज़ाइन' का 'फ़्रेम' चित्र ही के नाप का मिल गया। दाम ज़रूर कुछ अधिक देना पड़े, लेकिन सुनीता के आग्रह के आगे 'फ़्रेम' की महँगाई मुझे अखरी नहीं। चित्र को 'फ़्रेम' में 'फ़िट' करा कर घर लौटा। सुनीता पलंग पर तकिये में मुँह धँसाये पड़ी थी। आवाज़ दी--

"सुनीता?"

कोई उत्तर न मिला।

घबड़ा कर पलँग के पास पहुँचा और कंधा हिला कर पूछा—"सुनीता, क्या बात है? बेवक़्त कैसा मुँह औंधाये पड़ी हो?"

उसने धीरे से सिर उठा कर कातर दृष्टि से मेरी ओर देखा और फिर तकिये में मुँह छिपा लिया। उसका मुँह आँसुओं से भरा था।

"क्या तबीयत खराब है? सिर में दर्द हो रहा है? डॉक्टर वर्मा को बुलाऊँ।"

"नहीं।" वह धीरे से बोली।

"फिर तुम रो क्यों रही हो? मुख आँसुओं से क्यों भरा है?"

उसने सिर उठाया; बोली, "मेरा गेंदे का झाड़ और फूल"...गला भर आया; आगे कुछ न कह सकी।

"क्या हुआ तुम्हारा गेंदे का झाड़?" मैंने कौतूहल से पूछा।

"खतम हो गया...मेरी ही असावधानी के कारण उसे गाय खा गयी।...गुलदान भी टुकड़े-टुकड़े कर डाला।" उसने अपराधिनी की तरह कहा।

"अरे, ये सब कैसे हो गया? क्या तुम कमरे में नहीं थीं। वहाँ गाय कैसे पहुँच गयी?"

वह कुछ देर मौन रह कर बोली—"उसे समाप्त कर देने की अपराधिनी मैं स्वयं हूँ। गाय का कोई दोष नहीं। वह तो पशु ही है। दोषी मैं हूँ। झाड़ आदि की रक्षा करना मेरा काम था, मेरी ज़िम्मेदारी थी।"

"मगर यह सब हुआ किस तरह! मुझे तो इसी बात की हैरत है।" मैंने पलंग पर बैठते हुए कहा।

सुनीता आँचल से आँखें पोंछ कर बोली, "आज दोपहर में श्रीमती सक्सेना और श्रीमती शर्मा मिलने आयी थीं। मैं झाड़ के सामने बैठी फूलों से खेल रही थी, उन्हें भी वहीं बैठा लिया। झाड़ और फूलों को देख कर दोनों बहुत खुश हुईं। बहुत देर तक वे दोनों भी झाड़-फूलों के साथ खेलती रहीं।"

मैंने बीच में टोका—"तब उसे उन दोनों की नज़र लग गयी।"

"नज़र क्या लग गयी। पूरी बात सुनिए। कमरे के अंदर फूलों की चमक-दमक कुछ धीमी सी मालूम पड़ती थी। श्रीमती शर्मा ने उसे बाहर वाले बरामदे में ले चलने का आग्रह किया। मैंने गुलदान को ले जा कर बाहर वाले बरामदे में रख दिया। प्रकाश में फूलों का रंग बिलकुल कुंदन की तरह चमक उठा। देख कर हम लोगों के मन में गुदगुदी पैदा होने लगी। बहुत देर तक वे लोग यहाँ रहीं। जाते समय मैं उन्हें छोड़ने के लिए फाटक पर गयी और बातों की धुन में सामने वाली सड़क को पार कर गयी। फाटक खुले होने का ध्यान बिलकुल दिल से उतर गया। शायद इसी बीच में गाय बरामदे में पहुँच गयी। जब मैं वापस लौटी, देखा, गुलदान टूटा-फूटा पड़ा है। गाय फूल-पत्तियों से पेट भर चुकी है। बचे हुए दो-चार डंठलों को चबा रही है।"

इसके बाद वह आँचल से मुँह ढाँक कर सिसकियाँ भरने लगी।

मेरी समझ में न आया कि सुनीता अपनी ज़िम्मेदारी को पूरा न कर सकने की ग्लानि को ले कर रो रही है अथवा गेंदे के झाड़ और उसके चार फूलों के मोह-पाश में बँध कर। साधा-

रण से फूल-पौधे के लिए इतना संताप क्यों ? जाने कितने सुंदर फूल प्रतिदिन खिलते हैं, मुरझाते हैं और सूख-झड़ कर मिट्टी में मिल जाते हैं। कौन उनके लिए रोता है! प्रकृति का नियम ही कुछ ऐसा है।

मैंने उसे ढाढ़स दिया—"बेकार के दुख-दर्द से मन को क्यों बोझल बना रही हो ? आज नहीं, दस दिन बाद तो उसे सूख ही जाना था। उसके लिए व्यर्थ का दुख लिये बैठी हो। और अगर तुम्हें एक गेंदे के पौधे से ही प्रेम है तो दूसरा लगा लेना।"

वह भरे गले से बोली—"अब दूसरा लगा कर क्या करूँगी!"

मैंने 'पैकेट' खोला और 'फ़्रेम' में 'फ़िट' चित्र निकाल कर उसके हाथ में देते हुए कहा, "उस झाड़ का चित्र आज बंबई से बन कर आया है। 'फ़्रेम' भी चाँदी का, जैसा तुम चाह रही थीं, 'फ़ैंसी स्टोर' में मिल गया।"

सुनीता कुछ देर तक चित्र को लालसाभरी दृष्टि से देखती रही। फिर मेरे हाथ में दे कर बोली—"इस 'फ़्रेम' से यह चित्र निकाल कर कोई दूसरा लगा दीजिए।"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"क्यों, तुमने तो बड़े उत्साह से रंगीन 'फोटो' खिचवाया था। उस पौधे के अभाव में इस चित्र से ही मन बहलाया करना।"

"नहीं।"

और उसने फिर तकिये में मुँह छिपा लिया। सिसकियाँ उभरने लगीं। मैं चुपचाप बैठा उसकी मासूम सिसकियों को बटोर कर अपने हृदय में भर लेने की चेष्टा करने लगा।

—द्वारा हरिकृष्ण देवसरे,
आकाशवाणी, भोपाल।

सूर्यप्रसाद दीक्षित

'साकेत' का प्रतिपाद्य

'साकेत' के प्रतिपाद्य तत्व पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। यह प्रश्न अनेक शंकाओं को जन्म देता है क्योंकि सारी समस्याओं का यही उद्‌गम है। प्रतिपाद्य का निर्णय हो जाने पर सारे रहस्य स्वयं ही सुलझ जाते हैं। इस प्रश्न के संबंध में निम्नलिखित विचार उठते हैं—

१. **उर्मिला के प्रति संवेदना**—'साकेत' का चरम प्रतिपाद्य कुछ विद्वानों की दृष्टि में उर्मिला के प्रति संवेदना व्यक्त करना है। इस कथन के पीछे दो तर्क हैं। एक तो उर्मिला इस काव्य की रचना में प्रेरणादायिनी रही है। रवींद्र के 'काव्येर उपेक्षिता नारी' और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक निबंधों ने गुप्त जी को इस ओर संभवतः प्रेरित किया होगा। गुप्त जी द्विवेदी जी के प्रिय शिष्य रहे हैं। वे इस ओर सामान्यतः प्रवृत्त न हुए होते—**महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद** और तब उर्मिला को प्राधान्य न मिला होता—ऐसा हम अनुमान कर लेते हैं। दूसरी ओर 'साकेत' में सर्वत्र, सप्रयास उर्मिला को उपस्थित किया गया है। अनेक सर्गों में वही कथा-सूत्र की संचालिका है; उसी के फलागम से काव्य की परिसमाप्ति की गयी है। कवि ने परंपरा से मूक पात्री उर्मिला को अत्यधिक गतिशील और मुखर बनाया है, उसके पात्रत्व को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है, इसलिए इस काव्य के प्रतिपाद्य के रूप में उर्मिला को स्वीकार करने का विचार मस्तिष्क में स्वभावतः उत्पन्न होता है।

२. **राम का चरित्रांकन**—'साकेत' में कथावस्तु के अनुपात को देखते हुए यह उक्ति भी उचित प्रतीत होती है कि साकेतकार का प्रमुख प्रतिपाद्य येन केन प्रकारेण राम-कथा का समग्र उपस्थापन करना है। कवि ने बड़ी प्रबंध-वक्रता के साथ, अनेक पात्रों के माध्यम से, अनेक घटनाओं के व्याज से राम-कथा का प्रतिपादन किया है। समस्त काव्य पर राम का 'चरित' आरोपित किया गया है। कवि को राम का वृत्त स्वयं ही काव्यमय ज्ञात होता है, वह राम के ईश्वरीय एवं मानवीय रूप में मनसा, वाचा, कर्मणा रमना चाहता है। इस प्रकार की आरंभिक उक्तियाँ कवि की आस्था का साक्ष्य प्रस्तुत कर के काव्य के केंद्र-बिंदु का संकेत करती हैं जिससे हमारी यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि राम-कथा ही वस्तुतः 'साकेत' का मुख्य प्रतिपाद्य है।

३. **चमत्कार-प्रदर्शन**—कुछ विद्वानों का यह भी अभिमत है कि साकेतकार कथा-कथन या वस्तु-प्रतिपादन की अपेक्षा चमत्कार-प्रदर्शन में अधिक प्रवृत्त हुआ है और यही मूलतः

उसका प्रतिपाद्य है। इस तर्क के पक्ष में 'साकेत' के कुछ स्फुट कथन हैं जिनमें कवि अपनी लेखनी, अपनी कल्पना-शक्ति या अपनी विलक्षण अलंकरण-वृत्ति उत्प्रेरित करता है, यथा––

लेखनी, अब किसलिए विलंब––।×चल चपल कलम, निज चित्रकूट चल देखें।
×ढाल लेखनी, सफल अंत में मसि भी तेरी।×उपमे, यह है साकेत यहाँ।
कहाँ है कल्पने तू देख आ कर, स्वयं ही सत्य हो यह गीत आकर।

आदि इस प्रकार की उक्तियाँ उपर्युक्त मत-स्थापन में सहायक हैं। इसके अतिरिक्त 'साकेत' की कथा अथवा पात्रों के प्रस्तुतीकरण में पूर्व परंपरा के परिप्रेक्ष में जो वैचित्र्य दिखायी देता है वह भी उक्त मत की परिपुष्टि में ग्राह्य है। कवि प्रत्येक सर्ग के आरंभ में अपना विषय प्रस्तावित करता है और संबंधित कवियों से कलात्मक प्रेरणा ग्रहण करता है, इसके पीछे भी चमत्कारिक वृत्ति की आशंका होती है। संपूर्ण काव्य में गुप्त जी उक्ति-वैचित्र्य, भाव-वैचित्र्य, लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक उक्तियों और शाब्दिक चातुर्य का आश्रय लेते हैं, विशेषतः नवम सर्ग में वे अपनी कलात्मक दक्षता का जो परिचय देते हैं वह भी इसी आशंका को जन्म देता है और फलतः 'रामचंद्रिका' की भाँति 'साकेत' को भी हम चमत्कृति-प्रधान कृति मान लेते हैं।

४. राम-काव्य का नवीकरण––'साकेत' की नवोद्भावनाओं अथवा मौलिक स्थापनाओं को देखते हुए यह भी अनुमानित होता है कि नवीकरण की प्रवृत्ति साकेतकार में प्रधान रही है। उसने परंपरा से पृथक एक नवीन धरातल पर अपने काव्य को प्रतिष्ठित किया है। रामकथा और तत्संबंधी पात्रों को भी कवि ने नया रंग दिया है। उसने प्रत्येक घटना की व्याख्या आधुनिक देश-काल के अनुरूप की है और प्रत्येक पात्र को युग-सापेक्ष दृष्टि से देखा है। 'साकेत' पर आधुनिकता का प्रभाव आद्यंत विद्यमान है। कवि ने अपने जीवन-मूल्यों के आधार पर पुरातन को नूतन आकार दिया है। काव्य में राष्ट्रीय विचारधारा, सामूहिक भावना, सुधारात्मकता तथा सांस्कृतिक जागरण आदि के प्रसंग इसी समसामयिक दृष्टि के कारण प्रतिफलित हुए हैं। गुप्त जी प्रधानतः राष्ट्रीय चेतना और भारतीय संस्कृति के आख्याता हैं, अतः यह अनुमान भी सहज है।

५. नारीत्व के प्रति निष्ठा––वर्तमान हिंदी कविता में नारी-भावना की आवाज़ उठाने वालों में गुप्त जी अग्रगण्य हैं। उन्होंने बड़ी आस्था के साथ अबलाओं के आँसुओं में झलमलाती हुई बेबसी की कहानी पढ़ी है। 'साकेत' में उनका यह प्रयास अत्यधिक भास्वर है। उर्मिला को तीव्र सहानुभूति देने के अतिरिक्त वह अन्य नारी-पात्रों के प्रति भी सदय एवं आस्थावान हैं। कौसल्या, सुमित्रा, सीता, मांडवी, श्रुतिकीर्ति आदि नारियाँ तो आदर्शस्वरूपा हैं ही, कवि ने कैकेयी जैसी दुर्मति नारियों को भी उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया है। यह नारी-भावना उसकी राष्ट्रीयता से उद्भूत है। प्रत्येक घटना के केंद्र में प्रायः यही नारियाँ हैं। राम के वनगमन के मूल में एक नारी का गृह-विद्रोह है, राम का युद्ध नारी-अपहरण से प्रेरित है, साकेतवासियों की व्यथा नारी के कारुणिक विरह से ही बलवती होती है––इस प्रकार पात्रियाँ प्रायः सूत्र-संचालिका रही हैं जिन्हें देख कर इसे काव्य का प्रतिपाद्य स्वीकार किया जा सकता है।

६. आदर्श-स्थापन—'साकेत' का प्रायः प्रत्येक पात्र आदर्शप्रवण है, वह अपने चारित्रिक गुणों का प्रतिनिधि है। कार्य-व्यापार और पात्रों द्वारा कवि ने सर्वत्र हमारे समक्ष अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। 'साकेत' को हम आदर्शप्रधान महाकाव्य स्वीकार कर सकते हैं; अस्तु, इस उद्देश्य-पूर्ति को काव्य का प्रतिपाद्य माना जा सकता है।

इसी प्रकार अतीत-गौरव, वियोग-भावना, सांस्कृतिक संचरण औ गांधीवादी विचारणा आदि से संबंधित और अनेक भावनाएं हैं जिन्हें हम न्यूनाधिक मात्रा में 'साकेत' का प्रतिपाद्य मान सकते हैं किंतु इन अनेक सूत्रों में किसी एक को प्रमुख प्रतिपाद्य कहना दुष्कर है। काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य एक ही हुआ करता है और वह सर्वांगपूर्ण होता है। 'साकेत' के इन उपर्युक्त लक्षणों में किसी को भी प्रमुख प्रतिपाद्य कहना कुतर्क करना है, क्योंकि ये तत्व काव्य में आंशिक रूप से ही आये हैं, आद्योपांत रूप में नहीं। कोई भी अभिमत अपवादों के आधार पर स्थिर नहीं किया जा सकता, काव्य में उसके संपूर्ण अंतर्घटन एवं अन्विति का सम्यक निर्वाह अनिवार्य है। प्रतिपाद्य तत्व की स्वरूप-व्याख्या भी इस दृष्टि से उपयोगी है। हम प्रतिपाद्य को प्रेरक तत्व तथा उद्देश्य से पृथक मानते हैं। प्रतिपाद्य से मेरा तात्पर्य है—वह केंद्र-विंदु, वर्ण्य-विषय या आधार जिसमें कवि व्याप्त है, जिस पर वह लक्ष्य-संधान करता है जिसकी सीमाओं में वह आद्यंत घिरा है; अस्तु, कोई एक स्फुट धारणा प्रतिपाद्य नहीं बन सकती। प्रतिपाद्य के लिए आवश्यक है कि यह धारणा उसका एकमात्र मनोमंतव्य बन जाय। प्रतिपाद्य स्फुट भाव न हो कर समग्र भावभूमि हो जाता है; वह अंश न हो कर अंशी है और उसी से अनेक विचार प्रसूत होते हैं। 'साकेत' के प्रतिपाद्य का निरूपण करने के लिए हमें उसकी भावभूमि का निर्णय करना है।

उर्मिला के प्रति संवेदना व्यक्त करना 'साकेत' का परम प्रतिपाद्य नहीं है। यह काव्य का प्रेरक तत्व है, प्रतिपाद्य तत्व नहीं। साकेत में उर्मिला का प्राधान्य अवश्य है, पर कवि ने उसका सर्वांग समुस्थापन नहीं किया है। संवेदना के अतिरिक्त उसके विविध पक्षों का उद्‌घाटन और उसके चारित्रिक विकास का समग्र प्रस्तुतीकरण कवि का ध्येय नहीं है। 'साकेत' की अन्य विचारधाराओं में यह भी एक प्रमुख विचारधारा है, पर उर्मिला के साथ ही अन्य जो प्रसंगेतर उल्लेख हुए हैं (अर्थात राम, भरत, कैकेयी, शत्रुघ्न आदि के जो विस्तृत चरित्रांकन हुए हैं) उन्हें देखते हुए मात्र उर्मिला को प्रतिपाद्य नहीं कहा जा सकता। यही उक्ति राम पर भी चरितार्थ होती है। राम का भी कवि ने पूर्ण प्रतिपादन नहीं किया है, केवल एक विशेष देश-काल में ही उनकी चारित्रिक रेखाएँ निर्धारित की गयी हैं। वे निश्चय ही 'साकेत' के महानतम पात्र हैं, कवि के आराध्य हैं पर वस्तु-पक्ष के प्रसार के साथ-साथ उनका विस्तार नहीं हो सका है। अस्तु, एकमात्र उन्हें भी प्रतिपाद्य कहना एकांगी धारणा है। साकेत का लक्ष्य चमत्कार-प्रदर्शन भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। गुप्त जी में कलात्मक जागरूकता तो है पर स्थूल कला के अतिरिक्त वे गंभीर भावबोध के लिए भी तत्पर हैं। चमत्कृति या उक्ति-वैचित्र्य के जो अपवाद मिलते हैं वे 'प्रतिपाद्य' तत्व की सीमा में नहीं आते। गुप्त जी को हम केशव की श्रेणी में नहीं रख सकते। 'साकेत' में उनके विशिष्ट मनोमंतव्य हैं, उनके जीवन-दर्शन की विशिष्ट वैचारिक भावभूमि है। सर्गारंभ में कविवरों का स्मरण करने में कृतज्ञता-ज्ञापन का भाव है। चमत्कारिक उक्तियों

का कारण है—कवि की कला-दक्षता। राम-काव्य का नवीकरण भी प्रतिपाद्य नहीं कहा जा सकता। यह तो कारण है, कार्य नहीं। नवीकरण कवि का साध्य नहीं बन सकता, अन्यथा इसके पीछे चमत्कार-प्रदर्शन का ही आग्रह होता। यह तो गुप्त जी के विषय-प्रतिपादन की सहज परिणति है, या इन मौलिक उद्भावनाओं को हम काव्य की विशेषता के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रत्येक प्रवर्तनकारी एवं समर्थ कवि युगसापेक्ष दृष्टि से पूर्व वृत्तों में परिवर्तन करता ही है। वह युग-धर्म के अनुकूल पात्र का स्वरूपांकन तथा क्रिया-व्यापार की व्याख्या करता है पर यह उसका उद्देश्य नहीं होता। 'साकेत' की वस्तु में जो परिवर्तन आये हैं, वे सहज-स्वाभाविक हैं, प्रयास-साध्य नहीं। नारीत्व के प्रति निष्ठा व्यक्त करना काव्य की अनेक विचारधाराओं में एक धारणा है पर वह भी आधिकारिक विषय नहीं है। नारीत्व के अतिरिक्त कवि आदर्श पुरुषत्व की प्रतिष्ठा भी करता है। 'साकेत' की उर्मिला को हम उस कोटि में नहीं रख सकते, जिसमें 'विधृता' (द्वापर), 'विष्णुप्रिया' एवं 'रत्नावली' को रखते हैं। 'साकेत' की नारी पुरुष द्वारा परित्यक्त नहीं हो गयी है अपितु उसकी वियुक्ति परिस्थितिक प्रतिकूलता तथा महत्कर्तव्य के कारण होती है, इसलिए पुरुष की अपेक्षा नारी को अधिक सहानुभूति देना कवि का उद्देश्य नहीं रहा है। हाँ, नारीत्व के प्रति गुप्त जी उदार हैं पर संतुलन खो कर नहीं। आदर्श-स्थापन काव्य का उद्देश्य है, इसीलिए 'साकेत' काव्य आदर्शपरक है, किंतु उद्देश्य प्रतिपाद्य तत्व से भिन्न होता है, उसी तरह जैसे तुलसी का उद्देश्य है भक्ति, पर प्रतिपाद्य है रामचरित। इसीलिए अन्य सूत्र भी स्वयं में पूर्ण प्रतिपाद्य नहीं कहे जा सकते। उपर्युक्त कथन 'साकेत' की विशेषता के रूप में या उसके लक्षण, उद्देश्य अथवा काव्य के प्रेरक तत्व के रूप में स्वीकार किये जाने चाहिए। प्रतिपाद्य तत्व इन सभी मतों को आत्मसात कर के एकसूत्रता प्रदान करता है। उसमें पार्थक्य नहीं होता; परिपूर्णता होती है; सभी विचारांश उसमें समाविष्ट तथा अंतर्घटित हो जाते हैं और वह उन्हें समवेत रूप में अंगीकार करता है।

'साकेत' का प्रतिपाद्य है—**साकेत**। वह न केवल एक स्थान विशेष है, बल्कि उसकी एक भावात्मक सत्ता है। साकेत शब्द के अंतर्गत साकेत की भौमिक सत्ता (भौगोलिक एवं राजनीतिक), साकेत के निवासी (नागरिक) एवं साकेत की संस्कृति का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। इसी आधार पर राष्ट्र का स्वरूप-संघटन होता है। साकेत इसी प्रकार का एक राष्ट्रीय अस्तित्व है। उर्मिला या राम, काव्य के प्रतिपाद्य होते तो इसका शीर्षक व्यक्तिपरक हो जाता और 'साकेत' एक चरित-काव्य बन जाता। यदि कोई घटना, कार्य-व्यापार और विचारधारा को कवि प्रतिपाद्य बनाना चाहता तो प्रधानतया उसे ही अंगीकार किये होता। 'साकेत' में हमें तीन प्रकार के वर्ण्य-विषय मिलते हैं—

१. साकेत के पार्थिव वर्णन—इसमें कवि साकेत नगरी, राजप्रासाद, राजमार्ग, उपवन, दरबार आदि चित्रित करता है। साकेतकार ने यदा-कदा अपने केंद्र का वर्णन प्रायः प्रस्तुत किया है। साकेत की संपन्न स्थिति, विपन्न स्थिति, साकेत भूमि पर घटित क्रिया-व्यापार, संयोग-वियोग, वन-गमन, नृप-मरण, अंत्येष्टि-संस्कार, रण-प्रयाण, प्रशासन, स्वागत-सज्जा आदि विषय इसीलिए यथासंदर्भ वर्णित हुए हैं। घूम-फिर कर कवि ने विविध प्रकार से ये वर्णन प्रस्तुत किये हैं।

रामादि के वन जाने पर वह इस भावात्मक सत्ता (साकेत) का वन में भी निर्माण कर लेता है—**बने नूतन अयोध्या नाथ वन में।** साकेत के इस पार्थिव स्वरूप को सविस्तर प्रकट करने की दिशा में कवि प्रयासोन्मुख है, क्योंकि वही उसकी आधारभूमि है।

२. **साकेतनिवासी जनों का स्वरूपांकन**—साकेतवासी जन, विशेषत: राम-परिवार कवि का लक्ष्य है। इनका स्वरूपांकन युक्त न हो कर घटना एवं क्रिया-व्यापार से परिचालित है। इन निवासी जनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं—राम, क्योंकि वे आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम हैं। समस्त परिवार और प्रजावर्ग के वे श्रेय, प्रेय एवं ध्येय हैं। कौटुंबिक कलह के कारण वे साकेत का परित्याग कर वन को प्रस्थान कर जाते हैं, फिर भी अपनी चारित्रिक महत्ता के कारण वे चिर-स्मरणीय रहते हैं। कवि ने उन्हें **आदर्श, घट-घट के वासी** तथा **जन-जन में रमने वाला** कहा है इसलिए समस्त साकेत राज्य उनके वन-गमन से दुखी है। साकेत का आबालवृद्धनारी चौदह वर्षों तक राम की अनवरत प्रतीक्षा में रत है। प्रत्येक नागरिक, स्वजन तथा बांधव उनके वन्य जीवन की घटनाओं का उल्लेख करता है। राम चूंकि सभी की श्रद्धा के केंद्र-बिंदु हैं, इसलिए उनके संबंध में साकेत के अंतर्गत चर्चा चलती ही रहती है। कभी साकेतवासी (जैसे उर्मिला, भरत, शत्रुघ्न आदि) उनके पूर्व वृत्तों का स्मरण करते हैं, कभी कुछ बाहरी व्यक्ति (जैसे व्यापारी, हनुमान) आ कर उनके कार्यों की सूचना साकेत में दे जाते हैं और अंत में साकेतवासियों के भावावेश को शांत करने के लिए मुनि वसिष्ठ रामादि का दृश्य गोचरीभूत करा देते हैं। इस प्रकार इन सारे सूत्रों के संगुंफन से समस्त रामचरित संगठित हो जाता है। कवि का एकमात्र यह आग्रह नहीं है कि वह रामचरित का गायन ही करे पर साकेत का प्रतिपादन करते हुए यह स्वभावत: हो ही जाता है, क्योंकि राम के कारण ही 'साकेत' साकेत है। यदि राम का चरित्रांकन कवि का प्रतिपाद्य होता तो वह राम का संपूर्ण चरित्र प्रतिपादित करता, केवल सांकेतिक उल्लेख के रूप में नहीं, बल्कि वर्णन के रूप में। राम के वन-गमन पर कवि साकेत की सीमाओं का अतिक्रमण कर राम का ही पदानुगमन करता किंतु आलोच्य कृति में वह साकेत की सीमा में स्थित है। उसने राम का वही रूप सविस्तर निरूपित किया है जो साकेत में सविशेष सुना जाता है, देखा जाता है या चरितार्थ होता है। उर्मिला के संबंध में भी यही तथ्य है। वह साकेत की सर्वाधिक दुखिनी **रघुकुल की असहाय वधू** और **अभागिनी बाला** है। रामादि के वन-गमन के कारण सबसे बड़ा प्रत्यक्ष आघात उसी को लगा है इसलिए वह इस विरह से भावी पुनर्मिलन (१४ वर्ष बाद) तक के लिए वियोगिनी है। साकेतवासी होने के कारण उर्मिला इस काव्य में अधिक स्थान की अधिकारिणी है क्योंकि रामादि के वन चले जाने पर यहाँ के बचे हुए और व्यक्तियों में वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अपने औदार्य, कर्तव्य-बोध तथा मन:संताप के कारण वह साकेतवासियों की सहानुभूति की लक्ष्य है। प्रत्येक जानकार व्यक्ति उसके प्रति संवेदनशील है। इस व्याज से साकेतकार ने उसे तीव्र संवेदना अर्पित की है। उर्मिला का विरहिणी रूप चौदह वर्षों तक चलता है इसलिए 'साकेतकार' विस्तार से उसके दीर्घ वियोग का वर्णन करता है। इस विरह-काल में साकेत के अंतर्गत कोई गतिशील घटनाएँ घट नहीं रही हैं अत: यहाँ कथावस्तु भी मंद है। कवि ने यहाँ संकलनत्रय का निर्वाह किया है। लक्ष्मण के लौट आने पर उसका वियोग खंडित हो जाता

जाता है अतः कथा भी यहीं समाप्त हो जाती है। इस प्रकार राम का चरित्रांकन करना और उर्मिला के प्रति संवेदना व्यक्त करना 'साकेत' की आधिकारिक कथा-वस्तु की पूर्ति करना है। इन दो पात्रों के अतिरिक्त यथाप्रसंग कैकेयी, भरत, शत्रुघ्न आदि भी प्रमुखता प्राप्त करते हैं क्योंकि वे भी साकेतवासी हैं और अलग-अलग अवसरों पर वे घटना का सूत्र-संचालन करते हैं। कवि ने साकेत को समूहवाची संज्ञा के रूप में ग्रहण किया है इसलिए यत्र-तत्र प्रजावर्ग, लोक-पारावार, समुदाय, सभा, सेना आदि को भी समक्ष प्रस्तुत किया है, अतः निश्चित है कि इन चरित्रों के स्वरूपांकन के पीछे मूल प्रतिपाद्य है—साकेत। कवि ने साकेत की संस्कृति को प्रस्तुत करते हुए अपनी अनेक धारणाओं को अभिव्यक्त किया है। साकेत भारतीयता का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ के एक-एक निवासी में नारीत्व के प्रति गहन निष्ठा है; वहाँ का प्रत्येक नागरिक राष्ट्रीयता से संपृक्त है। वहाँ जन-जन में भक्ति, आस्था, आस्तिकता तथा आत्मोत्सर्ग की भावना है इसलिए काव्य में ये भावनाएँ उन्मुक्त रूप से प्रकट हुई हैं। साकेत शब्द से गुप्त जी के दोनों प्रयोजन जुड़े हुए हैं, प्रथम——उनका पुरातनवादी संकल्प, भक्ति-भाव, पुराख्यानक तत्व और दूसरी उनकी पुनरुत्थानवादी धारणा, समसामयिक राष्ट्रीयता तथा नव जागृति। पुनर्जागरण के लिए वे अतीत-गौरव का स्मरण कराना चाहते हैं और इसीलिए अतीत को वे आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं। आदर्शवाद उनका सिद्धांत है; उनके जीवन का दृष्टिकोण है; उनके काव्य का उद्देश्य है। प्रतिपाद्य रूप में हमें सारांशेन 'साकेत' को स्वीकार करना पड़ता है। इसी अभिप्राय से शीर्षक की रचना की गयी है, इसी के अनुसार वस्तु का संघटन और चरित्रों का निरूपण किया गया है। कवि ने प्रथम बार साकेत (स्थानवाची शब्द; एक विशेष देश-काल) को प्रतिपाद्य रूप में स्वीकार करते हुए अभिनव प्रयोग किया है। प्रतिपाद्य विषयक उक्त धारणा को स्वीकार कर लेने से सारे सूत्रों का सामंजस्य हो जाता है और सब शंका-समाधान इसी में सन्निहित प्रतीत होते हैं। किंतु इसके लिए आवश्यक है कि 'साकेत' शब्द की भावात्मक सत्ता, उसकी सीमा, उसके तात्पर्य और उसके प्रतिपादित स्वरूप से हम परिचित हो जायँ।

——हिंदी विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

कृष्णदेव शर्मा

हिंदी पौराणिक नाटक और 'कृष्णार्जुन-युद्ध'

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अलग-अलग नाटकों को हिंदी का पहला नाटक माना है। इस प्रकार गिनाये गये नाटकों में बाबू गोपालचंद्र कृत 'नहुष', महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंदरघुनंदन', एक मुसलमान लेखक का लिखा 'इंदरसभा', अब्दुर्रहमान कृत 'संदेशरासक' आदि नाटकों की गणना होती है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ये रचनाएँ हिंदी में नाटक-प्रणयन की प्राचीन परंपरा मात्र सूचित करती हैं, इनमें पूर्णता का अभाव है। नाटकीय तत्वों की पूर्णता की दृष्टि से अनूदित नाटकों में राजा लक्ष्मण सिंह के 'शकुंतला नाटक' और मौलिक नाटकों में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक की गणना की जानी चाहिए। ये दोनों नाटक पुराण-प्रसिद्ध कथा पर आधारित अतएव पौराणिक हैं। इस बात को, साथ ही आगे की परंपरा को भी, ध्यान में रखते हुए आलोचकों ने यह मत स्थिर किया है कि **हिंदी नाटकों का आरंभ पौराणिक नाटकों से ही हुआ है।**[1] अपूर्णता की दृष्टि से विचार करने पर तो 'सत्य हरिश्चंद्र' से भी पहले पौराणिक नाटकों की एक अच्छी-खासी परंपरा है। दूसरी ओर आज के अति आधुनिक भौतिक युग में भी पुराणों की कथाओं को ले कर नाटक लिखे जा रहे हैं। प्रारंभ से ले कर अब तक के पौराणिक नाटकों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) भारतेंदु-पूर्व पौराणिक नाटक। (ख) भारतेंदुयुगीन पौराणिक नाटक।
(ग) प्रसादयुगीन पौराणिक नाटक। (घ) अधुनातन पौराणिक नाटक।

कुछ नाटक विशेष रूप से रंगमंच को दृष्टि में रख कर लिखे गये हैं, इसलिए रंगमंचीय पौराणिक नाटकों का एक अलग वर्ग स्वीकार किया गया है।

भारतेंदु से पूर्व जो पौराणिक नाटक लिखे गये, वे नाटकों के तत्वों की दृष्टि से पूर्ण नहीं हैं, इसीलिए कुछ विद्वान, जैसे डॉ० सोमनाथ गुप्त, इन कृतियों को नाटक न मानने के पक्ष में हैं,[2]

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', प्रस्तावना, पृष्ठ ३।
२. डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिंदी नाट्य-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६।

जब कि दूसरे विद्वान, जैसे डॉ० दशरथ ओझा, उन्हें नाटक की संज्ञा देते हैं।[१] इस युग के नाटकों में प्राणचंद्र चौहान कृत 'रामायण महानाटक', कवि हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक', गुरु गोविंद सिंह कृत 'चंडीचरित्र', कवि नेवाज कृत 'शकुंतला नाटक', कवि कृष्णजीवन लच्छीराम कृत 'करुणा-भरण, हरिराम कृत 'जानकीरामचरित नाटक', लक्ष्मणशरण 'मधुकर' कृत 'रामलीला-बिहार', महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनंदन', गोपालचंद्र कृत 'नहुष', गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्न-विजय' और कुशल मिश्र कृत 'गंगा-नाटक' की गणना होती है। राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुंतला नाटक' भी इसी युग में आता है। राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुंतला' को छोड़ कर शेष नाटक अधिकांश में ब्रजभाषा कविता में लिखे गये हैं। इन्हीं सब कारणों से डॉ० श्रीकृष्ण लाल हिंदी नाटकों का प्रारंभ राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुंतला नाटक' से ही मानते हैं।[२] इन नाटकों की मूल प्रेरणा 'नाटक' की नहीं रासलीला और रामलीला की है। डॉ० नगेंद्र ने इस प्रवृत्ति को स्वाभाविक ठहराते हुए लिखा है, **रामलीला और रास से भिन्न अभिनव की कल्पना करना शायद हिंदी जनता के लिए आसान नहीं था।**[३]

जैसा पहले ही कहा जा चुका है, हिंदी का पहला और पूर्ण, मौलिक नाटक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक है। पूर्व-भारतेंदु नाटकों के पश्चात हिंदी के पौराणिक नाटकों का जो युग प्रारंभ होता है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान भारतेंदु बाबू का ही है। भारतेंदु जी **राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृत शैली तथा नवीन अंग्रेजी शैली का समन्वय कर नाटक-रचना में प्रवृत्त हुए थे।**[४] 'सत्य हरिश्चंद्र', 'चंद्रावली', 'सती-प्रताप' भारतेंदु कृत पौराणिक नाटक हैं। उनकी प्रेरणा से उन्हीं के युग में और भी पौराणिक नाटक लिखे गये, जिनमें शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकीमंगल', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत 'प्रयाग-रामागमन', अंबिकादत्त व्यास कृत 'ललिता', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'रुक्मिणी-परिणय', लाला श्रीनिवास दास कृत 'तप्ता-संवरण', बालकृष्ण भट्ट कृत 'दमयंती-स्वयंवर', 'वृहन्नला', 'वेणुसंहार' आदि नाटकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस युग के नाटककारों में भारतेंदु का व्यक्तित्व बड़ा प्रेरणाप्रद था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार भारतेंदु जी के जीवन में ही, **लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया था।**[५] भारतेंदु जी के 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक का ऐतिहासिक और सार्व-कालिक महत्व है। डॉ० दशरथ ओझा ने 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक के संबंध में लिखा है, **समाज की गति इतनी द्रुत है कि बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व लिखित नाटक आज प्राचीन और धूमिल पड़ गये**

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : 'हिंदी नाटक : उद्भव और विकास', पृष्ठ १६२-१७३।
२. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास', पृष्ठ २०४।
३. डॉ० नगेंद्र : 'आधुनिक हिंदी नाटक', पृष्ठ ३।
४. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ ११३।
५. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४६२।

हैं, किंतु ७५ वर्ष से अधिक हो गये हैं, इसकी ज्योति पूर्ववत जगमगा रही है।[1] इस युग के सब नाटकों को ध्यान से देखने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखकों की प्रवृत्ति संस्कृत नाट्य-प्रणाली के साथ-साथ नवीन अंग्रेज़ी नाट्य-प्रणाली के ग्रहण की ओर भी रही और पौराणिक कथाओं के साथ-साथ नाटकों में राष्ट्रीयता, समाज-सुधार और आधुनिकता का पुट भी दिया गया। इस युग की सबसे बड़ी देन हिंदी में खड़ी बोली के मौलिक और दृश्य-काव्य की कसौटी पर खरे उतरने वाले नाटकों की रचना है। डॉ० देवर्षि सनाढ्य के अनुसार **इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि चाहे सफलता मिली या न मिली, नाटककारों ने नाटक के दृश्य-काव्यत्व, उसकी अभिनेयता की ओर सजगता प्रकट की, अभिनय-प्रधानता को वे भूले नहीं।**[2]

भारतेंदु युग के पश्चात पौराणिक नाटकों में नवीन चेतना और युग-परिवर्तन का श्रेय बदरीनाथ भट्ट को दिया जाता है। यह वह युग था जब नाटक के क्षेत्र में बाबू जयशंकर प्रसाद का अप्रतिम स्थान था। हिंदी के आलोचकों ने, जिनमें डॉ० नगेंद्र, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, डॉ० सोमनाथ गुप्त, डॉ० दशरथ ओझा आदि नाम प्रमुख हैं, एकमत से प्रसाद को भारतेंदु के बाद नाट्य-साहित्य में युग-प्रवर्तक स्वीकार किया है। इसीलिए इस युग को सरलतापूर्वक प्रसाद-युग नाम देना समीचीन प्रतीत होता है, भले ही पौराणिक नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद से किसी अन्य नाटककार का स्थान अधिक महत्वपूर्ण हो। इस युग में आ कर भारतेंदु-युग की प्राचीन परिपाटी से हट कर नाटककारों ने जिस नवीन परंपरा का सूत्रपात किया, उसमें साहित्यिक सुरुचि की भावना को विशेष रूप से प्रधानता दी गयी। डॉ० देवर्षि सनाढ्य के अनुसार इस युग में **सबसे बड़ा काम तो यह हुआ कि नाटकों में नाटक के पाठ्य और दृश्य गुणों का ऐसा समन्वय हुआ कि आगे चल कर नाटक की अभिनेयता और पाठ्यता दोनों ही को समान स्थान दिया जाने लगा।**[3] इस युग के पौराणिक नाटकों में वियोगी हरि कृत 'छद्मयोगिनी', पं० माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन-युद्ध', बदरीनाथ भट्ट कृत 'कुरुवनदहन' और 'वेनचरित्र', मैथिलीशरण गुप्त कृत 'चंद्रहास' और 'तिलोत्तमा', 'विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'भीष्म', सुदर्शन कृत 'अंजना', गोविंदवल्लभ पंत कृत 'वरमाला', जयशंकर प्रसाद कृत 'जनमेजय का नागयज्ञ' और पं० कामताप्रसाद 'गुरु' कृत 'सुदर्शन' के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में पौराणिकता के साथ-साथ सामाजिक भावनाओं और आधुनिक राजनीति के भी दर्शन होते हैं। डॉ० सोमनाथ गुप्त के अनुसार **पुरातन को नूतन दृष्टि से देखना (इस युग के) अधिकांश नाटकों का प्रधान लक्ष्य है।**[4]

हिंदी के अधुनातन पौराणिक नाटक अपनी विचारधारा के अनुकूल पौराणिक विषय का प्रतिपादन करने में प्रसादयुगीन नाटकों से भी आगे बढ़ गये। साहित्यिकता की मात्रा बढ़ी और **बहुसंख्यक पौराणिक नाटककारों ने पौराणिक घटनाओं में वर्तमान जीवन के अनेक प्रश्नों,**

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : 'हिंदी नाटक : उद्भव और विकास', पृष्ठ २१७।

२. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १४७।

३. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १४९।

४. डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिंदी नाटक-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ २१२।

समस्याओं के चित्र खींचे, साथ ही अनेक पौराणिक घटनाओं को नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण से देखा।[1] सेठ गोविंददास कृत 'कर्तव्य', आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'मेघनाद', पं० पृथ्वीनाथ शर्मा कृत 'उर्मिला', सीताराम चतुर्वेदी कृत 'शबरी', सद्‌गुरुशरण अवस्थी कृत 'मझली रानी', रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'सीता की माँ' 'किशोरीदास बाजपेयी कृत 'सुदामा', कैलाशनाथ भटनागर कृत 'भीमप्रतिज्ञा' और 'श्रीवत्स', उदयशंकर भट्‌ट कृत 'सगर-विजय' और 'विद्रोहिणी अंबा', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'गंगा का बेटा' डॉ० रांगेय राघव कृत 'स्वर्गभूमि का यात्री' और लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'नारद की वीणा' और 'चक्रव्यूह' इस युग की महत्वपूर्ण पौराणिक नाट्‌य-कृतियाँ हैं।

विशेष रूप से व्यावसायिक रंगमंच के लिए ही लिखे गये नाटकों में नारायणप्रसाद 'बेताव', आग़ा हश्र, राधेश्याम कथावाचक, विनायकप्रसाद 'तालिक', माधव शुक्ल, जमुनादास मेहरा आदि नाटककारों के विभिन्न नाटकों की गणना होती है। इन नाटकों का उद्देश्य मात्र मनोरंजन होता था, वह भी सस्ती कोटि का मनोरंजन। अतः भाव, भाषा, किसी भी दृष्टि से ये नाटक गंभीर नहीं होते थे। यदि इन्हें बाज़ारू कहा जाय तो भी उपयुक्त होगा। डॉ० श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में **इन नाटकों का यथार्थवाद भद्दा और कुरुचिपूर्ण है।**[2] एक आलोचक का निम्नलिखित आक्षेप भी इन रंगमंचीय नाटकों के संबंध में शत-प्रतिशत सही है; **इन नाटककारों के हाथ में पड़ कर भीष्म, प्रह्लाद, भगीरथ जैसे पौराणिक पुरुष भी तुच्छ मनुष्य बन गये। पौराणिक युग के नाटक दिखाते हुए भी इन नाटककारों ने उनमें भद्दे प्रेम-प्रसंगों की भरमार कर दी।**[3]

'कृष्णार्जुन-युद्ध' श्री माखनलाल चतुर्वेदी का अकेला नाटक है। फिर भी केवल इस नाटक के कारण माखनलाल चतुर्वेदी को पौराणिक नाटककारों में प्रमुख स्थान दिया जाता है। कृष्ण-चरित्र पर आधारित नाटकों में 'कृष्णार्जुन-युद्ध' का नाम आदर से लिया जाता है। आलोचकों ने मुक्त कंठ से 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक की प्रशंसा की है। डॉ० नगेंद्र ने अपनी आलोचनापरक कृति 'आधुनिक हिंदी नाटक' में 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक का नाम बड़े गौरव से लिया है। पौराणिक-नैतिक नाटकों की विवेचना करते हुए वे इस नाटक को पौराणिक-नैतिक नाटकों की परंपरा में एक विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान देते हुए वे लिखते हैं, **इन (पौराणिक-नैतिक) नाटकों की परंपरा संस्कृत के 'महावीरचरित', 'बालरामायण' आदि महानाटकों से चल कर (यद्यपि इनमें अंकों की संख्या उतनी नहीं है) पं० माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध' में होती हुई 'सगर-विजय' और 'गंगा का बेटा' तक आती है।**[4] इसी प्रकार डॉ० देवर्षि सनाढ्य का यह निष्कर्ष भी द्रष्टव्य है, **'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक की रचना १९१८ ई० में माखनलाल चतुर्वेदी ने की। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' उनका अकेला नाटक है। द्वितीय युग के कृष्ण-चरित्राश्रित नाटकों में तो यह सर्वश्रेष्ठ नाटक**

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १७६।
२. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास', पृष्ठ २४७।
३. रामाधार शर्मा : 'श्री माखनलाल चतुर्वेदी', पृष्ठ १७४।
४. डॉ० नगेंद्र : 'आधुनिक हिंदी नाटक', पृष्ठ ४७।

है ही, अन्य नाटकों में भी इसका स्थान बड़ा ऊँचा है।[1] डॉ० सोमनाथ के शब्दों में, यह नाटक हिंदी की ठोस और अमूल्य निधि है। यदि माखनलाल जी ने दो-चार और ऐसे नाटक लिख दिये होते तो हिंदी साहित्य के लिए वे गर्व की वस्तु होते।[2]

'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक को ऐसा सम्मान मिलने का कारण उसका सुगठित वस्तु-विन्यास, अपेक्षाकृत गंभीर चरित्र तथा परिष्कृत भाषा[3] है। भद्दे प्रेम-प्रसंगों का अभाव होते हुए भी 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक में नीरसता नहीं है और उच्चतम कोटि की उपदेशात्मकता इसके मूल में है।[4] नाटक की कथावस्तु यद्यपि पौराणिक है, परंतु बीच-बीच में आधुनिक राजनीति का थोड़ा सा पुट[5] भी है, जिसके कारण नाटक का आधुनिक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से सामने आया है। नाटक साहित्यिक दृष्टि से भी उत्कृष्ट है और रंगमंचीय दृष्टिकोण से भी सफल है।[6] डॉ० देवर्षि सनाढ्य के अनुसार हिंदी के गण्यमान नाटकों में इसका स्थान है।[7] तात्पर्य यह है कि 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक में हिंदी नाट्यकला का सुंदर रूप हमें देखने को मिलता है। कथानक के वैचित्र्य और सौंदर्य, हास्यपूर्ण दृश्यों की सुंदर अवतारणा, पर्याप्त मात्रा में कार्य, सरल और साहित्यिक भाषा, रसात्मकता और कवित्व, साथ ही चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण[8] आदि अनेक गुण इस नाटक को पौराणिक नाटकों के इतिहास में सामान्य स्थान का अधिकारी बना देते हैं। इस दृष्टि से यह नाटक हिंदी के पौराणिक नाटक-साहित्य को पं० माखनलाल चतुर्वेदी की अमूल्य देन है।

—यू० एफ़० १३, कॉलेज रोड,
नयी दिल्ली-१।

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १५१।
२. डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १३४।
३. डॉ० रामाधार शर्मा : 'श्री माखनलाल चतुर्वेदी', पृष्ठ १७५।
४. डॉ० रामाधार शर्मा : 'श्री माखनलाल चतुर्वेदी', पृष्ठ १७५।
५. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १५१।
६. डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १३३।
७. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १५२।
८. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ २१६।

वीरेंद्र सक्सेना

कहानी

कहानी है पुरानी

बहुत पुरानी बातें हैं वे सब—शायद छब्बीस-सत्ताइस साल पुरानी। हाँ, याद आया, प्रदीप ने पच्चीस ही तो पूरे किये हैं इस साल, तो ठीक छब्बीस साल पहले की कहानी हुई यह। और कहानी भी क्यों, इन सबको संस्मरण कहना ही अधिक ईमानदारी होगी!

शादी की शाम, अर्थात रात। स्वागत-समारोह के बाद मुझे एक बढ़िया सजे हुये सोफ़े पर बिठा दिया गया था। आस-पास लंबी-लंबी क़तारों में अन्य बाराती भी बैठे हुये थे और जलपान शुरू हो गया था। उन दिनों हमारे यहाँ जयमाल डालने का रिवाज नहीं था, और न दूल्हे के अपने हाथ से खाने का; अतः मैं नाश्ता सामने होने पर भी गुमसुम, न जाने क्या सोचता-सा बैठा था।

इतने में कई बालक-बालिकाओं की एक टोली न जाने कहाँ से निकल कर मेरे सामने आ गयी और जीजा जी, फूफा जी की रट लगाने लगी। एक बच्चा उनमें पाँच वर्ष के आसपास का भी था। उसकी तोतली बोली मुझे इतनी प्यारी लगी कि मैंने विशेष स्थिति-अवसर की परवाह किये बिना ही उसे गोद में उठा लिया और एक गुलाबजामुन उसके मुँह में ठूँस दी। इस अपनत्व-प्रदर्शन से उसका सारा संकोच तुरंत दूर हो गया और वह बड़ी बेतकल्लुफ़ी से मेरी तश्तरियों पर हाथ साफ़ करने लगा। मेरी उदासी अब काफ़ी छँट गयी थी और मैं हँस-हँस कर अपनी सालियों-सालों से बातें करने लगा। बीच-बीच में वे खिलाती भी जाती थीं और मैं स्वाद ले-ले कर खाता जाता था। तभी जाने क्या हुआ—शायद मिठाई का टुकड़ा जो बच्चे ने अपने मुँह में रखा काफ़ी बड़ा था, या शायद उसने मुझसे कुछ कहना चाहा था खाते-खाते; और उसे फंदा लग गया। खाँसी के झटके से वह अपने को सम्हाल न सका और हटाते-हटाते भी मेरे नये सूट पर उलटी हो गयी।

पर मैं स्थिति को समझूँ और उससे मुक्त होने का उपाय करूँ, इससे पूर्व ही एक पतली-दुबली-लंबी लड़की तेज़ी से आयी। आते ही उसने बच्चे के तड़ाक-तड़ाक दो थप्पड़ लगाये और मेरी गोद से उठा कर एक अन्य बालिका की गोद में लगभग फेंक सा दिया, 'ले जाओ इस कमबख्त को! सारा सूट ख़राब कर दिया....तमीज़ तक नहीं है बिल्कुल! ज़रा किसी ने ंग से बोल दिया तो उसके सिर पर सवार हो जाता है ....दुष्ट!' पहले तो मैं समझा शायद वह बच्चे की माँ है, पर बच्चे के घटना-स्थल से हटते ही उसके स्वर में कुँवारेपन का सा संकोच आ

गया, 'क्षमा कीजिएगा, बहुत परेशानी हुई आपको. . . .।' वह अपने रुमाल में पानी लगा कर झुकी हुई मेरे सिल्क के सूट को साफ़ कर रही थी और मैं अभी-अभी देखे उसके कड़वे-मीठे रूपों के पीछे के रहस्य को सुलझाने में व्यस्त था।

पर वह रुकी बिल्कुल नहीं। सफ़ाई पूरी कर लेने के तुरंत बाद ही वह जितनी तेज़ी से आयी थी, उतनी ही तेज़ी से अंतर्धान भी हो गयी। और मैं सोचता ही रह गया, कौन थी वह ? संकोचवश उस समय किसी से पूछ भी न सका।

वह कल्याणी के ताऊ की लड़की थी; कल्याणी, अर्थात मेरी पत्नी। बाद में पता चला कि वह पत्नी से आयु में छह मास बड़ी है, इसी कारण मेरे सामने आने में संकोच करती है और इसी कारण शायद विवाहोत्सव के तीन दिनों में वह दुबारा नहीं दिखायी दी। कुँवर-कलेवे के समय भी जब सब स्त्रियाँ और लड़कियाँ मुझे घेरे खड़ी थीं और मैं सचमुच अपने को राजकुँवर समझ रहा था, वह सामने नहीं आयी। हाँ, विदा के समय अवश्य, जब वहाँ एकत्रित सभी स्त्री-पुरुष मेरी पत्नी के साथ रो-धो रहे थे, उसकी एक झलक दिखायी दी। पतले, पर अपेक्षाकृत लंबे शरीर पर एक सादी साड़ी और रोने के कारण लाल हुई नाक और आँखें। मुझे अपनी ओर देखते ही, वह द्वार से ही पीछे लौट गयी—अन्य सब की तरह 'कार' तक पहुँचाने नहीं आयी।

कल्याणी से ही बाद में यह पता चला कि उसका घर का नाम तन्नो है और स्कूल का स्नेहलता। उसके पिता कचहरी में क्लर्क थे। यद्यपि थोड़ी-बहुत ऊपरी आय भी हो जाती थी, पर गृहस्थी बड़ी थी। बड़ी लड़की की किसी प्रकार, दो वर्ष हुए, शादी की थी; बड़ा लड़का आवारा निकल गया था। तन्नो से छोटे पाँच भाई-बहन और थे और वे सब भी पढ़ायी-लिखायी के स्थान पर गुल्ले खेलने या पतंग की डोर लूटने में ही अधिक रुचि लेते थे। उस दिन उसने जिस बच्चे को पीटा था, वह उसका सबसे छोटा भाई था और, उसके अनुसार, अत्यधिक अनावश्यक लाड़-दुलार के कारण बहुत ज़िद्दी हो गया था।

पहली भेंट की भाँति ही पहली बातचीत भी मुझे ज्यों-की-त्यों याद है। इतने वर्षों बाद, आज भी मैं उस दिन का चित्र मन के पर्दे पर साफ़-साफ़ देख सकता हूँ। कुछ चित्र होते ही इतने-पक्के हैं कि समय की धूल उन्हें फीका नहीं कर पाती !

होली के बाद उस शाम मेरा तन्नो के घर खाने का निमंत्रण था। स्कूल (तब आज का इंटर कालेज हाई स्कूल ही था) के बाद मैं सीधा ही उधर चला गया था। कल्याणी वहाँ दिन में ही पहुँच गयी थी क्योंकि उन दिनों आजकल के नवविवाहितों की भाँति साथ-साथ घूमने-फिरने जाना अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था। मैं तो इतने पर भी तनिक खुले दिमाग का था, क्योंकि मैंने शिक्षा एक अनिवार्य शर्त रखी थी विवाह के लिए। और कल्याणी बी० ए० पास थी—यह दूसरी बात थी कि लड़कियों का कालेज उस समय अलग न होने के कारण उसके माता-पिता ने घर पर पढ़ा कर ही उसे परीक्षा दिलायी थी। मित्रों और बराबर के संबंधियों के घर मैं साथ-साथ ही जाता और साथ-साथ ही खाता-पीता, किंतु यहाँ ससुराल की बात थी और वह भी पहली बार उन लोगों के

घर जा रहा था। सोच रहा था, काफ़ी ऊबना पड़ेगा आज। पहुँचूँगा; तन्नो की माता जी एकाध बार घिसे-पिटे ढंग से राजी-खुशी पूछेंगी और फिर मझले पुत्र के द्वारा कमरे में खाना भिजवा देंगी। जिस खाट या पलँग पर पैर लटकाये मैं बैठा होऊँगा, उसी के सामने किसी स्टूल पर भोजन की थाली और पानी का लोटा-गिलास रख दिया जायेगा। दो-चार बार चौके में से ही—'और लो लल्ला....कुछ खाया भी तुमने?....' होगा और उसके बाद हाथ धुला कर टीका कर दिया जायेगा। 'इधर को घूम कर खड़े हो जाओ ज़रा....पूरब इधर है...सिर पर हाथ रख लो, हाँ-आँऽ....।' और फिर पान दिया जायेगा, 'तंबाकू लेते हो या नहीं?.... .नहीं? चलो बड़ा अच्छा है....' उसके बाद तन्नो और कल्याणी से चौके में ही खाने को कहा जायेगा। उनकी चपर-चपर और बीच-बीच में ही-ही...ठी-ठी...की आवाज़ें कमरे तक आती रहेंगी और मैं अकेला बैठा-बैठा सोचता रहूँगा कि अभी ताई आ कर कहेंगी—'अब बिटिया को हमारे पास ही रह लेने दो चार-छह दिन....अच्छा कल शाम तक भिजवा देंगे।' और मैं न चाहते हुए भी कह पड़ूँगा—'तो मैं चलूँ अब....'

पर हुआ यह कुछ नहीं। जिस कमरे में मुझे बिठाया गया वहाँ तन्नो पहले से उपस्थित थी। सोफ़ा तो नहीं था, पर पलँग पर स्वच्छ, हाथ की कढ़ी हुयी चादर बिछायी गयी थी। एक मेज़ और दो कुर्सियाँ भी पड़ी थीं। लैंप को शायद उसी दिन अच्छी तरह साफ़ किया गया था और बत्ती काटी गयी थी। कमरे में पर्याप्त प्रकाश फैला था। मेरे बैठते ही तन्नो भी सामने को कुर्सी खींच कर बैठ गयी। बात भी उसी ने शुरू की, "आप होली वाले दिन क्यों नहीं आये? हम लोग रंग खेलने को इंतजार करते रहे। ऐसा लाल-हरा मुँह बनाते आपका कि याद करते..."

मुझे शरारत सूझी, "होली खेलने न आ सका, इसका मुझे अफ़सोस है, पर अब होली मिलने तो आ गया। आइए, पहले यही बात पूरी कर ली जाये। उठिए....खड़ी होइए!" शादी के इतने दिनों बाद उसे छेड़ने का जो अवसर मिला था, उसे मैं खोना नहीं चाहता था।

"जाइए भी....बात खूब बनाते हैं आप। कोशिश करें तो कहानी लिख सकते हैं आप तो।"

"कहानियाँ तो मैं लिखता ही हूँ कभी-कभी!"

"सच्ची!" उसने कुछ इतने ज़ोर से कहा कि स्वयं ही चौंक गयी। पिछले मज़ाक के कारण छायी लाली और बाद को उभरे बच्चों जैसे भोलेपन ने उसके चेहरे को चित्ताकर्षक बना दिया था। बोली, "मुझे कहानियाँ पढ़ने का बहुत शौक़ है, पर पत्रिकाएँ मिलें कहाँ से? आपके पास तो आती होंगी?"

पता नहीं क्यों, बी० ए० तक शिक्षित होने पर भी कल्याणी को कहानियों में विशेष दिलचस्पी नहीं थी; और मेरी कहानियों में तो बिल्कुल नहीं। जब भी लिखता तो कहती—'इसमें उसकी बात को इस ढंग से कह दिया गया है...इसमें अमुक की कहानी अमुक से जोड़ दी गयी है....' और नतीजा यह होता कि मैं, जो अध्यापन के साथ लेखन को अपनाना चाहता था,

कुछ निराश-सा हो जाता। विवाह से पहले सोचता था, पढ़ी-लिखी बी० ए० पास पत्नी होगी तो कुछ तो साहित्य में रुचि लेगी—कम-से-कम प्रकाशन के लिए भेजते समय रचनाओं को ठीक से उतार ही दिया करेगी, पर विवाह के बाद के कुछ ही महीनों में मुझे पता चल गया था कि वह मेरे इस काम में बिल्कुल भी सहायक नहीं हो सकेगी। "क्या फ़ायदा यों कागज रँगने से? कुछ मिलता भी है...इससे अधिक तो किसी लड़के को पढ़ा कर पैदा कर सकते हो!" और सचमुच ही कुछ दिनों बाद एक विशेष घटना के कारण मेरा लेखन बंद हो गया। स्कूल के बाद का बचा समय घर पर लड़कों को पढ़ाने में लगाने लगा।...फिर कई वर्षों बाद एक मित्र के साथ असम से आलू के बीज मँगवा कर बिकवाये, जिसमें काफ़ी लाभ हुआ।....फिर कुछ सोच कर देशी खाँड का काम साझे में शुरू किया और आज तक वही कर रहा हूँ। अब तो नौकरी से इस्तीफ़ा दिये भी दस वर्ष होने को आये। नौकरी में मिलता ही क्या था! जितना मेरा वेतन था उससे अधिक तो मैंने प्रतिमास प्रदीप की पढ़ायी पर व्यय किये हैं। ...पर यह सब तो बाद की बातें हैं, मैं तो तन्नो से उस दिन की भेंट की बात कह रहा था।

उन दिनों मैं भी सोचता था कि यदि मेरा लेखन इसी प्रकार सुचारु रूप से चलता रहा तो किसी दिन साहित्य-जगत में अवश्य नाम कमाऊँगा। कहानियों में मुझे बड़ी जल्दी सफलता मिलने लगी थी और शुरू की कहानियों की ही इतनी अच्छी प्रतिक्रिया हुयी थी कि बधाई के पत्र आये थे मेरे पास। उन दिनों हिंदी पत्रिकाओं की संख्या अब की चौथाई भी नहीं रही होगी। माना, लिखने वाले भी कम थे, पर अच्छी पत्रिकाएँ तो गिनी-चुनी ही थीं और उनमें मेरी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। सोचता हूँ, यदि उसी प्रकार आज तक लिखता रहता तो अवश्य ही मेरा नाम प्रतिष्ठित कहानीकारों के साथ लिया जाता। स्वाभाविक था, एक नये-नये लेखक का परिचय जब किसी ऐसे व्यक्ति से हो जो उसकी रचनाएँ पढ़ने में उत्सुकता दिखाये, तो यह उसके लिए मूल्यवान क्षण था। तन्नो ने भी मेरे लेखक के प्रति जब श्रद्धा और सम्मान का भाव व्यक्त किया तब मुझे बहुत भला लगा; बहुत ही सुखद और प्रेरणादायक! सोच ही रहा था कि मैं उसको किन शब्दों में धन्यवाद दूँ कि उसने कहा, "मेरी भी कहानी लिखिए न! लिखेंगे?"

"आपकी कहानी..." मैं कोई हलकी बात कह कर फिर से परिहास करने ही वाला था कि अनायास ही उसकी ओर दृष्टि उठ गयी। उसकी आँखों में एक विचित्र उदासी तैर गयी थी। कुछ क्षण पूर्व जो लाली और भोलापन था, वह अब ग़ायब हो चुका था। न जाने क्यों मुझे लगा, वह अब रोयी, अब रोयी। एक क्षण शांति रही। पलकें झपका कर उसने उमड़ते आँसुओं को पी लिया, फिर होठों को ज़बरदस्ती फैला कर बोली, "जानते हैं, मेरे बाबू ने ही चाचा को बताया था आपके बारे में। फिर चाचा के तय कर आने पर मैं भी गयी थी चाची के साथ आपको देखने। किराये पर मकान ढूँढ़ने का बहाना मैंने ही उन्हें सुझाया था। आपकी शादी मैंने करवा दी और अब लड़का होने वाला है, बोलिए मुझे मिठाई कब खिलवा रहे हैं आप...!" मैं समझ नहीं पा रहा था कि कहानी की बात के बाद यह विषय-परिवर्तन क्यों होने लगा अचानक, पर बाद में समझा वह विषय-परिवर्तन नहीं था, उसी के संदर्भ में सारी बातें थीं।

प्रदीप के जन्म के समय तन्नो का उत्साह देखने योग्य था। इधर स्वतंत्रता के बाद से तो मैंने खद्दर पहनना शुरू कर दिया है और अधिकतर कुर्ता-पाजामा ही पहनता हूँ, क्योंकि इस पोशाक से अफ़सरों और इंस्पेक्टरों को प्रभावित करने में जल्दी सफलता मिलती है। पर उन दिनों तो सूट-बूट में ही अधिक रहता था। उस समय का मेरा चित्र अब भी मेरे पास है। उस चित्र और आज के प्रदीप में मुझे बहुत समानता दिखायी देती है।

हाँ, तो जब मैं पुत्र-जन्म के समाचार पर ससुराल पहुँचा तब तन्नो द्वार पर ही मिल गयी। मुझे देख वह हर्षातिरेक से मुझसे लिपट-सी गयी। मेरा हाथ झँझोड़ती हुई बोली, "लड़का हुआ है जनाब! मैं कहती थी न...अब मुझसे निबटने के बाद ही अंदर जा सकेंगे...।" मैं कुछ कहूँ इससे पूर्व ही पत्नी की एक सहेली वहाँ आ गयी और हँस कर बोली, "हाँ, मिठाई तो हमें भी खिलाइए पहले। पर तन्नो, इस तरह चिरचिटा-सी उनसे चिपटी क्यों जा रही हो...!"

"तो क्या हुआ..." और न जाने किस भावोन्माद में वह मुझसे बिल्कुल सट गयी। अपने अपेक्षाकृत लंबे हाथों से उसने मुझे कस लिया और सिर एक क्षण कंधे से टिकाने के बाद उठा कर बोली, "अब बोलिए, छूट कर जा सकते हैं आप?"

यह सब अनायास ही हो गया और वह भी पलक झपकते। शायद आज के कुछ कहानीकार इसे थोपी हुयी भावुकता कहें और इस दृश्य और कथोपकथन पर विश्वास न करें, उन्हें मैं इतना स्पष्ट कर दूँ ये पच्चीस वर्ष से अधिक पहले की बातें हैं और तब जीवन में भावुकता बहुत काफ़ी थी। नये कहानीकार इस सत्य की वास्तविकता तो शायद न समझ सकें क्योंकि उन्होंने उस काल का जीवन नहीं जिया है, इसे तो हम भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं। यह अलग बात है कि अब हम लोग भी उतने भावुक नहीं रहे हैं। समय और परिस्थिति के प्रभाव से इनकार कौन कर सकता है!

तन्नो के सामने सबसे बड़ी समस्या थी कि वह मुझसे कहे तो क्या कहे? पत्नी से अवस्था में कुछ मास अधिक होने के कारण मुझे 'भाभी' कहना चाहिए था और उसे 'लल्ला जी', पर एक अविवाहिता लड़की से भाभी कहना मुझे बिल्कुल नहीं जँचा। मुझे याद है शुरू-शुरू में हम लोग बिना किसी संबोधन के बातें करते रहे थे और जब एक दिन अचानक मेरे मुँह से 'भाभी' निकल गया तब वह संकोच से सिकुड़-सी गयी, "भई, भाभी-ऊबी मत कहा करो हमसे। हमसे भी लल्ला-उल्ला नहीं कह मिलेगा..."

"तो फिर आप क्या कहेंगी?" उत्सुकता से पूछा मैंने।

"हम तो नाम लेंगे—रघुबीर बाबू...या रघुबीर ही काफ़ी है..."

"तब ठीक है; मैं भी आपको नाम से ही पुकारूँगा—स्नेहलता?...स्नेह?...नहीं, सुनते-सुनते 'तन्नो' ही मुँह लग गया है। इसमें कोई बुरा तो नहीं मानतीं आप?"

उसने कोई आपत्ति न की। धीरे से मुस्करा कर स्वीकृति दे दी।

प्रसव के बाद कल्याणी दो मास तक मायके में ही रही। दूसरे-तीसरे नियमित रूप से

मैं उसे देखने जाता रहा। तन्नो घर पर ही मिलती थी। कभी बच्चे को खिलाती हुई या कभी पत्नी का मन बहलाती हुई। मेरे पहुँचते ही वह छत पर जाने का उपक्रम करने लगती (उसके माता-पिता ऊपर के भाग में रहते थे)। "लो, अब तुम बातें करो अपने साहब से!" कहती हुई वह उठने लगती, पर मैं उसे बैठाले रखता। फिर बातें छिड़ जातीं और घंटों चलती रहतीं। मैंने यदि कोई नयी कहानी लिखी होती तो मैं उसे साथ ले जाता था और वहाँ उसे सुनाता था। वह कहानी बड़े ध्यान से सुनती थी और उसमें रस लेती थी। सुनते-सुनते वह मन ही मन कोई ग़ज़ल गुनगुनाने लगती। फिर मैं ग़ज़ल सुनाने का अनुरोध करता और वह टालना चाहती। मेरे अत्यधिक अनुरोध पर ही वह ग़ज़ल सुनाती थी, पर जब सुनाने लगती तब पूर्ण तन्मयता से सुनाती थी।

एक दिन मेरे बहुत कहने पर भी उसने ग़ज़ल नहीं सुनायी। मुझे उसकी यह ज़िद बुरी लगी और मैं पत्नी के पास थोड़ी देर बैठ कर ही जाने को उठ पड़ा। यह देख उसका चेहरा उतर गया और द्वार के पास आ कर बोली, "आप नाराज़ हो गये? . . .बात यह है कि मैं दर्द से भरी ग़ज़लें ही पसंद करती हूँ, पर उन्हें गाते समय मुझे बड़ी पीड़ा होती है। यदि अकेले में गाऊँ तो निश्चय ही रो पड़ूँ। आपके सामने अभी तक रोयी नहीं हूँ, अपने आपको किसी प्रकार सम्हाले रहती हूँ। आज मुझे डर था कि अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख पाऊँगी, इसीलिए नहीं सुनायी. . . आज मन बहुत अधिक उदास है।"

"क्यों?" न चाह कर भी मैं पूछ ही बैठा।

"बहुत ज़िद कर के इस वर्ष मैंने हाईस्कूल की परीक्षा दी थी। आज उसका नतीजा आया और मैं फ़ेल हो गयी। सातवीं के बाद से ही मेरी पढ़ाई वर्षों पहले छुटा दी गयी थी, अब आप ही बताइए और सब विषय तो अपने आप पढ़ भी लेती, और पढ़े भी, पर अंग्रेज़ी की समस्या थी। फिर भी मैंने भरसक पूरी कोशिश की थी. . .पर शायद हर ओर से निराशा ही है मेरे जीवन में। सोचा था, हाईस्कूल पास हो जाती और प्रशिक्षण प्राप्त कर लेती तो प्राइमरी स्कूल में तो नौकरी मिल ही जाती. . ."

घर लौटते समय रास्ते भर, और शायद रात को भी, मैं तन्नो के बारे में ही सोचता रहा था।

दूसरे दिन मैंने कल्याणी से कहा, "तुम्हारी क्या राय है? अगर हम लोग तन्नो को इस वर्ष अपने साथ रख लें तो तुम्हें भी बच्चे के साथ कुछ सहारा हो जायगा और मैं उसे अंग्रेज़ी पढ़ा दिया करूँगा तो वह हाईस्कूल का इम्तहान भी दे सकती है।"

"मैं बताऊँ. . ." उसने जिस रूखेपन से उत्तर दिया, उससे मैं चौंक पड़ा, "आप तन्नो को ले जाइए और अपने साथ रख लीजिए। चाहे पढ़ाइए-लिखाइए. . .चाहे जो कीजिए। मैं यहीं रह जाऊँगी. . ." कहते-कहते वह रुआँसी हो गयी।

मैं चुप रहा। समझ में नहीं आ रहा था क्या कहूँ। मेरी चुप्पी को शायद उसने अपराध

की स्वीकृति समझा। समझाने के स्वर में बोली, "आपके दिल में पाप है, यह मैं नहीं कहती, पर यह भी तो सोचिए लोग क्या कुछ नहीं कह सकते हैं। और अभी ही क्या नहीं कहा जाता.... वे तो यह नहीं जानते कि आप लिखने-पढ़ने की बातें करते हैं।"

'लोग! लोग!! लोग!!! लोगों की वजह से मैं कोई उचित काम करने से डरूँ?' मैंने सोचा—'बकने दो भीड़ को...मैं अगर किसी को नेक समझता हूँ तो अवश्य उसकी मदद करूँगा...' मेरा मन भीतर से उफनने लगा। चाहा कि कल्याणी को भी बहुत-कुछ सुना डालूँ। पर किसी प्रकार का विवाद बढ़ाना वहाँ ठीक न रहेगा, सोच कर मैं घर वापस चला आया।

मुझे बात लग गयी थी और मैंने सोच रखा था कि अवसर मिलने पर अपने घर तन्नो को बुला कर बात छेड़ूंगा। कल्याणी भी मेरे साथ आ कर रहने लगी थी और छोटे बच्चे के कारण परेशान हो कर कभी मुझ पर कभी बच्चे पर झल्लाती रहती थी। गृहस्थी और नौकरी के झंझटों के कारण मुझे भी समय नहीं मिल पाता था और कुछ नया लिख पाने में अपने आपको असमर्थ पा रहा था। मन में हर समय एक अवसाद-सा छाया रहता।

ऐसे ही समय वह विशेष घटना घटी।

हुआ यह कि मैंने एक कहानी लिखी थी और वह एक प्रतिष्ठित पत्रिका में प्रकाशित भी हुई। पत्रिका कहीं मेरे मौसा जी के हाथ लग गयी। उन्होंने उसे पढ़ा तो यह समझा कि वह कहानी मैंने उनके ऊपर लिखी है। वे उसकी नक़ल कर-कर के मेरे सब संबंधियों को भेजने लगे। साथ में लिखते—'यह कहानी मेरे ऊपर लिखी गयी है, पर मैंने सुना है आपके ऊपर भी एक कहानी लिखी जा रही है...' या इसी प्रकार का कुछ। मेरे विरुद्ध उनका प्रचार जब पूरा हो गया तब कहीं मुझे पता चल पाया। औरतों-औरतों में होती हुई बातें कल्याणी तक पहुँचायीं गयीं और उसने एक दिन क्रोध में मेरा सब-कुछ चूल्हे के हवाले कर दिया।

आज भी सोचता हूँ और उस दृश्य की कल्पना करता हूँ तो हाथ-पैर काँपने लगते हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि उस दिन स्कूल से लौटने पर जब कल्याणी ने मुझे बताया कि उसने मेरी सारी की सारी कापियाँ जला दीं तब मेरा मस्तिष्क एक क्षण को सुन्न हो गया। इतनी हिम्मत!! मन हुआ आगे बढ़ कर गला घोंट दूं या उसके ऊपर भी मिट्टी का तेल छिड़क कर दियासलाई दिखा दूं! "लानत है ऐसे बी० ए० पास कर लेने पर..." मैं पूरे ज़ोर से चीखा, "कि गोबर ज्यों का त्यों भरा रहे दिमाग़ में। पैसा था बाप के पास, सो दो-दो मास्टर रख दिये घर पर पढ़ाने को और उन्होंने जो-कुछ रटा दिया वही उगल दिया जा कर इम्तहान की कापियों में और नाम हो गया 'ग्रेजुएट' हैं। मरते बेचारे वे लोग हैं जिनके पास प्रतिभा है, पर साधन नहीं। तन्नो..."

तन्नो से मिलने की मेरे मन में एकदम हूक-सी उठी। इसका कारण यह भी था कि मेरे मन में एकाएक इस समाचार से जो बहुत कुछ उमड़ने-घुमड़ने लगा था, वह यदि बाहर न निकालता तो न जाने क्या होता...शायद पागल ही हो जाता।

आज चाहूँ तो इस सब को अतिशयोक्ति मान सकता हूँ और अपनी भावुकता पर हँस भी सकता हूँ (और लोग तो हँसेंगे ही), पर उस समय मुझे कुछ न सूझा। कल्याणी की ओर घृणा से देख कर मैं एक झटके में घर से बाहर आ गया और रिक्शा खोजता सड़क पर चलने लगा।

संयोग केवल कहानियों में ही नहीं होते। अपने घर से थोड़ी दूर पहले ही मुझे तन्नो मिल गयी। रिक्शा रोक कर मैंने उसे रोका और अपने साथ आने को कहा। वह नगर में ही अपनी मौसी के घर जा रही थी। मैंने उससे कहा, "कल्याणी की तबियत अचानक खराब हो गयी है और प्रदीप रो रहा है—मैं आपको ही बुलाने जा रहा था. . ." मुझे डर था, कहीं वह इनकार न कर दे, इसीलिए प्रदीप का बहाना किया।

रास्ते में ही मैंने उसे सब बातें बता दीं। सुन कर वह चुप रही। मुझे उसकी चुप्पी कुछ रहस्यमय लगी, पर मैं अपनी धुन में कहता ही रहा, "मेरी समझ में नहीं आ रहा, मैं क्या करूँ? माँ-बाप तो ब्याह रचा कर अलग हो जाते हैं, यह नहीं देखते कि पति-पत्नी के विचारों में साम्य है या नहीं! . . .जीवन बरबाद हो, एक दूसरे से घृणा करें, फिर भी उस ग़लती को सुधार न सकें, यही हमारा आदर्श है। . . .मैंने तो इस ग़लती को सुधारने का फ़ैसला कर लिया है अब. . ."

घर में घुसते ही तन्नो ने रोते प्रदीप को सम्हाला और उसके बाद बिस्तर पर औंधी पड़ी रोती हुयी कल्याणी को हाथ पकड़ कर उठाया। फिर उसका मुँह-हाथ धुलाया और चाय बना कर पिलायी। वह एक के बाद दूसरे काम करती जा रही थी और मैं मौन ठगा-सा देखता जा रहा था। प्रतीक्षा कर रहा था कि कोई बात शुरू हो और मैं बोलना शुरू करूँ। वातावरण में अजीब-सी उदासी छायी हुई थी।

पर जब सब काम से निबट कर तन्नो मेरे पास आ कर बोली, "सम्हल गया आपका घर। अब मुझे पहुँचा आइए।" तब मैं उसकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखता रह गया।

"आज यहीं रह जाओ न. .सुबह चली जाना।" मेरी समझ में न आया, इसके अतिरिक्त मैं क्या कहूँ।

उसने एक पल को मेरी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखा फिर धीरे से बोली, "जाना ही ठीक है। आप नहीं चल सकते पहुँचाने तो अकेली ही चली जाऊँगी. . .।"

'तो चली न जाओ!' कुछ झल्ला कर मैंने मन ही मन कहा; प्रगट में बोला, "जैसी आपकी इच्छा।"

रात भर मैं बरामदे में पड़ी कुर्सी पर बैठा रहा और नींद आने पर शायद वहीं बैठे-बैठे सामने पड़ी मेज पर सिर रख कर सो गया। सोचता रहा न जाने क्या-क्या! न तो कल्याणी मुझे मनाने आयी और न मैंने उसे मनाना अपना कर्तव्य समझा। निश्चय कर लिया, तन्नो चली गयी तो क्या हुआ, कल कोई दूसरा मार्ग खोजूँगा।

अब सोचता हूँ तो हृदय तन्नो के प्रति अपनत्व से भर उठता है। उसने मेरे लिए, मेरे

बच्चे के लिए, मेरे परिवार के लिए अपना बलिदान कर दिया। लोगों ने तरह-तरह की बातें उड़ायीं; किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। सुबह सिटी स्टेशन के पास मेल से जो लड़की कटी पायी गयी, वह तन्नो ही थी। समाचार सुन कर मैं भी दौड़ा गया था और एक बार मन हुआ कि मैं भी इसी प्रकार रेल के नीचे आ कर अपनी जान दे दूँ।

मुझे याद है तन्नो ने एक बार कहा था, 'मेरी भी कहानी लिखिए न ! लिखेंगे ?' मृत्यु के बाद उसका यह प्रश्न कई बार मेरे मन में उभरा था, पर मैं लिख न सका। क्यों ? शायद इसलिए कि उसके साथ मेरी भी कहानी जुड़ी हुई थी। मौसा जी मेरी एक कहानी पढ़ कर नाराज़ हो गये थे क्योंकि उसमें उन्हें अपनी तस्वीर नज़र आ गयी थी। पता नहीं क्यों लोग बाह्य चित्र, जैसा 'फ़ोटो' में होता है, देख कर तो प्रसन्न हो जाते हैं, किंतु आंतरिक चित्रण, जैसा कहानी में होता है, देख कर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। मैं नहीं कहता कि मैं इसका अपवाद हूँ। हो सकता है, मैं भी अपना आंतरिक चित्रण देख कर भयभीत होने लगूँ।

मेरी भाँति ही, सुना है कहानी भी इस बीच कई मंज़िलों से हो कर गुज़र चुकी है। मैं पहले ही कह चुका हूँ, उस घटना विशेष के बाद मैंने कहानी लिखना बिल्कुल त्याग दिया। बाद में, कल्याणी ने अपनी ग़लती महसूस कर ली और क्षमा भी माँग ली, तब भी मेरा उचटा मन कहानी लिखने में न लगा।

इतना सब भी कैसे लिख गया, आश्चर्य है। लगता है किसी ने हाथ पकड़ कर लिखवा दिया है। कौन हो सकता है वह ? कल्याणी ? नहीं। तन्नो ? लेकिन तन्नो इतने दिनों से क्यों न लिखवा सकी ? प्रदीप ? हाँ, प्रदीप हो सकता है। प्रदीप ने 'इंजीनियरिंग' पास की है; एक लड़की को पसंद किया है जिससे विवाह करने की मैंने सम्मति दे दी है। हो सकता है प्रदीप के मनचाहे विवाह की प्रतीक्षा से प्रेरित हो कर ही मैं यह सब लिख गया हूँ। कभी मेरा भी विवाह हुआ था...छब्बीस-सत्ताइस साल पहले की कहानी आज सजीव हो उठी है।

—केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
यू० जी० सी० भवन, कमरा नं० ५०७,
नयी दिल्ली-१।

सहवर्ती साहित्य

असमीया

•

हेम बरुवा

भारतीय पृष्ठभूमि: साहित्य-सर्जना की समस्या

•

राष्ट्रीय स्वतंत्रता की ज्योति ने वर्तमान भारतीय साहित्य-सर्जना पर कैसा प्रभाव डाला है, इस पर विचार करने का समय आ गया है। यह सच है कि वर्तमान युग में हमारी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में साहित्य-सर्जना की परिधि संकीर्ण और सीमित हो चली है। यह वस्तुतः परम चिंतनीय विषय है। जिस तरह पत्थर तोड़ने की गैंती की चोट से कभी-कभी पत्थरों से मणियाँ भी निकल पड़ती हैं, उसी तरह भारतीय भाषाओं में कुछ उच्च कोटि की कृतियाँ नहीं निकली हों ऐसी बात नहीं। परंतु चंद उच्च कोटि की कृतियों से ही क्या किसी युग की ऐतिह्य रचना संभव है? कार्तिक महीने में अगर कहीं अचानक काँस-फूलों के दो-चार गुच्छे निकल आयें तो क्या इसी को 'बैशाख आ गया' मान कर हर्ष-विभोर हो झूम उठना समीचीन है? इसी भाँति सिर्फ़ दो-चार उत्तम पुस्तकों का प्रकाशन किसी युग के ऐतिह्य को विशिष्टता नहीं प्रदान करता? इस प्रकार की कृतियाँ सार्थक रचनाएँ होने पर भी व्यक्तिगत कीर्ति-स्तंभ के रूप में ही परिगणित हो सकती हैं। किसी युग को रूपायित कर सकें, उसे विशिष्ट ऐतिह्य के साँचे में ढाल सकें, इनकी ऐसी सार्थकता नहीं होती। इसी कारण सामाजिक दृष्टिकोण से इन्हें अंकित करने लायक़ मूल्यवान सर्जना नहीं कह सकते। यहीं यह प्रश्न होता है—आखिर रचनात्मक साहित्य-क्षेत्र में हमारी इस दरिद्रता का कारण क्या है?

वर्तमान युग और इसके पूर्ववर्ती युग--इन दोनों में रचनात्मक साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में मौलिक भेद है। पूर्ववर्ती युग की साहित्य-सर्जना एक सुसंगठित मानसिक अभियान की देन है। यह एक इतिहाससम्मत सत्य है। इसके साथ तुलनात्मक विचार करने पर दिखायी पड़ता है कि वर्तमान युग की साहित्य-सर्जना ऐक्य तथा तारतम्यहीन, विक्षिप्त और भावावेग के उच्छ्वास के अलावा कुछ नहीं है। कृतियाँ चाहे कितनी ही चमकीली क्यों न हों, ये आवेगमूलक खंडित वस्तु-संरचना ही हैं, इसमें अत्युक्ति नहीं। इसका कारण क्या है। चंद शब्दों में इस पर कोई फ़तवा दे देना या सिद्धांत स्थिर कर लेना अवश्य ही कठिन है। आधुनिक युग में विश्व-साहित्य पर प्रकाश डालते हुए प्रख्यात उपन्यासकार वर्जीनिया वुल्फ़ ने यही कहा है। उनके विचार से **वर्तमान युग प्रयत्न का युग है—प्रतिभा का नहीं।** अत्याधुनिक विश्व-साहित्य पर यह तथ्य कितना लागू हो सकता है—कहा नहीं जा सकता। प तु वर्तमान भारतीय साहित्य पर यह निःसंदिग्ध रूप से खरा उतरता है।

वस्तुतः हमारे देश में प्रयत्न का एक विराट अभियान चल रहा है, इसे सामाजिक स्वीकृति भी मिली है। परंतु क्या केवल प्रयत्न द्वारा ही किसी युग की महान सौध-रचना संभव है।

सामाजिक उत्तरदायित्व से कतराने से काम नहीं चलेगा। शिल्पी-साहित्यकार समाज-स्रोतस्विनी से ही जीवन-स्पंदन ले कर जीवित रहते हैं, हमारे देश में आजकल ऐसे सुसंगठित प्राण-स्पंदन का चिंतनीय अभाव परिलक्षित हो रहा है। हमारे पूर्ववर्ती और वर्तमान युग में यही मौलिक भेद है। पूर्ववर्ती युग उत्साह और जीवन-तृष्णा के अभियान से रंगीन है--यह ऐतिहासिक सत्य है। इसी अभियान के ज़रिये नवीन मानस और नवजीवन-उत्कर्ष-साधना एक तरह से स्वभावसिद्ध ही हो पड़ी थी। वर्तमान युग इस क्षेत्र में ऐसे ही बंजर और तरल हैं। इसमें न कोई सामाजिक आदर्श की स्थिति है और न कोई बड़ी उपलब्धि ही। जो कुछ धरोहर थी वह भी चिंतनीय रूप से पतनोन्मुख हो पड़ी है। नवीन-उत्साह-उद्दीपन का संचार तो बहुत दूर चला गया है।

मानसिक अभियान के परिप्रेक्ष में इन दोनों युगों का स्वरूप और ऐतिह्य विचार कर देखना वर्तमान युग में बहुत ही ज़रूरी हो पड़ा है। स्वतंत्रता-प्राप्ति हेतु पूर्ववर्ती युग के राष्ट्रीय आंदोलन आदि ने सिलसिलेवार ढंग से मानसिक-परिवेश-रचना के कार्य में महत्वपूर्ण भाग लिया था। साथ ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रभाव निरंतर परिव्याप्त हो पड़ा था। यों राष्ट्रीय जीवन में सुसंगठित चेतना और मनोभावना का उदय संभव हुआ। राजनीतिक दृष्टि से खंडित भारतवर्ष को एकता के घनिष्ठ बंधन में बाँध कर केवल शक्ति का संचार ही नहीं बल्कि इसने स्वतंत्रता खो बैठी हुई पराधीन जाति को जड़ता के चंगुल से छुटकारा मिला कर उसमें नवीन प्राणशक्ति का भी संचार किया था। इसी प्राण-शक्ति ने नवीन सामाजिक शक्ति का उन्मेष किया और इसी से नवीन मूल्य-बोध का प्रकाश भी संभव हो सका था। अंग्रेज़ी शासन के उत्तरार्ध में जनमानस में जो अभूतपूर्व स्पंदन अनुभूत हुआ था, इसका प्रमुख कारण यही है। राष्ट्रीयता के इस सर्वव्यापी जीवन-स्फुरण ने समग्र राष्ट्र-जीवन को ही अपने में समेट लिया था, साथ ही समाज-जीवन की गति-शक्ति भी इसी के ज़रिये मुखरित हो उठी थी।

शिल्पी-साहित्यकार की कृति की विषय-वस्तु जितनी अधिक समाज-सचेतन होती है, कृति भी उतनी ही प्राणवती बन जाती है। जीवन-तत्व, जीवन-स्पृहा, जीवनोच्छ्वास समाज की मर्म वस्तु है। उसे अभिव्यक्ति प्रदान कर शिल्पी साहित्यिक समाज-जीवन को नया स्वरूप प्रदान करते हैं। इसीलिए देखा जाता है कि अधिकांश उत्कृष्ट, उच्च पर्याय की कृति की विषय-वस्तु सामाजिक मूल्य-बोध की अभिज्ञता से सिक्त होती है। सामाजिक शक्ति-स्रोत स मूल्य बोध को प्रवाह और प्राणशक्ति से भर देता है। इसी भाँति सीढ़ी दर सीढ़ी इतिहास के कुतुब-मीनार पर आरोहण कर ही जीवन-ऐतिह्य की संरचना होती है। ऐतिह्य और सामाजिक गति-संपदा सभी रचनात्मक कृतियों का जीवन-स्पंदन होती है। इसी जीवन-स्पंदन के कारण ही पूर्व-वर्ती युग में महान प्रतिभाशाली साहित्यिक-शिल्पियों और चित्रकारों का उद्भव संभव हो सकता था। इस प्रकार सुसंगठित सामाजिक आदर्श ने ललित कला के आदर्श को 'लक्ष्य' की दिशा दी थी। महान विश्व-प्रतिभा, कविगुरु रवींद्रनाथ वस्तुतः इसी युग की उपज हैं। प्रतिभा बटन दबाते ही जल उठने वाली 'एवररेडी टॉर्च' नहीं है। एक-एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के अंत-राल में एक-एक युग विशेष का हस्ताक्षर एवं आदर्श अंकित रहता है। सामाजिक चिंतन और प्रगति का प्रवाह युग-प्रयत्न और आदर्श को सीढ़ी दर सीढ़ी साकार करता है। सामाजिक गति-धारा के हस्ताक्षर के रूप में यह इसी क्रम से जीवन-यौवन प्राप्त करता है।

सिर्फ़ काव्य-क्षेत्र में ही नहीं, रचनात्मक साहित्य की अन्य विधाओं में भी पूर्ववर्ती युग ने महान सर्जनात्मक कृतित्व का उदाहरण प्रस्तुत किया है। नाटक, उपन्यास, गल्प, सभी क्षेत्रों में रचनात्मक प्रतिभासंपन्न साहित्यिक-शिल्पियों का आगमन हुआ था, स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष में उन्होंने जिस कलात्मक नैपुण्य-शिखर पर आरोहण किया था, आज के अधिकांश साहित्यकार-शिल्पियों के जीवन-काल में हिमालय-शिखर जैसा ऊँचा या रात की दीपशिखा के प्रकाश जैसा ही उज्वल दिखलायी पड़ता है।

इस अधोगति का कारण क्या है? क्या माता भारती की कोख बिलकुल बंजर हो गयी है? परतंत्रता-काल में अगर बंकिम, रवींद्रनाथ, प्रेमचंद जैसी प्रतिभाओं का जन्म हो सकता है, तो वर्तमान युग में चाहे उनके जैसा चाहे न भी हो, तो उनसे कुछ उन्नीस ही सही, किसी प्रतिभा का प्रकट न होना क्या अचरज में नहीं डालता? फिर राष्ट्रीय स्वतंत्रता ने हमारे चारों ओर विविध असंख्य संभावनाओं के दरवाजे न खोले हों, ऐसी बात भी नहीं है। फिर भी स्थिति इस तरह जंग लगी हुई क्यों हो रही है, इसे दो-चार शब्दों में कह डालना कठिन है।

किसी-किसी के विचार से पूर्ववर्ती काल के साहित्यकारों की एक ही विषय-वस्तु थी—स्वदेश-प्रेम। स्वतंत्रता-आंदोलन के ज़रिये देश के जीवन, संस्कृति-ऐतिह्य आदि के प्रति मोहांध जन-समाज को उद्वेलित कर इस पृष्ठभूमि पर रचित साहित्य उसके अंतर को अनायास आकृष्ट करने में समर्थ हो सका था। कुछ हद तक सही होने पर भी यह तथ्य पूर्णतया सत्य नहीं है। निस्संदेह स्वदेश-प्रेम ने रचनात्मक साहित्यकारों को अनुप्रेरित और प्रोत्साहित किया था, परंतु इसी कारण रचना का एकमात्र साधन भी यही था, यह पूरी तरह सत्य नहीं है। स्वदेश-प्रेम ने नाविकों के दिग्दर्शन-यंत्र की भाँति उनके लक्ष्य को निर्देशित किया था तथा अनुप्रेरणा दी थी। इससे

अधिक उसका महत्व नहीं है। वस्तुतः उस काल के साहित्यकार-शिल्पियों का क्षेत्र जितना विस्तृत था, जीवन का क्षितिज भी उसी अनुपात से प्रसारित था। अगर ऐसा न होता तो उनकी कृतियों का वैभव भी इस प्रकार सार्थकता से मंडित नहीं हो पाता। संक्षेप में, स्वदेश के जीवन की संभावनाओं पर उनका असीम विश्वास और अविचल आस्था थी। इसी विश्वास और आस्था ने ही उनके सृष्टि-संचार को अपूर्व सौंदर्यमय और अनन्य बनाया था। जीवन पर गहरी आस्था व विश्वास के बिना सार्थक रचना असंभव है।

स्वदेश-प्रेम को विषय-वस्तु बना कर उत्कृष्ट साहित्य-रचना संभव नहीं, ऐसी कृतियाँ ज़्यादातर सामयिक मूल्य की वस्तु ही बनी रह जाती हैं। दूसरी ओर रोमांस के बुरके से ढँक कर ये कृतियाँ यथार्थ से भी दूर हट जायँ, ऐसी भी आशंका पूरी-पूरी रहती है। रचना जब जीवन से दूर हट कर, यथार्थ से भी दूर हट जाती है तभी वह निस्तेज हो जाती है। जिसमें जीवन का ओज नहीं है, ऐसी कृति के निस्तेज हुए बिना चारा ही क्या है? इसी कारण प्रायः देखने में यही आता है कि स्वदेश-प्रेम पर आधारित साहित्य-कृतियाँ किसी ख़ास युग-विशेष की सामग्री बनी रह जाती हैं। किसी ख़ास अवधि में ही इसका उत्थान और पतन हुआ करता है। यह अधिक काल तक जीवंत भी नहीं रहता। क्योंकि जीवन-परिवर्तनशील है फिर जीवनादर्श और जीवन-लक्ष्य का भी परिवर्तन पूर्णतया स्वाभाविक है। अंततः चिंतन और दृष्टिकोण में परिवर्तन स्वभावसिद्ध ही है।

दूसरी ओर स्वदेश-प्रेम जहाँ व्यापक जीवन-तृष्णा और समाज-चेतना का आलिंगन कर लेता है तो गंभीर वैचित्र्यमय सर्जना का द्वार अपने आप खुल जाता है। जहाँ वह व्यक्ति व समाज जीवन के अंतस्तल में प्रविष्ट हो जाय तभी अभूतपूर्व सर्जना का वह द्वार स्वयमेव खुले बिना नहीं रहता। रवींद्रनाथ के क्षेत्र में जैसे यह सही है उसी प्रकार प्रेमचंद या शरद चटर्जी के क्षेत्र में प्रयुक्त हैं। इनके सपनों में जो सामाजिक यथार्थ निहित है, वह राष्ट्रीय आंदोलन की सार्थक उपज है। ऐसी पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण ही पूर्ववर्ती युग की रचनात्मक कृतियाँ इस भाँति सजीव हो सकी थीं। प्रश्न यह है, वर्तमान स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि पर रचनात्मक साहित्य कितना आगे बढ़ सका है? आज की सामाजिक अनुप्रेरणा का उत्स कहाँ है? स्वतंत्रता के अनुराग ने हर झोपड़ी में ओज और उद्दीपना की जो शिखा जलायी थी—आज उसका प्रकाश कहाँ है? अफ़सोस है कि स्वतंत्रता के प्रकाश में जिस स्वदेश-प्रेम का प्लावन बह जाना आवश्यक था—एक संघबद्ध अभियान में जिसे रूपांतरित होना चाहिए था, उसका आज चिन्ह तक बड़ी मुश्किल से मिलता है। अगर ऐसा कोई प्रयत्न होता भी है तो वह खंडित प्रकाशन प्रयत्न मात्र ही बन कर रह जाता है। इसके हेतु न कोई संगठित आंदोलन चलाया जाता है और न कोई अभियान ही होता है। स्वतंत्रता के बाद सामाजिक परंपरा की गतिधारा में किसी तरह की तरंगें नहीं उठीं। फलस्वरूप यह निरंतर खंडित हो कर विलीन होने की स्थिति में आ गयी है। सामाजिक गतिधारा के प्रसारित हुए बिना कोई भी रचनात्मक प्रयास सार्थक नहीं हो सकता। जीवन-जिज्ञासा और मूल्यबोध के जिस सामाजिक अभियान से पूर्ववर्ती युग प्राणवंत, आलोड़ित तथा उद्भासित हो उठा था, आज वह मूल्य-बोध और जीवन-जिज्ञासा कहाँ है?

•

यह दुख की बात है; —कुछ अस्वाभाविक लगने पर भी सच है कि स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष में भारतीय जीवन-संग्रामी युग का प्रण-प्रवाह ही खो बैठा है। वह तत्परता, वह आग्रह, स्वतंत्र भारत के क्षितिज पर अब कहीं दिखायी नहीं पड़ता। कभी-कभी संदेह होता है—क्या भारतीय जीवन का क्षितिज ही खो चुका है ? यह निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जब तक राष्ट्रीय चेतना के आदर्श, उत्साह-उद्दीपन का पुनर्जागरण नहीं होता तब तक कोई रचनात्मक आदर्श भी सार्थक नहीं हो सकता। इसके अभाव में साहित्य-रचना प्रयत्न का स्तर पार कर प्रतिभा और कृति के पर्याय तक नहीं पहुँच सकती।

वर्तमान युग में मूल्य-बोध की समस्या विश्वव्यापी हो गयी है। आम जनता को ही इसने स्पर्श किया हो, यही नहीं, कलाकार-साहित्यिक-समाज को भी यह प्रभावित किये बिना नहीं रहा है। इसके संघात से परंपरागत मूल्य-बोध की कगार धीरे-धीरे ढहती जा रही है। आस्था और स्थिति भी खोती जा रही है। प्रचलित मूल्य-बोध की खाई नि तर बढ़ती गयी है और इस शून्य को भरने के लिए किसी नवीन मूल्य-बोध का भी उदय नहीं हुआ है। हमारी सारी जटिलताओं और उलझनों के मूल में यही है।

मूल्य-बोध के संबंध में जन-हृदय में स्थैर्य की भावना नहीं रह गयी है। कुछ लोग प्राचीन संस्कृति, मूल्य-बोध, ऐतिह्य आदि का पुनरुद्धार चाहते हैं—केवल ऐतिहासिक युग के ही नहीं, अपितु प्रागैतिहासिक पौराणिक युग के भी। वे भूल जाते हैं कि सार्विक सत्य के चंद विषयों के अलावा किसी युग की प्रकृति और विचारधारा ही मूल्यों का स्वरूप निर्धारित करती है। सामंती युगीन मूल्य-बोध पूँजीवादी युग का मूल्य-बोध नहीं हो सकता। इनके अलावा भी विचारधारा को भ्रमित करने वाले और भी कई प्रश्न हैं। प्राचीन ऐतिह्य और संस्कृति की बात जब उठती है, वस्तुतः वहीं यह भी प्रश्न होता है कि प्राचीन युग का कौन सा अंश पुनरुद्धार कर वर्तमान युग में प्रतिष्ठित किया जा सकता है ! क्योंकि प्राचीन युग भी किसी विशिष्ट ढाँचे में ढला हुआ सुसंगठित 'पिरामिड' नहीं है। वह भी वस्तुतः कुछ खंडित समष्टियों का ही समावेश है। धारा-प्रवाह की दृष्टि से इस युग के साथ उसका कुछ संबंध होने पर भी वस्तुतः दोनों में प्रकृतिगत संबंध बिल्कुल क्षीण है। इसमें भी कुछ तत्व रूप, सौंदर्य, गुण आदि से भी बिल्कुल हीन हैं। सिर्फ़ कुछ ही ऐसे हैं—जो वर्तमान के लिए भी सौष्ठवपूर्ण और आदर्श हो सकते हैं। अगर प्राचीन का पुनरुद्धार आवश्यक है, तो स्वभावतः ग्रहण व त्याग विचार और वर्णन आदि का प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकता। दुख है, इनका निर्णय अब तक नहीं हो पाया। आदर्श और लक्ष्य का हममें आज अभाव हो गया है, यह तथ्य अप्रिय होने पर भी यथार्थ है।

संघर्षशील शक्तियों के संघात से उदभूत ऐसी स्थिति में रचनात्मक साहित्यकारों व शिल्पियों का क्या चारा है ? समाज-जीवन की नींव जब छिन्नमूल या खोखली हो जाय, आदर्श-च्युत हो जाय, तो साहित्यिक-शिल्पी किस उपकरण से सर्जना में लगें ? यही नहीं, समाज-जीवन की बुनियाद कँपा देने वाले पश्चिमी संस्कृति से जो संघात उपस्थित हुआ है, उसकी चुनौती भी अनसुनी कर देना संभव नहीं है। पश्चिमी विज्ञान, दर्शन और यांत्रिक बुद्धि भारतीय दर्शन, धर्म और विचारधारा पर निरंतर चोटें कर रहे हैं। प्राचीन जीवन अनुशासन से आज हम बहुत

दूर हट आये हैं। दूसरी ओर इस खाई को पाटने वाला कोई जीवनादर्श भी नहीं रह गया है। हम पश्चिमी संस्कृति व विचारधारा को भी पूरा-पूरा अपना नहीं सके हैं। अपनाना कठिन भी है। फिर इसे पूर्णतया अस्वीकार भी नहीं कर सके; ऐसा करना भी कम कठिन नहीं। वर्तमान युग की जीवन-धारा के संबंध में नेहरू ने कहा था––**आज के युग की घटनाएँ––मानव-मन की अपेक्षा भी तेज़ी से प्रवाहित हो रही हैं। आज का मानव-मन अपने ही घेरों में आबद्ध हो कर दिग्भ्रान्त हो गया है––इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। यही सारी उलझनों की जड़ में है!**

वर्तमान युग के रचनात्मक साहित्य की समस्याओं को इस पृष्ठभूमि पर विचार किये बिना उपलब्ध करना कठिन है। समाज-जीवन के रस से ही साहित्य जीवित रहता है। उसका सौष्ठव बढ़ता है। उसमें स्पन्दन आता है। जीवन के संगतिहीन होने की स्थिति में जब कि सामाजिक संगठन भी भार-साम्य खो बैठे तब सर्जनधर्मा शिल्पी-साहित्यिक को नवीन जीवन-प्रवाह कौन प्रदान करे? नदी के तटों का बंधन अगर हटा दिया जाय तो उसका अस्तित्व ही क्या रहे! उसी भाँति समाज अगर अपना भार-साम्य खो दे तो जीवन का अस्तित्व ही कहाँ रहता है!

वर्तमान स्वतंत्रता-काल में साहित्य अकादमी, 'नेशनल बुक ट्रस्ट्र' आदि संस्थाएँ भाँति-भाँति के ग्रंथों का प्रकाशन कर रही हैं। इनके अलावा राज्यिक स्तर की भी अनेक संस्थाएँ इस दिशा में काम कर रही हैं। सिर्फ़ अंग्रेज़ी और हिन्दी में ही अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई हों ऐसी बात नहीं, प्रांतीय भाषाओं में भी तरह-तरह की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। परंतु अब तक यही स्थिति हमारे सामने है कि अंग्रेज़ी में अनूदित हुए बिना राज्यिक भाषाओं की पुस्तकों के प्रचार का क्षेत्र बिल्कुल संकीर्ण ही है। ये संस्थाएँ भी जो पुस्तकें प्रकाशित करती हैं उनमें से ज़्यादातर पुस्तकें किसी सुचारु योजना के बिना ही छप जाती हैं। इसीलिए अगर इन्हें 'सूचनात्मक साहित्य' कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। ज़्यादातर यही देखा जाता है कि ये संस्थाएँ जिन पुस्तकों को प्रकाशित करना चाहती हैं और स्वीकृत करती हैं, 'लाल धागे' की उलझन से उन्हें प्रकाशन के उजाले में आते-आते अर्सा लग जाता है। इसके अलावा पुस्तक-निर्वाचन और प्रकाशन-पद्धति भी कभी-कभी हद दर्जे की त्रुटिपूर्ण होती है। अतः तत्वहीन तथा नीरस होने के कारण ही इन संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पुस्तकें पाठक-समाज की दृष्टि कदाचित ही आकृष्ट कर पाती हैं।

इन संस्थाओं द्वारा प्रकाशित तमाम पुस्तकें निम्न कोटि की हैं, ऐसा कहना मेरा अभिप्राय नहीं है। कुछ उत्कृष्ट उच्च कोटि की पुस्तकें भी प्रकाशित न हुई हों, ऐसी बात नहीं परंतु ऐसी पुस्तकों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक़ ही है। यह स्थिति वस्तुतः चिंतनीय है।

निरुद्देश्य या अटपटे ढंग से कुछ पुस्तकें छाप भर देने से ही क्या इन संस्थाओं के कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है? ऐसा साधारण काम तो कोई भी प्रकाशन-संस्था कर सकती हैं। सरकारी अर्थ-सहायता पर चलने वाली इन संस्थाओं का लक्ष्य तथा उद्देश्य और भी व्यापक होने चाहिए। आवेग-उद्दीपना को जाग्रत करने, लक्ष्य तथा आदर्श को निश्चित करने संबंधी एक सुगठित अभियान चलाने का प्रेरणा-संचार करने में ही इनकी सफलता निहित है। राष्ट्रीय पृष्ठ-

पोषण प्राप्त होने पर भी इन संस्थाओं के ज़रिये किसी अभियान की प्रेरणा क्या हमें मिल पा रही है? राष्ट्रीय प्रयत्न जब 'रूपहीन निष्क्रिय-सूचना' मात्र में पर्यवसित हो जाता है, तभी जीवन का क्षितिज भी धुँधला हो जाता है। जीवन जीवन नहीं रहता, जड़ हो जाता है। मृत्यु ही इस जड़ता का अंतिम मील-पत्थर है।

आकाशवाणी ने देश भर के कुछ शीर्षस्थ साहित्यकारों को नौकरी में मुक़र्रर किया है। इसके सदुद्देश्य पर संशय न करने पर भी यह समझ पाना बड़ा मुश्किल है कि इस संस्था में नियुक्त होते ही प्रतिभावान लोगों की प्रतिभा भी कुंठित क्यों हो जाती है। मानो आकाशवाणी प्रतिभा की क़ब्रगाह हो। सुनने में कठोर लगने पर भी यही यथार्थ है। संभवतः इसी कारण किसी प्रतिभासंपन्न व्यक्ति की आकाशवाणी में नियुक्ति का समाचार पाते ही लोगों के मुख से यही सुनने में आता है——

मूठ भर चाँदी की चमक
उसी के लिए, उसी के लिए
द्वार में लग चुकी जंग
खुले कैसे फिर द्वार!
खोले ही कौन बंद द्वार!

कोई-कोई कह सकते हैं कि ऐसा मंतव्य अनुचित है। परंतु ऐसी उक्ति ग़लत है, इस तथ्य को प्रमाणित करने के हेतु क्या तर्क का अभाव नहीं है? हमारे देश में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत हो चुकी है। यही क्रांति नयी सामाजिक शक्ति और नये मूल्यों को भी जन्म देने वाली है। इसी के ज़रिये विषय-वस्तु के विस्तार, समाज के नवीन संगठन की रूप-रेखा आदि के उद्भव के साथ नवीन सर्जना का मार्ग भी खुलेगा। युगधर्म नवीन मूल्यों की स्वीकृति देने को बाध्य है। वह उसका स्वागत भी करेगा। हमारी स्वतंत्रता की अवधि में बहुत थोड़े से उत्कृष्ट अर्थात जिन्हें सुरुचिसंपन्न कहा जा सके——ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। पुस्तकों का कोटि-निर्धारण करते हुए आस्कर वाइल्ड ने 'उत्तम शैली में लिखित और बुरी शैली में लिखित' ये दो ही भेद माने हैं। विषय-वस्तु पर उन्होंने बहुत कम महत्व दिया है। हो सकता है, हमारे यहाँ भी कुछ उत्तम कोटि की पुस्तकें प्रकाशित हुई हों। परंतु प्रश्न यह है कि साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में क्या हम कुछ महती कृतियाँ प्रस्तुत कर सके हैं? ऐसी सर्जना जिन्हें 'यूलिसिस' या 'दि ओल्ड मैन एंड दि सी' की कोटि में रखा जा सके? अगर नहीं, तो यहीं हमारी अक्षमता भी प्रकट है।

——अनु०: नवारुण वर्मा।

नवारुण वर्मा

असमीया साहित्य की गवेषणा और शोधमूलक विधाएँ

भाषा-साहित्य की गहराई और ऊँचाई गवेषणा और शोधमूलक रचनाओं की संपन्नता से प्रकट होती है। चिंतनमूलक निबंधों से बौद्धिक दिशा-बोध के दर्शन के साथ-साथ तात्विक सूचना और ज्ञान भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार हृदय-अनुभूतियों के संप्रसारण के हेतु रचनात्मक साहित्य आवश्यक है, उसी भाँति रचनात्मक साहित्य के दिशा-दर्शन-विचारों के विस्तार तथा मनन व युक्ति के प्रदर्शन हेतु गवेषणा और शोधमूलक साहित्य की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्य की बुनियाद ही मनन और युक्ति-तर्कमूलक गवेषणात्मक रचनाओं से पड़ी है। भाषिक रूप-ग्रहण के प्रारंभिक काल में यूरोपीय संस्कृति और धर्म-चेतना के साथ भारतीय संस्कृति का संघात बड़े ही प्रबल वेग से हुआ। फलतः आत्म-संस्कृति की संरक्षा तथा प्रसार की भावना से उसी प्रथम युग में संस्कृति संबंधी शोधात्मक और विचारात्मक रचनाएँ सामने आयीं। हालाँकि उनमें गहराई की अपेक्षा खंडन-मंडन की प्रवृत्ति तथा प्रचार-मूलक मनोभावना ही अधिक दिखायी पड़ती है।

असमीया साहित्य में प्रचारात्मक निबंधों की नींव ईसाई मिशनरियों ने ही डाली। 'अरुणोदय युग' मुख्यतः धार्मिक प्रचार का ही युग है। परंतु 'अरुणोदय' में जिस लेखक-मंडल का आगमन हुआ, उन्होंने ही तथा उनके अनुवर्ती अन्य साहित्यकारों ने परवर्ती काल में गंभीर शोधात्मक रचनाओं का पथ प्रशस्त किया। धार्मिक आलोड़न के धीमा होने पर स्वभावतः उनमें उन समन्वयमूलक विचारों की भावना आयी और साथ ही आत्म-मूल्यांकन की नयी दृष्टि भी। पश्चिमी शिक्षा के प्रसार से पश्चिमी चिंतनधारा से बुद्धिजीवियों का परिचय हुआ। साहित्य में नये भावनात्मक आंदोलन पनपे और उस वैचारिक जागरण में शोध और मननशील निबंधों का महत्वपूर्ण हाल रहा है।

धार्मिक-सांस्कृतिक संघात के साथ-साथ उसी प्रारंभिक काल में असमीया भाषा को अपने अस्तित्व की रक्षा का संग्राम भी करना पड़ा। इसके फलस्वरूप भाषा-तात्विक शोध की नींव भी उसी काल में पड़ी। खासकर 'असमीया साहित्य के जनक' आनंद राम ढेकियाल फुकन ने असमीया भाषा की स्वतंत्रता और ऐतिह्य को प्रकट करते हुए रचना कर ली। इस विद्वत्ता-

पूर्ण रचना में असमीया भाषा के उद्भव और वैभव पर बड़े ही युक्तिपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला गया है।

भाषिक संघात-काल में जहाँ असमीया साहित्य में गवेषणात्मक निबंधों की नींव पड़ी वहाँ 'जोनाकी' (१८८९) के प्रकाशन-काल तक असमीया गद्यशैली जितनी प्रौढ़ता प्राप्त करती गयी उतना ही उसमें अधिकाधिक विस्तार आता गया। गंभीर मननशीलता के साथ-साथ वैभव-पूर्ण प्राचीन साहित्य का अध्ययन और उन पर शोध आरंभ हुआ। हेमचंद्र बरुवा और गुणाभिराम बरुवा जैसे लेखक नयी दृष्टिभंगी के अग्रदूत बने।

प्रारंभिक युग की भाषा-शैली का बचपना अधिक आवेगप्रवण होने पर भी उसमें ठोस-पन नहीं था। मननशील और शोध-निबंधों की रचना जितनी आगे बढ़ी भाषा में भी संश्लिष्टता, सघनता और संबद्धता अधिक प्रकट हुई। अनुभूतियों के संप्रसारण के नये क्षेत्र खुलने लगे। वैज्ञानिक विश्लेषण और युक्ति-तर्कों का समावेश होने लगा। विचारों में शृंखला अधिक बनी हुई। फिर भी प्राथमिक युग की भाव-प्रवणता से यह पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया था। कमला-कांत भट्टाचार्य के व्यक्तिगत निबंध-संग्रह 'कः पंथाः', इंदीवर बरुवा का 'जीवनादर्श' आदि ग्रंथों में यही प्रवृत्ति अधिक दिखायी पड़ती है। इनमें भावना की तीव्रता और प्रवाह का आतिशय्य है परंतु तथ्यों की संश्लिष्टता का अभाव है। जीवनी-लेखन की नींव भी इसी काल में पड़ने पर भी चरित्र-विश्लेषण की सूक्ष्मदर्शिता और तटस्थ चित्रण का अभाव खटकने लगता है।

'रोमांटिक युग' असमीया साहित्य में सर्वसंपन्नता का काल है। इस काल में शोध की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ी और प्रतिभाशाली लेखकों द्वारा समालोचना और साहित्यिक निबंधों का भंडार परिपूर्ण होने लगा। पश्चिमी कलात्मक विचारधारा और भारतीय काव्य-सिद्धांतों का अध्ययन तथा उनमें समन्वय-साधना की प्रवृत्ति का प्रसार हुआ। खासकर लक्ष्मीनाथ बेज-बरुवा, वेणुधर शर्मा, वाणीकांत काकति, सूर्यकुमार भुयाँ, डिंबेश्वर नेओग, नीलमणि फुकन जैसे प्रतिभाशाली गवेषकों का उदय इसी काल में हुआ और गवेषणामूलक रचनाओं का सर्वांगीण विकास हुआ। लक्ष्मीनाथ बेज बरुवा ने मननशील निबंधों के अलावा व्यंग्यात्मक शैली की निबंध-रचना का पथ-प्रदर्शन भी किया। राजनीतिक तथा सामाजिक विषमताओं पर आपके चुटीले व्यंग्यात्मक निबंध असमीया साहित्य की विभूति हैं।

'बुरंजी' या इतिहास-लेखन के क्षेत्र में प्राचीन असमीया साहित्य भारतीय अन्य सभी भाषाओं से आगे रहा है। इन 'बुरंजियों' में न केवल असम की तत्कालीन स्थिति का ही चित्रण है बल्कि उनमें भारत तथा एशिया की राजनीतिक व सामाजिक स्थिति भी स्पष्ट है। इन बुरं-जियों के उद्धार व उन पर नये दृष्टिकोण से विचार के क्षेत्र में वेणुधर शर्मा तथा डॉ० सूर्यकुमार भुयाँ की देन बहुत अधिक है। खासकर 'आहोम काल' पर इनके शोध-निबंध मूल्यवान कृतियाँ हैं।

भाषा-तत्व पर गवेषणा का बहुत बड़ा क्षेत्र असम है। मंगोल, बर्मी, द्रविड़ तथा आर्य इन सभी भाषा-गोष्ठियों का जन-समुदाय असम में निवास करता है और इन सबके समन्वय से असमीया भाषा का स्वरूप निखरा है। इसलिए भाषिक शोध की अपार सामग्रियाँ यहाँ बिखरी

पड़ी हैं। भाषा-तत्व पर असम के कई मूर्धन्य विद्वानों ने शोध किया है जिनमें डॉ० वाणीकांत काकति का नाम सबसे पहले आता है। आपका 'असमीया भाषा—इसकी रचना और विकास' मूल्यवान शोध-कृति है। इसमें लेखक की विद्वत्ता तथा स्वतंत्र दृष्टिकोण प्रकट हो उठा है। ख़ासकर असमीया शब्द और ध्वनि-तत्व पर डॉ० काकति का शोध-कार्य देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा प्रशंसित है। इनके शोध-कार्य द्वारा ही असमीया भाषा को स्वकीय मर्यादा प्राप्त हुई। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण, प्रयोग तथा तत्व-विश्लेषण की सूक्ष्म तथा सरस शैली के द्वारा आपने असमीया साहित्य-भंडार को अपूर्व वैभव प्रदान किया। हिंदी के आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाँति आपने असमीया साहित्य में समालोचना का मानदंड भी निर्धारित किया। 'पुरणि असमीया साहित्य' जहाँ डॉ०काकति के समीक्षात्मक लेखों का संग्रह है वहाँ 'पुरणि असमर धर्मर धारा' उनकी संस्कृति-गवेषणा संबंधी दृष्टि का परिचायक है।

इसी काल में 'असमीया साहित्य का इतिहास' लिखने की ओर भी विद्वानों का झुकाव हुआ। प्राचीन ग्रंथों के संग्रह और उनका नव मूल्यांकन होने लगा। इस दिशा में डिंबेश्वर नेओग की विशिष्ट देन है। आपने ही 'असमीया साहित्यर बुरंजी' नामक असमीया साहित्य का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत कर दिया है। निरपेक्ष विश्लेषण-दृष्टि, प्राचीन और नवीन साहित्य-धारा का सतर्क मूल्यांकन नेओग के इतिहास की विशेषता है।

स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान असमीया पत्रकारिता भी विकसित हुई और अनेक प्रकार के सामयिक निबंध लिखे गये। इनमें अनेक ऐसे भी निबंध हैं जो सामयिकता की सीमा को पार कर चुके हैं। नीलमणि फुकन की 'चिंतामणि' उनके दार्शनिक और विचारात्मक निबंधों का संग्रह है। 'साहित्य-कला' में फुकन के साहित्यिक विचारों की भावात्मक अभिव्यक्ति है।

पुरातत्व, गवेषणा और मानव-विज्ञान के क्षेत्र में राजमोहन नाथ ने अनेक निबंध लिखे हैं।

जीवनी तथा आत्मकथा-लेखन भी इस युग की एक विशिष्ट साहित्यिक विधा के रूप में पनपा। भावुकता, पूजा-वृत्ति तथा शब्द-चमत्कार के बजाय इस दिशा में विश्लेषण की प्रवृत्ति व यथार्थ दृष्टिकोण अधिक देखा गया। प्राचीन महापुरुषों के जीवनी-लेखन के अलावा 'आत्मचरित' भी लिखे गये।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में डॉ० विरिंचिकुमार बरुवा की देन भी अविस्मरणीय है। बहुमुखी प्रतिभा के अधिकारी डॉ० बरुवा ने संस्कृति, गवेषणा तथा समालोचना की नवीन दिशाओं का उद्घाटन किया। 'काव्य आरु अभिव्यंजना', 'असमीया भाषा अरु संस्कृति', 'असमर लोकसंस्कृति' आदि ग्रंथों में प्राच्य और पाश्चात्य शोधात्मक पद्धतियों का समन्वय है, साथ ही डॉ० बरुवा की प्रतिभा का स्वरूप तथा व्यापक दृष्टिकोण इनमें स्पष्ट है। डॉ० बरुवा के अलावा श्री प्रफुल्ल दत्त गोस्वामी, डॉ० सत्येंद्र नाथ शर्मा का नाम भी आधुनिक समालोचकों में आता है।

जनजातीय भाषा तथा संस्कृति असमीया संस्कृत के अविच्छेद्य अंग हैं, जिसने विविध रूपों से सदा इसको विकसित करने व व्यापक रूप देने में योग दिया है। इन जनजातीय संस्कृति तथा भाषाओं का सुचारु अध्ययन अब तक नहीं हो पाया है। यद्यपि डॉ० वाणीकांत काकति, डॉ० विरिंचिकुमार बरुवा आदि ने इस दिशा में प्रकाश डाला है। इनका बहुविस्तृत क्षेत्र सूना ही पड़ा

है। हालाँकि लीलागर्ग ने 'आहोम जाति आरु असमीया संस्कृति' में तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका 'सीमांतर भाटि आरु मानुह' में उर्वसीयम अंचल के जनजातीय लोगों पर प्रकाश डाला गया है। डॉ० प्रमोदचंद्र भट्टाचार्य ने हाल ही में 'बड़ो' जनजाति पर एक शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है। उनका 'असमीया जनजाति' एक संपादित ग्रंथ है।

हेम वरुवा आधुनिक असमीया गवेषकों में प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। आपकी समीक्षा-शैली 'प्रभाववादी' होने पर भी उन पर आधुनिक पश्चिमी आलोचकों का प्रभाव बहुत अधिक है। आपने यात्रा-साहित्य पर भी बहुत कुछ लिखा है। उनके 'साहित्य आरु साहित्य', 'आधुनिक साहित्य' आदि उच्च कोटि के समालोचनात्मक निबंधों का संग्रह है, वहाँ लौहित्य और नीलाचल में असमीया भाषा और संस्कृति पर प्रकाश डाला है। 'रङा करबीर फुल', 'सागर देखिछा' आदि आपकी सरस यात्रा-पुस्तकें हैं।

गुवाहाटी विश्वविद्यालय की स्थापना होने के बाद जनजातीय संस्कृति तथा लोक-संस्कृति पर शोध-कार्य आरंभ हुआ है। परंतु अब तक इसकी कोई बड़ी उपलब्धि सामने नहीं आयी है।

असमीया कविता के रूप पर भी कई आलोचनात्मक कृतियाँ निकली हैं। त्रैलोक्यनाथ गोस्वामी का 'साहित्य-समालोचना' और महेंद्रवरा का 'असमीया कवितार 'छंद' दो विशिष्ट ग्रंथ हैं।

वस्तुतः आज का असमीया शोध-साहित्य बहुव्यापकता को अपनाये हुए निरंतर आगे बढ़ रहा है।

—खारघुली हिल,
गुवाहाटी (असम)

प्रतिपत्तिका

●●

निर्देशन की समस्याएँ

भारतीय रंगमंच के संदर्भ में जब हम विभिन्न प्रादेशिक नाट्य-प्रस्तुतियों की समस्याओं की परख करते हैं तो अनेक विशिष्ट अभावों के बीच कुशल निर्देशन की कमी इतनी व्यापक लगती है कि उस अकेली धुरी पर दूसरी अनेक छोटी-मोटी ख़ामियाँ ख़ुद ही घूमती हुई दिखायी पड़ती हैं। निर्देशन को इतना सरल और सहज मान लिया गया है कि नाटक के क्षेत्र में बहुतेरे ऐसे हैं जिन्होंने अपना प्रवेश ही निर्देशन के साथ किया है। रंगमंच के जीवंत तत्वों से अपरिचय और उनके प्रति अरुचि, नाटकों को उनका वांछनीय प्रभाव डालने से रोक लेता है। कुशल निर्देशन कहाँ तक एक साधारण नाट्य-कृति को उल्लेखनीय उपलब्धि बना सकता है, इसे नाटक के वे पारखी जानते हैं जिन्होंने इस कला को पश्चिम में विकसित होते देखा है।

बहुत काल तक यह मान्यता रही कि नाटककार के नाटक रच देने के बाद तो नाटक केवल अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। इंग्लैंड में शेक्सपियर और उसके बाद कुछ दिनों तक नाटककारों और अभिनेताओं का ही युग रहा है। नाटककार अपने सुविधानुसार और कुछ हद तक अभिनेताओं के सुविधानुसार नाटक रचते थे। उनमें से अधिकांश पुस्तकालयों की निधि बन जाते थे या शिक्षित वर्ग के घरों में आलमारी या मेज़ की शोभा बढ़ाते थे। नाटककार के हाथों से नाटक कलाकारों के हाथ में आ जाता था। इन दोनों के मध्य कोई तीसरा प्राणी नहीं होता था। संस्कृत नाटकों में 'सूत्रधार' का नाम बराबर आता है जो लेखक, अभिनेता और दर्शक के मध्य आता है और सारे आयोजन का प्रबंध करता है। अब प्रश्न यह है कि जब नाट्य-कला के स्वर्ण युग में भारत को छोड़ कर, अन्यत्र नाट्य-प्रस्तुति में नाटककार और अभिनेता के अतिरिक्त किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ी तब आज यह पश्चिम का प्रस्तोता (प्रोड्यूसर) या निर्देशक (डाइरेक्टर) कौन है, कहाँ से आ टपका? इंग्लैंड में शेक्सपियर के बाद उसकी टक्कर की रचनाएँ लिखने वाला कोई नाटककार नहीं जन्मा! नाट्य-प्रस्तुति-कला धीरे-धीरे बढ़ती भी गयी और उच्च कोटि के नाटककारों के अभाव के कारण धीरे-धीरे अभिनेताओं ने इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाना शुरू कर दिया। विलायत में 'कामेदिया-दे-लार्ते' आदि की प्रस्तुतियाँ होनी आरंभ हो गयीं जिनमें लिखित कृति के नाम पर कुछ नहीं होता था। सब कुछ अभिनेताओं के हाथों में होता था। परिणामस्वरूप नाट्य-जगत में अभिने-

ताओं का युग आ गया। इसका फल यह हुआ कि नाटक का साहित्यिक और बौद्धिक तत्व धीरे-धीरे निचले स्तर की ओर जाने लगा और मात्र आंगिक अभिनय ही नाटक में मुख्य और प्रधान हो गया।

पश्चिमी देशों में वह स्थिति आ गयी थी जिसके परिणामस्वरूप नाट्य-प्रस्तुति निरंतर पतनावस्था की ओर जाती रही; नाट्य-प्रस्तुति जिसमें हर चीज़ एक समग्र चित्र न दे कर छोटी-छोटी इकाइयों में अभिव्यक्ति पाते थे। इसे सर्वप्रथम १९वीं शताब्दी में ड्यूक ऑफ़ सेक्स मेनिनजिन ने अनुभव किया। इस समय तक पश्चिम में मंच पर प्रकाश की विभिन्न व्यवस्थाओं की खोज हो गयी थी और चित्रकला का प्रभाव भी नाटक में प्रयुक्त सज्जा पर पड़ने लगा था। ड्यूक ऑफ़ सेक्स मेनिनजिन ने यह अनुभव किया कि नाट्य-प्रस्तुति में अभिनय, मंच-सज्जा, वेश-भूषा, प्रकाश-व्यवस्था आदि सब कुछ स्वयं अपने में उच्च कोटि की कला का प्रदर्शन तो करते हैं किंतु वह सब मिल कर एक समग्र तथा प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत करने में प्रायः अक्षम रहते हैं।

नाट्य-प्रस्तुति में विभिन्न कलाओं का समावेश अवश्य होता है किंतु उन सब कलाओं में कोई संतुलन नहीं होता था। कारण यह था कि नाटककार की दृष्टि पूरे नाटक पर रहती तो थी किंतु यह संभव नहीं होता था कि वह स्वयं लगातार पूर्वाभ्यास में रहे और सब इकाइयों में संतुलन और सामंजस्य लाने के लिए सुझाव दे और वांछित सुधार कराये। प्रत्येक कलाकार अपने ढंग से उस नाटक के बारे में सोचता और अक्सर केवल अपने योग्यता-प्रदर्शन के ही अवसर की खोज में रहता। अतः कोई नाटक-प्रदर्शन अभिनेता-प्रधान, कोई प्रकाश-प्रधान, कोई सज्जा-प्रधान, कोई वेश-भूषा-प्रधान हो कर अपनी मूल प्रकृति खोने लगे। इस अति ने ही नाट्य-जगत में निर्देशक नामक प्राणी को जन्म दिया। फिर स्टेनिसलाविस्की और ऐंटोनी जैसे सजीव कलाकार और सर्जनात्मक विचारों के निर्देशक आगे आये जिन्होंने नाट्य-जगत में 'कलात्मक एकता' को स्थान दिलाने के लिए नाट्यांदोलन आरंभ किया। इन महान कलाकारों ने यह सिद्ध कर दिया कि नाट्य-प्रस्तुति में नाटककार, अभिनेता और दर्शक के मध्य एक और महत्वपूर्ण सर्जनकारी कलाकार भी आता है जो निर्देशक है, परंतु उस समय एक प्रश्न यह उठा कि क्या निर्देशक मात्र परिचालक ही है या संयोजक और व्याख्याता भी है? यदि निर्देशक सरकस का परिचालक मात्र है तब उसका कार्यक्षेत्र क्या होगा? नाट्य-प्रस्तुति के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण होगा? यदि वह भी नाटककार और अभिनेता की भाँति एक रचनात्मक कलाकार है, जो नाटक को समग्र, संतुलित और कलात्मक एकता के साथ दर्शक के सामने प्रस्तुत करता है, उसे नया अर्थ देता है, तो उसका कार्यक्षेत्र, उद्देश्य, योग्यताएँ और दृष्टि क्या होगी?

निर्देशक सरकस का परिचालक मात्र नहीं है, इस पर विवाद नहीं है। आज निर्देशक के संबंध में सर्वमान्य मत यह है कि वह नाटककार की रचना को अपनी कल्पना में पुनःसर्जित करता है। बल्कि कहना चाहिए कि वह नयी रचना-प्रक्रिया में उस सारे नाटक को फिर से ढालता है—उन पात्रों को वह स्वयं भी जीता है। इस प्रेरणा और अनुभूति की अभिनेता तथा अन्य कलाकारों के संयुक्त सहयोग और प्रयास द्वारा दर्शक के सामने वह पुनः रचना करता है। वह केवल

पूर्वाभ्यास परिचालित कराने वाला ही नहीं है वरन वह हर पूर्वाभ्यास में नाटक को क्रमशः रूप ग्रहण करते देखता है। वह देखता है कि काग़ज़ पर रचा गया, संपूर्ण जीवन का आभास देता हुआ वह चित्र कहाँ तक प्राणवान हो पा रहा है। अभिनेता तथा अन्य कलाकार उस कृति को कहाँ तक रूप, आकार और आत्मा दे पा रहे हैं, इस तथ्य को सामने रख कर जहाँ वह नाटक अपनी मूल प्रेषणीयता में कमज़ोर पड़ रहा है, वहाँ वह नये क़दम उठाता है। इस तरह वह धीरे-धीरे नाटक को अपनी परिकल्पना के अनुसार ढालता जाता है। उसके लिए अपने माध्यम को अच्छी तरह जानना, उसके गुण-दोषों को भली प्रकार समझना, उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखना एवं हर कलाकार के विचारों के प्रति सद्भावना और सम्मान का भाव रखना आवश्यक है। उसका सुलझा स्वभाव, मान्य मूल्यों का गहन अध्ययन, दर्शकों की माँग एवं मनोविज्ञान का ज्ञान तथा साहित्य तथा संबंधित कलाओं के प्रति पैनी दृष्टि उसकी कुशलता में नये आयाम जोड़ देती है।

नाटक भी अन्य कलात्मक चित्रों की भाँति जीवन के एक 'अंश' मात्र को प्रस्तुत करता है। किंतु सफल निर्देशक जीवन के उस छोटे से टुकड़े को इस तरह दर्शक के सामने प्रस्तुत करता है कि दर्शक को उसमें संपूर्ण जीवन का बोध मिलता है। दर्शक यह अनुभव कर पाते हैं कि 'हाँ, ऐसा जीवन में प्रायः घटित होते देखते हैं'। सफल निर्देशक उस चित्र को जीवन के अधिक निकट लाता है, अधिक वास्तविक या यथार्थ और कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। प्रस्तुतीकरण एक सामूहिक कला की अभिव्यक्ति का प्रतीक है। निर्देशक सभी कलाओं के समन्वित प्रयोग से जीवन की संपूर्णता प्रदर्शित करता है। निर्देशक को जीवन का बृहत अनुभव होना आवश्यक है। उसे जीवन में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं, उनके परिणामों और व्यक्तियों की विचार-धारा में आते हुए प्रत्येक परिवर्तन का क्रम जानना वांछनीय होगा। इसी परिवर्तन-क्रम का बोध तथा संपूर्ण जीवन के प्रति पैनी दृष्टि निर्देशक की रचना-प्रक्रिया में भावात्मकता जगाता है, साथ ही पूरे आयोजन को अधिक जीवंत बनाता है।

निर्देशक के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि जीवन में किस प्रकार मनुष्य आनंद से विषाद की ओर अनायास बढ़ता है, या निराशा आशा में कैसे बदलती है। वस्तुतः जीवन में यह सब कुछ अपनी निश्चित गति के अनुसार पर्याप्त समय ले कर होता है लेकिन निर्देशक को यही अनुभूति थोड़े से समय में करानी होती है। अतः यह आवश्यक है कि वह इस कुशलता से इसे प्रस्तुत कराये जिससे दर्शक को यह न लगे कि सब कुछ बहुत जल्दी हो गया, या जीवन में ऐसा नहीं होता है। तब वह प्रस्तुति मात्र प्रदर्शन बन कर रह जायगी, जीवन की अनुभूति संभवतः नहीं करा सकेगी।

निर्देशक को अनेक समस्याएँ और मर्यादाएँ चुनौती देती हैं। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम जीवंत प्राणी—अभिनेता है। निर्देशक ने नाटक को जिस रूप में घटित होते देखा है वैसे ही अभिनेता भी देखे, यह आवश्यक नहीं है। अभिनेता कहीं स्वयं भी सर्जनकारी कलाकार है। वह अपने अनुभव, विचार और संस्कार, विभिन्न घटनाओं, सामाजिक वातावरण आदि के प्रभाव से पूर्ण होता है। अतः निर्देशक के लिए कठिनाई होती है कि किस प्रकार वह अपनी अनुभूति को अभिनेता तथा उसी के समान संबंधित अन्य कलाकारों के माध्यम से कैसे 'फ़ुटलाइट'

के उस पार बैठे दर्शक तक पहुँचाये। प्रायः निर्देशक 'तानाशाह' बन जाते हैं और अपनी नादिर-शाही चलाते हैं। वे हर पग पर अभिनेता और अन्य कलाकारों पर अपने विचार लादना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि अन्य सभी कलाकार उनके हाथ में कठपुतली की तरह नाचें। निःसंदेह वे दर्शक को कलात्मक एकता का या एक संपूर्ण चित्र का भ्रम दे सकते हैं किंतु वे चित्र आत्माहीन एवं एकरस हो जाते हैं और इस प्रकार अपनी रोचकता खो देते हैं। सब कुछ बड़ा यांत्रिक, ऊपर से थोपा हुआ लगता है। इसके विपरीत वे निर्देशक होते हैं जो स्वयं बहुत कुछ सोच-विचार नहीं सकते, जिनके कोई मौलिक विचार नहीं होते, न ही जिन्हें जीवन का वृहत और गहन अनुभव ही होता है। वे अपनी मर्यादाएँ तोड़ देते हैं और अभिनेताओं तथा अन्य कलाकारों को 'पूर्ण' स्वतंत्रता दे देते हैं और उन्हीं के द्वारा चालित होते हैं। इस स्थिति में दर्शक के संमुख बिखरा हुआ या टुकड़ों में बँटा हुआ चित्र आता है। निर्देशक को इन दोनों अति की स्थितियों से बचना आवश्यक है। उसे अपने विचार दूसरों पर लादने नहीं हैं परंतु अपनी परिकल्पना के अनुसार सबको आवश्यक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देते हुए भी एक नियंत्रण में परिचालित करना है, क्योंकि नाटक का पूरा चित्र वही निष्पक्ष रूप से या तटस्थ भाव से खींच सकता है। अन्य कलाकार सारी स्थिति के बारे में भावुक हो जाते हैं और प्रायः व्यक्तिगत रूप से अधिक सोच सकते हैं। निर्देशक के अतिरिक्त कोई भी तटस्थ भाव से सारी कृति का मूल्यांकन नहीं कर पाता है।

दूसरी सीमा निर्देशक के सामने होती है नाटक की। रचनाकार ने जब नाटक रचा, तब उसने एक चित्र खींचा। काग़ज़ पर अक्षरों द्वारा खींचे गये चित्र को निर्देशक को विभिन्न कलाकारों के सहयोग से दर्शक के सामने खींचना है। इस चित्र को आकार देने के लिए ही उसे विभिन्न वस्तुओं जैसे सज्जा, वेश-भूषा, रंग-रेखा, संगीत-प्रकाश आदि का प्रयोग करना पड़ता है। जब निर्देशक निश्चित या पारंपरिक साधनों के प्रयोग में किसी प्रकार की हेर-फेर करता है और उनके प्रयोग में किसी प्रकार का परिवर्तन करना चाहता है तो उसे प्रायः कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यहाँ उसे इस बात के लिए बहुत स्पष्ट रूप से विचार कर लेना चाहिए कि वह वास्तव में चाहता क्या है। उसे यह भी विचार करना चाहिए कि नाट्य-कृति कितने प्रयोग की संभावना उसे देती है। क्या नाटक संकेतों के प्रयोग का अवसर देता है? जब निर्देशक मंच की सीमाएँ तोड़ना चाहता है तब दर्शक की अभिरुचि, प्रयोग और परिवर्तन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया एवं कलाकारों के मानसिक विकास आदि सभी बातों का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। यहाँ उसे अपने साधनों को भी ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। किसी प्रयोग के प्रति बहुत भावुक हो कर विचार करना घातक हो जाता है, प्रायः प्रभावहीन भी।

एक और समस्या निर्देशक के संमुख आती है, 'स्वतंत्रता' की। निर्देशक को हर अभिनेता के 'अहं' को मान्यता देनी है; हर कलाकार के 'अहं' को संतुष्ट करना है और सबकी अभिव्यक्ति को समुचित अवसर प्रदान करना है। उसके सामने समस्या यह आती है कि वह सबको कितनी स्वतंत्रता दे कि वे नाटक को जी भी लें, उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति भी निरंतर क्रियाशील रहे और नाटक को संतुलित रूप से प्रदर्शित भी कर दें। हर अभिनेता और हर कलाकार व्यक्ति होने के साथ ही साथ एक बड़ी सी वस्तु का अंग भी है और हर छोटे टुकड़े का एक दूसरे से भी संबंध है।

ये बातें निर्देशक को हर कलाकार के दिमाग़ में बहुत स्पष्ट रूप से बैठा देनी हैं। हर कलाकार को कुछ कल्पित सीमाओं में सर्जन करना है जहाँ वह इन कल्पित सीमाओं का उल्लंघन करे वहाँ निर्देशक को बड़ी कुशलता से अंकुश लगा देना आवश्यक है क्योंकि उस पूरे समूह में नाटककार के बाद वही ऐसा व्यक्ति है जिसने नाटक की हर घटना, हर पात्र को एक दूसरे से संबंधित हो कर क्रमश: आगे बढ़ते देखा है। उस कलाकृति का समग्र संतुलित रूप उसी के मस्तिष्क में है। वह ऐसा व्यक्ति है जो इस सबसे अपने को अलग कर के इसका मूल्यांकन कर सकता है। एक बार नाटककार भी अपनी रचना के प्रति अतिरिक्त भावुक हो सकता है। उसे मोह हो जाता है किंतु निर्देशक अपने को वहाँ बचा सकता है। वह उस स्थिति में दोहरा जीवन जीता है। वह इस रचनात्मक दल का एक अंग भी है और दर्शक वर्ग का भी सक्रिय प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रसंग में नाटककार का स्वयं निर्देशक भी होना प्राय: चिंत्य हो उठता है।

हिंदी रंगमंच के संदर्भ में जब हम निर्देशन की इस बहुमुखी प्रतिभा की माँग करते हैं तब प्राय: नकारात्मकता ही हाथ आती है। उसके बहुतेरे कारण हैं। निर्देशक में पृष्ठभूमि का सर्वथा अभाव उसकी रचनात्मक प्रक्रिया को सक्रिय मंच के योग में प्राय: हास्यास्पद सिद्ध कर देता है। वस्तुत: निर्देशक को जिस प्रकार मंच की तथा नाटक की हर मौलिक प्रक्रिया से हो कर गुज़रना उसके अनुभव के लिए अत्यंत आवश्यक है वह यदि पूरी तरह से किया जाय तो उसके लिए बहुत समय की अपेक्षा होगी। इसीलिए उसके प्रशिक्षण की आवश्यकता है। किंतु तब भी यह समस्या उतनी ही ज्वलंत रहेगी कि प्रशिक्षण ले कर आगे आने वाले इन निर्देशकों की खपत कहाँ हैं? उनका जीवन-यापन कैसे होगा?

और तब फिर वही पुराना प्रश्न-चिन्ह सामने आता है——सफल नाट्य-प्रस्तुति का अर्थ है कुशल अभिनेता, कुशल निर्देशक और कुशल नाटककार और उन सबका अर्थ है एक जीवंत रंगमंच जो अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

——हीरा चड्ढा,
२१, गुजराती मुहल्ला,
इलाहाबाद।

काव्य-नाटक या नाटक-काव्य

दुष्यंत कुमार द्वारा प्रस्तुत 'एक कंठ विषपायी' के प्रकाशन के बाद अनेक पत्रों में प्रकाशित गोष्ठी-संवादों में काव्य-नाटक पर चर्चाएँ देखने को मिलीं। डॉ० धर्मवीर भारती कृत 'अंधा युग' के माध्यम से 'काव्य-नाटक' को एक नवीन विधा का स्वरूप प्रदान किया गया था। यद्यपि

कविवर पंडित सुमित्रानंदन पंत ने आकाशवाणी के लिए 'रजत-शिखर', 'शिल्पी' जैसी कृतियों का लेखन-कार्य संपादित किया था और उन कृतियों को 'भाव-नाट्य' ही कहा गया किंतु विधा रूप में नामकरण की दृष्टि से मुझे आपत्ति है, क्योंकि नाटक के शिल्प में ही परिसीमित कर लेने की स्थिति को कोई भी काव्यकार स्वीकारेगा नहीं। 'काव्य-नाटक' के नामकरण से काव्य की स्थापना न हो कर नाटक की हो जाती है। हिंदी नाटक में गद्य ही मान्य रहा इसलिए 'नाटक' संज्ञा में गद्य को विशेषण रूप में जोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई, किंतु नाटक को जब भाव एवं अनुभूति से जोड़ने की चेष्टा हुई तब काव्य की सामान्य स्वीकृत रूढ़ शैली पद्य रूप दे कर पद्य-नाट्य (या नाटक), छंद-नाट्य (या नाटक), गीति-नाट्य (या नाटक) आदि संज्ञाएँ दी गयीं। पद्य के स्थान पर भाव-गुण-विशेष्यबोधक बन कर नाटक के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा है।

टी० एस० इलियट एवं फ़्लारेड ने निश्चय ही 'काव्य-नाटक' को विधा रूप में मूर्त रूप दिया, और साहित्यिक मूल्यों की भी संवृद्धि की। यदि भारतीय मान्यताओं के परिप्रेक्ष में काव्य-नाटक देखा जाय तो अनुचित न होगा। 'पोयट्री ड्रामा' के मात्र आधार पर 'काव्य-नाटक' को सैद्धांतिक आधार देना अनुचित होगा। काव्य, बोध (फ़ार्म) है, नाटक दृश्यमूलक (काव्य-नाटक श्रव्यमूलक होने के कारण पठनीय है), वस्तु-संगठन प्रधान होने के कारण स्वरूप प्रकार (कंटेंट) है। बोध एवं प्रकार के परिप्रेक्ष में रचनाकार प्रकार के बाह्य उपादानों में काव्य-बोध को अवस्थित करता है। नाटक की अभिनेयता गुण की सत्ता 'नाट्य' पर अधिक आधारित है अतएव वह दृश्यमूलक है, किंतु काव्य-नाटक पठनीय एवं श्रव्य है तथा नाट्य-गुण का परिप्रेक्ष यदि काव्य-नाटक में रंगमंचीय होगा तो वह अभिटिप्पण तथा भाव-मुद्रा-प्रधान मात्र आंगिक होगा। यहाँ समझना होगा कि समस्त वस्तून्मुखी विधाओं में प्रबंध-गुण होता ही है। जैसे—यथार्थवादी एवं आदर्शवादी परिप्रेक्ष में प्रस्तुत सामाजिक जीवन की दार्शनिक व्याख्या यदि गद्य में प्रबंधत्व से संपन्न हो तो वह उपन्यास कहा जायगा, वह पद्य में भावात्मक सत्ता पर आधारित होने के कारण महाकाव्य कहा जायगा और अभिनेयता गुण (नाट्य) से संपन्न हो कर 'नाटक' हो जायगा। तो प्रश्न उठेगा कि नाटक का कथ्य काव्य है अथवा नहीं? नाटक के कथ्य में वस्तु की सोद्देश्यता ही काव्यमूलक होती है, काव्य जीवन की उदात्तता में है और काव्य एक मानवीय गुण है। नाटक का, वस्तु में स्थित अभिप्रेत अर्थ काव्य की संज्ञा रूप में जाना जायगा। स्पष्ट है कि नाटक में काव्य की भाव सत्ता है तथा संप्रेषणीयता भी है। नाटक में काव्य उसी प्रकार निहित है जैसे उपन्यास में काव्य निहित होता है। इस प्रकार काव्य का एक व्यापक अर्थ है। प्रश्न होगा कि नाटक विधा को काव्य से पृथक क्यों किया जा रहा है? 'काव्य-नाटक' नामक भ्रामक नामकरण द्वारा साध्य व साधन रूपों में भेद उत्पन्न कर देखा जा रहा है, अथवा साधन शिल्प को साध्य व साध्य-गुण को साधन रूप क्यों दिया जा रहा है? जब कि दोनों स्वयं में अविभाजित हैं। यदि सूक्ष्म विश्लेषण हो तो स्पष्ट किया जा सकता है।

नाटक के संदर्भ में 'काव्य' शब्द प्रयोग या भाव-बोध-प्रधान नाटकों के कारण तथा प्रतीक-परंपरा के वैशिष्ट्य से पूर्ण नाटकों के कारण होता है। यहीं साहित्येतिहास के परिप्रेक्ष में देखा जाय

तो द्विवेदी-युग में विशुद्ध इतिवृत्तमूलकता के कारण प्रबंध-काव्य की रचनाएँ संपादित हुईं और 'छायावाद-युग' में प्रबंध को स्थूल (ऐतिहासिक अस्तित्व) रूप में स्थान देते हुए भी 'कामायनी' के माध्यम से रूपक-काव्य की रचना की गयी, किंतु 'नयी कविता' के युग-संदर्भ में बदलते हुए मूल्यों में परिवर्तन हुआ टी० एस० इलियट द्वारा प्रदत्त काव्य-नाटक। (जिसे मैंने आगे 'नाटक-काव्य' कहा है) का आविर्भाव हुआ। 'कामायनी' अपने रूपकत्व के कारण वस्तु से पृथक एक अन्य मानव-मन-व्यापारों का अर्थ 'आनंद' को ले कर गतिशील हुई। उक्त बात काव्य-रचनाकारों के बारे में हुई, किंतु नाटककारों का भी ध्यान नाटक में काव्य को खोजने की ओर आकृष्ट हुआ (नाटक भले ही दृश्यमूलक हो या श्रव्यमूलक पठनीय हो) जब कि वह नाटक में ही अर्थ रूप में आविर्भूत रहा है। एक क़दम आगे दृष्टि बढ़ा कर देखा गया कि प्रतीक-संदर्भ में मूल विधा नाटक में पृथक् काव्य का अस्तित्व है। विधा एवं काव्य को पृथक रूप में दृष्टिगोचर करने के लिए रूपक एवं प्रतीक साधन बने। प्रतीक के माध्यम से अभिप्रेत अर्थ तो काव्य है और अन्यथा स्थूल वस्तु विधान श्रव्यमूलक (ध्वनि-प्रधान) होने के कारण नाटक माना गया। आत्मा एवं शरीर को पृथक रूप में देखने की चेष्टा है—'काव्य-नाटक'। जहाँ जीवित शरीर है वहाँ आत्मा की चेतना-गति के संबंध में संदेह उत्पन्न होने की दशा है—'काव्य-नाटक'। वस्तु काव्य का सामान्य उपादान है, मात्र ढाँचा है, यह संगठनमूलक है और नाटक भले ही पठनीय हो किंतु है अनुभूति-प्रधान तथा है तकनीक। अतएव 'काव्य-नाटक' का शब्द-प्रयोग टी० एस० इलियट के लिए उनकी दृष्टि में उचित रहा हो, किंतु भारतीय साहित्य-परंपरा के परिप्रेक्ष में यह प्रयोग वैसे ही उल्टा ही कहा जायगा जैसे 'मुक्तक काव्य' के स्थान पर 'काव्य-मुक्तक' का कहा जाना या 'प्रबंध-काव्य' के स्थान पर 'काव्य'-प्रबंध' का कहा जाना।

इस संबंध में मेरा मत है कि नाटक को शिल्प-साधन रूप में स्वीकारा जाय और उसके अंतर्गत दृश्य की शर्तों को ले कर एक पक्ष तथा श्रव्य की (पठनीय) शर्तों को ले कर दूसरा पक्ष, दोनों स्थितियाँ अपने वर्गीकरण में काव्य के लिए साधन ही स्वीकारी जायँ। उक्त शिल्प-साधन के साध्य 'कथ्य', प्रतीकों में अभिप्रेत 'अर्थ' को काव्य माना जाय। मेरे कहने का आशय है कि 'काव्य-नाटक' में नाटक रहे और उसका विषय कथ्य अर्थात काव्य हो।

सही नामकरण से नये संदर्भ भी खुलेंगे इसलिए मेरा कहना है कि 'काव्य-नाटक' को 'नाटक-काव्य' कहा जाय, उसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में—यथा प्रबंध-काव्य, रूपक-काव्य, नाटक-काव्य। काव्य साध्य है और साधन है नाटक। जिस प्रकार किसी प्रबंध पद्य-संगठन (इतिवृत्त) में औदात्य के संदर्भ में काव्य-रसात्मा की स्थापना की जाती है तो वह सर्वप्रथम प्रबंध-काव्य कहा जा कर महाकाव्य संबोधित किया जाता है, इसी प्रकार नाटक शिल्प के परिप्रेक्ष में श्रव्यमूलक पठनीय भाव रचनाकार का अभिप्रेत कथ्य काव्य कहा जा कर, नाटक-काव्य शब्द-प्रयोग द्वारा महाकाव्योचित सीमा-स्पर्श में समर्थ होगा। 'नाटक-काव्य' अपने कथ्य में काव्य को श्रेष्ठतम मानव-मूल्य-प्रधान सौंदर्य-बोध एवं भाव-बोध-प्रधान रूप दे सकने पर महाकाव्य सहज ही कहा जा सकेगा। प्रबंध-काव्य के अंतर्गत वस्तु-पात्रों में जो प्रतीक को महत्ता दी गयी तो वह रूपक-काव्य हुआ। ('कामायनी' के माध्यम से) और जब प्रबंध के साथ प्रतीक को नाटक से संयोग-स्थापन का

अवसर प्राप्त हुआ तो वह 'नाटक-काव्य' कहा जाय, ऐसी मेरी मान्यता है। प्रबंध-संगठन में नाटकीय व्यापार अंशतः विद्यमान ही रहता है और 'नाटक-काव्य' में प्रबंध एवं प्रतीक दोनों अवस्थित रहेंगे। प्रबंध (कथा) रूढ़िवश एवं स्थूलवश 'एपिक ऑफ़ ग्रोथ' प्रधान हो जाता है, किंतु महाकाव्योचित स्तर तो 'एपिक ऑफ़ आर्ट' द्वारा ही पा सकना संभव है। कलात्मक भाव-बोध एवं काव्य-भाव-बोध का अद्भुत सामंजस्य है—'नाटक-काव्य'। टी० एस० इलियट के मोह से मुक्त होने की बात शेष है, अन्यथा उपर्युक्त विवेचन संदर्भ के अभाव में 'अंधा युग' को काव्य-नाटक की सीमा में रख कर उसके मूल्य को निर्धारित नहीं किया जा सका है और उसके महाकाव्यत्व की उपेक्षा की गयी है। आगे विचारों के आदान-प्रदान में बहुत सी अन्य बातें रखी जा सकती हैं।

—विजय कुमार शुक्ल,
हिंदी विभाग, हितकारिणी सिटी कॉलेज,
जबलपुर।

औद्योगिक नीति, समस्याएँ एवं साहित्य

आधुनिक युग में आर्थिक गतिरोध को विनष्ट करने का साधन औद्योगीकरण माना जाने लगा है। अनेक व्यक्तियों का विश्वास है कि आर्थिक समता की प्राप्ति पर भारतीय अनेक समस्याओं से छुटकारा पा लेगा—जाति-व्यवस्था, वर्ग-भेद, द्विज-शूद्र-दृष्टिकोण एवं जड़बद्ध संस्कारिता आदि। परंतु क्या आर्थिक गतिरोध के विनष्ट हो जाने से जाति-व्यवस्था का विघटन संभव है? या जाति-व्यवस्था की विघटनकारी सूक्ष्म कुप्रवृत्तियों पर अंकुश लग जायगा? उक्त प्रश्नों का स्वीकारात्मक हल उन्हीं व्यक्तियों के लिए सुलभ हो सकेगा जो दीर्घकालिक क़यामत का इंतज़ार कर सकें अन्यथा अधुनातन भारतीय औद्योगीकरण नीति इस विकृत व्यवस्था को समाप्त करने में सफल होगी, संदिग्ध है। दीर्घकालिक प्रतीक्षारत तार्किक व्यथित जाति-व्यवस्था का निदान पश्चिमी तथा अन्य औद्योगिक देशों की परिस्थितियों में खोजते हैं जो भारत के समसामयिक परिवेश में अनुपयुक्त ही नहीं, अकल्पनीय भी हैं। जिन पूर्व परिस्थितियों एवं सुविधाओं का उपयोग अमरीका, इंग्लैंड आदि औद्योगिक देशों ने किया, भारतीय उद्योग को अप्राप्य रहीं। पूर्व विकसित देशों ने अविकसित राष्ट्रों की स्थिति का (जायज़ अथवा नाजायज़) लाभ उठा 'कच्चे माल' को अपेक्षाकृत कम मूल्य पर ख़रीद 'पक्के माल' को इच्छानुसार मूल्यों पर बेचा और 'व्यापार-रहस्य' (ट्रेड-सिक्रेट) बनाये रखा। विश्व का अधुनातन 'औद्योगिक बाज़ार' प्रतियोगी होता जा रहा है, पूर्ण औद्योगिक राष्ट्रों को अपनी उत्पादन-सामग्री

को खपाने के लिए जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ रहा है। विकसनशील राष्ट्रों ने औद्योगिक देशों की एकच्छत्रता (मोनापली) पर अंकुश लगा दिया है अतः औद्योगिक राष्ट्रों के संमुख एक समस्या 'बड़े पैमाने पर उत्पादन' आ खड़ी है। जापान, चीन, जर्मनी आदि देशों में लघु उद्योगों को प्रोत्साहित किया जा रहा है; ऐसी परिस्थिति में भारतीय औद्योगीकरण नीति जिस विशाल स्तर पर कार्य कर रही है, कहाँ तक अधिक लाभ उठा सकेगी जब कि अमरीका के संमुख कार-खाने वंद करने, रूस के सामने काम के घंटे कम करने के प्रश्न हैं क्योंकि माँग और पूर्ति की एक सीमा होती है। पश्चिमी तथा अन्य विशाल औद्योगिक राष्ट्र औद्योगीकरण की पूँजीवादी समाजवाद और साम्यवाद की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके हैं। अतः वहाँ उपयोगिता का महत्व घट कर विविधता का फ़ैशन बढ़ रहा है। अब ये देश अर्धविकसित या अविकसित देशों के संमुख इसी विविधता का चारा फेंकते रहते हैं।

भारत में वास्तविक औद्योगीकरण 'द्वितीय पंचवर्षीय योजना' से ही कार्यरत है; पिछले १०० वर्षों में जो औद्योगिक नगरियाँ बसी हैं वे नगण्य थीं। उनका देश-व्यापी प्रसार न होने से अधिकांश जनता इस अभियान से अनभिज्ञ रही। पिछलग्गूपन की आदत ने क्या-क्या संकट खड़े नहीं किये हैं। इससे प्रायः सभी अभिज्ञ हैं। भारतीयों की लाचारी भी इस विषय में कम नहीं है। उद्योगीकरण के गुण-अवगुण पूर्णरूपेण संमुख नहीं आये हैं; कुछ आ चुके हैं, कुछ आ रहे हैं और कुछ आने वाले हैं। लेकिन 'घनवाद' की शाखा 'भविष्यवादी' कलाकारों ने यूरोपीय रचनाओं में यांत्रिक जीवन की दुरूहताओं एवं दुर्गुणों का अंकन कर दिया है।

पश्चिमी विविधता और उपयोगिता में एक अप्रच्छन्न असंबद्धता दृष्टिगोचर हो रही है। उनके लिए विविधता का खेल आवश्यक है। जीवन की एकरसता, एकतानता को भंग करने के लिए वैविध्य-रंग के कारण ही 'वीटता' का जन्म हो रहा है; आदिम युगीन परंपरा एवं प्रवृत्ति और स्थिति एक नये आयाम में उपस्थित है मगर रचना-परंपरा की विविधता प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप से जीवन-परंपरा की विविधता के साथ ही चली है अतः कुंठा का विकृत, अनियमित, अदृश्य रूप देखने को नहीं मिलता। विविधता की उपयोगिता और प्रयोग में भारत के लिए उपयोगिता आज आवश्यक है। प्रत्येक उपयोगी प्रयोग से कुछ बोध-मूल्य की प्राप्ति नितांत आवश्यक है अन्यथा परिस्थितियाँ अनुपयोगी प्रयोगों की क्या दुर्दशा कर सकती हैं, स्पष्ट है। साहित्यिक परिस्थितियों में आज साहित्य समाज से अलग हट रहा है मगर वस्तुतः साहित्यकार सामाजिक ही है। कुंठाओं और ग्रंथियों की जो दुर्दशा हो रही है उसे क्या कहा जाय ! हम जीवन-परंपरा में विविधता का उपभोग न कर रचना-परंपरा में बराबर प्रयोग कर रहे हैं और चूँकि जीवन-परंपरा में वैविध्य है ही नहीं, अतः कथनी और करनी के अंतर के कारण एक संकुचित, विकृत कुंठा छा रही है। पश्चिम की नक़ल में भारतीय रचना-परंपरा जीवंत परंपरा से बहुत आगे या हट कर चल रही है अतः आज का कलाकार भी वास्तव में अपने कथन से सापेक्षतः संपृक्त नहीं रहा। हम अपनी परंपरा से हट पश्चिमी परंपरा की नक़ल करते हैं किंतु बात परंपराओं को तोड़ने की करते हैं—यही एक मज़ाक़ है।

ऐसे अस्थिर वातावरण में किसी अच्छे श्रमिक लेखक की अनुपलब्धि आश्चर्य की बात नहीं है। और अभी भारत को औद्योगीकरण से पाला ही कहाँ पड़ा है; फ़िलहाल तो जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, सांप्रदायिकता, भाषा-विवाद आदि से ही मुक्ति नहीं है। कला और साहित्य के क्षेत्र में मठों का बोलबाला हो रहा है। पश्चिम की होड़ में पिछड़ जाने की भाव-संकुलता से प्रेरित हो लेखकों ने कंगारू-छलाँग लगायी कि छायावादी युग के पश्चात; प्रथम, द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका तथा पूँजीवाद की उन परिस्थितियों को जिन्हें भुगत कर यूरोपीय देश 'क्रुद्ध युवक वर्ग' और बीट युग तक आ सके हैं, छोड़ दिया। इस बीच की परिस्थितियों की प्रक्रिया भारत के लिए अन्योऽन्य प्रकार की हो सकती थी, उसके नतीजे बीटता या क्रुद्ध युवक वर्ग न हो कर अन्य किसी दूसरे प्रकार के हो सकते थे। यहीं साहित्य की क्रमागत प्रक्रिया में एक बड़ी खाई रह गयी जो आज साहित्य में पीढ़ियों के झगड़े के रूप में फलीभूत हो रही है। ये झगड़े दो पीढ़ियों के हैं। और एक तीसरी पीढ़ी है जो इन झगड़ों को स्तब्ध हो कर देख रही है। प्राचीन पीढ़ी के बोध-मूल्य तथा मानदंड कुछ अलग हैं जो वर्तमान जन-जीवन और युग के उपयुक्त नहीं तथा अर्वाचीन पीढ़ी के मानदंड एवं बोध-मूल्य भी वर्तमान युग के उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि यह पीढ़ी समस्याओं से बहुत हट कर अलग या आगे है। तीसरी पीढ़ी जनता-माध्यम (मास-मीडिया) जो दोनों पीढ़ियों की अनुभूति से हट कर 'कुछ' और ही भुगत रही है। नयी और पुरानी पीढ़ी के झगड़े ऊष्मा-विकिरण पद्धति से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं जहाँ माध्यम या बीच के किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती, इसीलिए भारतीय जन-जीवन का अधिकांश भाग इन रचनात्मक झगड़ों से दूर तथा साहित्य की उपलब्धियों से दूर तथा उदास हैं।

पश्चिम के पास विलास के पर्याप्त साधन हैं; द्रव्य अधिक और काम कम, अतः उनका प्रयोगशील अवस्था में रहना ठीक ही है। उनके पास जब मुद्रा की कमी थी, जी-तोड़ मेहनत से मुद्रा-अर्जन किया और अब उनके लिए नित-नवीन मूल्यों का सर्जन और विसर्जन एक क्रीड़ा मात्र है। हमारी चेतना और भावना भी पश्चिमी प्रायोगिक रूपी हो चली है, परंतु इस प्रकार की प्रयोगशील अवस्था में आने के पूर्व हमने जी-तोड़ परिश्रम नहीं किया। जीवन और साहित्य में एक अधूरापन रह गया है जो आज उद्‌भ्रांत और उत्तेजित अवस्था में बढ़ रहा है। भारतीय परिस्थितियाँ इस प्रकार के खेल के लिए हमें कोई अवसर नहीं देतीं। हम स्थितियों का अंतर नहीं देखते, समानता की माँग करते हैं। उन्नति की तीव्र इच्छा एवं भावना के साथ कामचोरी की आदत अर्थात नैतिक ईमानदारी (इसमें व्यावसायिक बेईमानी भी कुछ लोग उचित समझते हैं) का अभाव हमारी विशेषता है। हमारी यही साँप-छछूंदर की नियत गति है। अतः काव्य की आत्मा के अंतराल को देशज परिस्थितियों के अनुकूल भरना होगा अन्यथा इस विषम अवस्था से मुक्ति संभव नहीं। देशीय अनुकूलताओं के आधार पर किस प्रकार के पुराव-भराव की आवश्यकता है यह विज्ञ व्यक्तियों के सोचने-समझने का विषय है। क्रमबद्ध एवं उचित रूप से एक 'चक्राकार-क्रम' पूरा करना होगा। पश्चिमी विविधता के आयाम अनिश्चित तथा अनियोजित संघात में एक अपेक्षाकृत शिथिल और अनौपचारिक शैली का विन्यास करते हैं जबकि हमारे वैविध्य आयाम एक सुनियोजित और निश्चित आयाम में अपनी ही दृष्टि के नियोजन से एक

गत्यात्मक तीव्र प्रभाव की, नवविकसित संवेदनशीलता के आधार पर रूपात्मक स्थानांतरण की आवश्यकता प्रतीत करते हैं।

——गोविंद गुप्त,
४५५, बी सेक्टर, एन-२,
गोविंदपुरा, एच० इ० एल०,
भोपाल (म० प्र०)।

वयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि

अंतर्राष्ट्रीय विधि राज्यों के बीच की चीज़ है। प्राय: एक राज्य का दूसरे स्वतंत्र राज्य की प्रजा के साथ शांतिकाल और युद्धकाल में समान रूप से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवहार करना पड़ता है। शांतिकाल में तो भिन्न-भिन्न स्वतंत्र राज्यों की प्रजा के साथ के व्यवहार में विभिन्नता की आवश्यकता नहीं पड़ती, किंतु युद्धकाल में शत्रुराज्य की प्रजा और तटस्थ राज्य की प्रजा के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का बर्ताव करना पड़ता है। यह अवस्था दो प्रकार से उत्पन्न होती है। युद्धकाल में तटस्थ देशों के निवासी युद्ध-सामग्री समान रूप से दोनों पक्ष के हाथ बेंच कर रुपया कमाने का प्रयत्न करते हैं, किंतु कोई भी राज्य यह नहीं चाहता कि शत्रु-राज्य की ताक़त बढ़े। अतः युद्धकारी राज्य इस खोज में रहता है कि वह तटस्थ राज्य द्वारा जाने वाले सामान को पकड़ ले। युद्धकारी राज्य जहाज़ को पकड़ कर अपने देश में ले जाते हैं। वहाँ उनके स्वामी पर अदालत में अभियोग लगाया जाता है, यदि उसे अपराधी पाया गया तो उसका सारा माल ज़ब्त कर लिया जाता है। कभी-कभी जहाज़ भी ज़ब्त कर लिया जाता है। यह कार्य अंतर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध नहीं समझा जाता। तटस्थ राज्य, जिसकी प्रजा का माल ज़ब्त कर लिया गया हो, किसी प्रकार विरोध नहीं कर सकता। किंतु पकड़ने की प्रणाली अथवा न्यायालय का निर्णय पक्षपातपूर्ण होने पर विरोध किया जा सकता है और कभी-कभी उसको ले कर तटस्थ राज्य और पकड़ने वाले राज्य में युद्ध छिड़ जाता है।

एक राज्य का दूसरे राज्य की प्रजा के साथ का शांतिकालीन और युद्धकालीन व्यवहार अंतर्राष्ट्रीय विधि का विषय है। किंतु एक राज्य के नागरिक का दूसरे राज्य के नागरिक के साथ का व्यवहार और तज्जनित दीवानी और फ़ौजदारी न्यायालयों का निर्णय वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय क़ानून का विषय है। जब किसी देश का नागरिक दूसरे देश में जा कर व्यापार करता है अथवा अपने देश के सामान दूसरे देश में भेजता है, उस समय कभी-कभी सामान मार्ग में नष्ट-भ्रष्ट हो

जाता है अथवा पहुँचने पर खोटा पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में उस पर पराये राज्य के न्यायालय में अभियोग चल सकता है। संभव है कि इस संबंध में दोनों देशों के क़ानून में फ़र्क़ हो। ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि किसी देश के क़ानून के अनुसार न्याय किया जाय। इसी प्रकार विदेश में अस्थायी रूप से रहने वाले नागरिक के व्यक्तिगत व्यवहार को ले कर भी अदालत में जाने का अवसर उपस्थित हो सकता है। उदाहरणार्थ दक्षिण अफ्रीका की राष्ट्रीय विधि का नियम है कि अदालत द्वारा पति-पत्नी का वैवाहिक संबंध टूटने पर जिस पक्ष को अदालत दोषी क़रार देती है वह दूसरे पक्ष के विवाह कर लेने के पूर्व अपना पुनर्विवाह नहीं कर सकता। किंतु बर्तानिया में ऐसा नियम नहीं है। अतः दक्षिण अफ़्रीका का निवासी अपने देश के न्यायालय द्वारा दोषी ठहराये जाने पर भी बर्तानिया की सीमा में आने पर दूसरे पक्ष द्वारा विवाह करने के पूर्व स्वयं विवाह कर सकता है, क्योंकि इंग्लैंड के प्रवास-काल में उसके साथ अफ़्रीका की विधि के अनुसार व्यवहार न हो कर बर्तानिया की विधि के अनुसार व्यवहार होगा। अतः संसार के प्रायः समस्त विद्वानों ने वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि को स्वतंत्र स्थान दिया है। मनुष्य का जीवन चाहे वह वैयक्तिक हो चाहे सामूहिक, किसी को एक शास्त्र की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। उसके विभिन्न पहलू विभिन्न शास्त्रों का विषय होने पर भी एक दूसरे से संबंधित होते हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय विधि तथा वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न अंश पर प्रकाश डालती है। मुख्य अंतर यही है कि जहाँ अंतर्राष्ट्रीय विधि एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र अथवा एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र के नागरिकों के व्यवहार से संबंध रखती है वहाँ वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि में व्यक्ति-व्यक्ति का संबंध रहता है। दूसरे शब्दों में राष्ट्र-राष्ट्र के व्यवहार में अंतर्राष्ट्रीय लिखित अथवा अलिखित विधि का व्यवहार होता है किंतु वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में राष्ट्रीय विधि के अनुसार विदेशियों के साथ व्यवहार होता है। अंतर्राष्ट्रीय विधि स्वतंत्र राज्यों के बीच की विधि है, अतः वैयक्तिक व्यवहार में राज्य का स्थान न रहने के कारण वह वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि का स्वतंत्र विषय हो गयी है। संसार के विद्वानों ने अंतर्राष्ट्रीय वैयक्तिक विधि को स्वतंत्र विषय मान कर अंतर्राष्ट्रीय संबंधी अपने ग्रंथ में इसको स्थान नहीं दिया है।

एक राज्य के नागरिक का दूसरे राज्य के नागरिक के साथ विवाद उपस्थित होने पर यदि दोनों राज्यों का क़ानून में भिन्नता हो तो उस परिस्थिति में यह प्रश्न उठेगा कि न्याय किस देश के क़ानून के अनुसार किया जाय। न्यायालय को अधिकार रहता है कि अपने देश के क़ानून के अनुसार निर्णय करे अथवा दोनों देशों के क़ानून को मिला-जुला कर काम चलाये अथवा दूसरे देश के नागरिक के राज्य के क़ानून के अनुसार निर्णय दे। जिन सिद्धांतों पर ऐसे अवसरों पर काम लिया जाता है वह वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि का विषय हो जाता है। यद्यपि यह सिद्धांत सामान्य व्यक्तियों के साथ बरते जाते हैं तथापि सभी देशों में माने जाते हैं। अधिकांश विषयों के संबंध का राष्ट्रीय क़ानून आज प्रायः समस्त सभ्य राज्यों में एक दूसरे के सदृश होते जाते हैं। अनेक सभ्य राज्य तो आपस में संधि कर के कुछ विषयों पर अपने यहाँ सर्वथा एक सा ही क़ानून बना लेते हैं। आजकल अनेक प्रकार की सरकारी और ग़ैरसरकारी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का संघटन होता जा रहा है और इनके निश्चयों के परिणामस्वरूप सभ्य देशों में बराबर क़ानून बनते

रहते हैं। वर्तमान काल में संसार के समस्त राज्य के नागरिक दूसरे राज्यों से व्यापार में संलग्न हैं, अत: वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय क़ानून की आवश्यकता और उपयोगिता दिन-दिन बढ़ती जा रही है।

किसी राज्य के राष्ट्रीय क़ानून का अंश वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि का रूप तभी ग्रहण करता है जब ग़ैरनागरिक के संबंध का मुक़दमा न्यायालय के संमुख विचारार्थ उपस्थित होता है। जब तक उभय पक्ष अथवा एक पक्ष विदेशी नहीं रहता वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि की परिधि में विचारणीय विषय नहीं आता। निम्न परिस्थितियाँ आवश्यक समझी जाती हैं—

(१) यह निर्णय करना कि किस परिस्थिति में न्यायालय को दो राज्यों के नागरिक के बीच के झगड़े का निर्णय करने का अधिकार है।

(२) यह निर्णय करना कि निर्णय के लिए किस-किस राष्ट्रीय क़ानून की शरण ली जाय।

(३) यह निश्चित करना कि किस परिरिथति में (अ) दूसरे देश के न्यायालय का निर्णय मान्य समझा जाय और (ब) दूसरे देश के न्यायालय के निर्णय के अनुसार प्राप्त हुए अधिकार को किस प्रकार प्रयोग में लाया जाय।

—सावलिया बिहारीलाल वर्मा
गीता भवन, सीतामढ़ी कोट,
मुज़फ़्फ़रपुर।

वाद-विधि : स्तरीय भाषा की समस्या

विधि के क्षेत्र में प्राविधिक शब्दावली अथवा प्राविधिक साहित्य पर विचार-विमर्श करने के लिए, आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य भी है कि हम संपूर्ण विधि संबंधी वाङमय को, दो भागों में विभक्त कर लें। यह विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिए किये गये विभाजन से सर्वथा भिन्न होगा क्योंकि विधि के क्षेत्र में यह विभाजन सैद्धांतिक स्तर पर ही प्रभिन्न नहीं हैं, किंतु व्यावहारिक स्तर पर भी उनका स्वतंत्र अस्तित्व मान्य है। दोनों के निर्माण-स्रोत भी भिन्न हैं, जिनमें यदा-कदा परस्पर संघर्ष भी दृष्टिगोचर होते हैं। परिनियम-विधि का निर्माण-स्रोत विधान-मंडलों और संसद की संप्रभुता है और वाद-विधि के रूप में की गयी व्यवस्थाओं की मान्यता न्यायतंत्र के स्वातंत्र्य से निःसृत है। इसके अतिरिक्त, जब हम विधिक साहित्य के संबंध्र में

प्राविधिक शब्दावली और साहित्य की चर्चा करते हैं, तो परिनियम-विधि और वाद-विधि—दोनों से संबंधित सामग्री की प्रकृति में भी, हमें सुस्पष्ट और सुनिर्धारित सीमा-रेखा मिलती है। परिनियम-विधि का स्वरूप ही इस प्रकार होता है कि उसमें तद्विषयक प्राविधिकता स्वतः सन्निहित रहती है। इसकी प्रकृति में ही आज्ञापक व्यवस्था का समावेश रहता है। किंतु वाद-विधि की प्रकृति, इससे किंचित भिन्न होती है। वाद-विधि में उक्त आज्ञापक व्यवस्था के, विवेचन, विश्लेषण और उसके द्वारा प्रदत्त प्रवर्तनकारी प्रभाव के प्रकाश में की गयी, एक दूसरे प्रकार की व्यावहारिक व्यवस्था की परंपरा स्थापित की जाती है। और भी सुस्पष्ट शब्दों में न्यायतंत्र द्वारा परिनियम-विधि के निष्पादन की दीर्घ प्रक्रिया से इस परंपरा का निर्माण होता है। अस्तु।

जब हम वाद-विधि के संदर्भ में प्राविधिक भाषा और शब्दावली पर विचार करते हैं, तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम उसकी आधारभूत सामग्री की प्रकृति का भी अवकलन कर लें। वैधिक स्तर पर वाद-विधि और परिनियम-विधि के मूल विभाजक तत्वों की ओर संकेत कर दिया गया है। किंतु यह भिन्नता वैधिकता तक ही सीमित नहीं रहती। उक्त भिन्नता परिणामस्वरूप, भाषा और शब्दावली के चयन, उसकी रचना और संघटन में भी पर्याप्त अंतर हो जाता है। वाद-विधि की भाषा, विवेचन और विश्लेषणपरक होने के साथ तथ्यनिरूपक, वर्णनात्मक तथा जीवन की अत्यंत ही सामान्य घटनाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। न्यायतंत्र का वास्तविक प्रशासन वाद-विधि द्वारा ही संपन्न किया जाता है। किंतु परिनियम-विधि की अवस्था सर्वथा भिन्न होती है। आज्ञापक प्रकृति के कारण, उसमें अधिकारपूर्ण तथा अवश्य पालनीय व्यवस्था विधि-निषेध के साथ सन्निहित रहती है। स्वभावतः इस प्रकार की सामग्री की भाषा, विश्लेषणात्मक और सरल न हो कर, संयुक्त वाक्य-विन्यास वाली, और प्राविधिक प्रकार की होगी। परिनियम-विधि की ऐसी जटिल और प्रत्येक शब्द के सोद्देश्य एवं सप्रयोजन प्रयोग के कारण ही उसकी भाषा अंतरापेक्षी, दुर्बोध और संयुक्त वाक्य-रचना वाली होती है। भाषा के गुणों (प्रसाद, ओज आदि) का स्थान, उसमें सर्वथा गौण होता है और विधि-निषेधों की महत्ता का प्राधान्य होता है। ऐसी भाषा के प्रयोग के कारण ही, न्यायतंत्र को व्यावहारिक विधि-व्यवस्था देते समय, परिनियम-विधि का विवेचन और विश्लेषण, विशुद्ध रूप से तथ्यात्मक और अर्द्धतथ्यात्म विवादों के संदर्भ में करना पड़ता है। परिणामस्वरूप, वाद-विधि की सामग्री में हमें अनन्य रूप से, प्राविधिक और अर्द्धप्राविधिक शब्दावली का ही प्रयोग नहीं मिलता। वाद-विधि के, विशेष रूप से आपराधिक विवादों की अवस्था में, हमें अनेक ऐसे निर्णय प्राप्त होते हैं, जिनमें एक चौथाई भाग प्राविधिक होता है तथा शेष तथ्य-निरूपण से ही संबंधित होता है।

उक्त विवेचन से परिनियम-विधि और वाद-विधि का भाषा संबंधी अंतर, पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है। किंतु वाद-विधि के संबंध में यदि हम भाषा के दृष्टिकोण से, तनिक गहराई से विचार करें, तो एक बात प्रमुख रूप से हमारे सामने आती है। वाद-विधि में तथ्यनिरूपण करने वाली भाषा भी विशुद्ध रूप से तथ्यात्मक नहीं होती है। भाषा के स्तर पर हम ऐसी स्थिति की तुलना, गद्य और पद्य में किये गये किसी बिंबात्मक अथवा प्राकृतिक वर्णन से कर सकते हैं।

तथ्य-निरूपण दोनों में रहता है, किंतु अंतर्वस्तु (कंटेंट) की संज्ञेयता और ध्वनितार्थ की संप्रेषणीयता के कारण, दोनों में एक मौलिक अंतर आ जाता है। स्पष्टीकरण के लिए हम ललित साहित्य और विधि, दो क्षेत्रों से उदाहरण लेंगे। अपने निर्णय, रामस्वरूप तथा अन्य बनाम वृजनंदन प्रसाद तथा अन्य में, उच्च न्यायालय प्रयाग के न्यायमूर्ति श्री धवन द्वारा समय-निर्धारण के एक विवादास्पद प्रश्न पर विवेचन और विश्लेषण किया गया है; स्थानाभाव के कारण जिसका अल्पांश हम उद्धृत करेंगे।

"तथापि अधिवक्ता ने यह संकथन किया कि, एक दिन की समाप्ति तथा दूसरे दिन के आरंभ के बीच समय का अंतराल है, और इससे इस नोटिस में, जिसमें यह कहा गया है 'एक मास के अंदर खाली कर दो' तथा वह नोटिस जिसमें कहा गया है कि 'मैं तुम्हें खाली करने के लिए एक महीने की नोटिस देता हूँ।' महत्वपूर्ण भेद है। मेरे विचार से एक दिन के अंतिम क्षण तथा आगामी दिन के प्रथम क्षण के बीच कोई सारवान अंतराल नहीं है। समय, आकाश के बीच द्रव्य की गति से नापा जाता है जिसे हम समय का बीतना कहते हैं। वह पृथ्वी के अपनी धुरी पर चक्कर काटने में, उसके किसी विंदु अथवा तल की उत्तरोत्तर स्थितियाँ हैं। इस विंदु का एक पूरा चक्कर दिन कहलाता है।"

प्रस्तुत उद्धरण में जिस नोटिस को ले कर विवाद की सृष्टि हुई है--भाषा की दृष्टि से उसे भी उद्धृत करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। नोटिस की भाषा यों है--

आपको नोटिस दी जाती है कि आप रक़म मज़क़ूर अंदर एक माह अदा कर दीजिएगा वरना आप क़ानूनन मुस्तौजिब बेदखली होंगे और ऐसी सूरत में नोटिस हाज़ा को नोटिस क़ानूनी मुतसव्वर कीजिएगा और आहाताजात खाना खशपोश मज़क़ूर को तामील नोटिस से अंदर एक माह ख़ाली कर दीजिएगा वरना नालिश बेदखली व किराया मज़क़ूर व हरजा इस्तेमाल आयंदा आपके ख़िलाफ़ दायर की जावेगी।

प्रथम उद्धरण में दिये गये आंशिक विवेचन का लक्ष्य यह है कि समय की एक निश्चित इकाई के अंतिम रूप से निर्णीत हो जाने की अवस्था में, विवादास्पद विषय का न्याय्य विनिश्चयन भी निर्विवादित रूप से हो जायगा और समय की उस निश्चित इकाई का निर्णय प्रामाणिक रूप से तभी हो सकता है, जब उस विषय का काल से संबंधित किसी सर्वमान्य सिद्धांत के प्रकाश में विवेचन किया जाय और तत्संबंधी निर्णय, पर्याप्त परीक्षण के उपरांत किया जाय। काल संबंधी उस विशिष्ट प्रश्न का निबटारा हो जाने के उपरांत, उस वाद-विशेष में न्याय्य विनिश्चयन सरल हो जाता है। इस उद्धरण में विद्वान न्यायमूर्ति द्वारा इसी विषय का तथ्यपरक विवेचन और विश्लेषण वाद-विशेष के संदर्भ में किया गया है। इसमें लक्षण और व्यंजना का चमत्कार नहीं है वरन व्यावहारिक जीवन की कुछ विवादपूर्ण घटनाओं का एक निर्णयास्पद प्रश्न के संदर्भ में, विद्वत्तापूर्ण और तटस्थ विवेचन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे निर्णयों की एक दीर्घ-कालीन परंपरा, एक-एक कर के जोड़ी गयी ईंटों के समान, न्यायतंत्र के लोक-कल्याणकारी भव्य भवन का निर्माण करती है। पुनश्च, न्याय संबंधी प्रशासन के अतिरिक्त ऐसे निर्णयों द्वारा वाद-विधि का भाषा संबंधी एक स्वरूप भी निर्धारित होता है, जिसे हम वैधिक साहित्य की संज्ञा

से अभिहित कर सकते हैं। गुणिता के स्तर पर ऐसे साहित्य की स्वस्थ परंपरा, किसी भी प्रजातांत्रिक देश के सुप्रशासन और सुव्यवस्था का मेरुदंड होती है।

प्रतिपाद्य विषय की संदर्भगत समीचीनता को ध्यान में रखते हुए, दूसरे उद्धरण के संबंध में विस्तृत व्याख्या अप्रासंगिक होगी। किंतु यहाँ इतना कहना अनुचित न होगा कि विधि के क्षेत्र में कार्य करने वाला हिंदी भाषाभाषी जो वर्ग, 'मज़कूर', 'मुस्तौजिब',' मुतसव्वर', 'आहाताजात', 'ख़ाना ख़शपोश' आदि अरबी-फ़ारसी मिश्रित भाषा को समझ सकता है, उसके लिए प्राविधिक विवशता के कारण प्रयोग में लायी जाने वाली संस्कृतनिष्ठ शब्दावली को समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

अब इसी क्रम में साहित्य का भी एक उदाहरण लीजिए —

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझ कर कंदर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़ कर, सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देख कर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुंदर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में, मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि उतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देख कर उदास हो जाता है। असली कारण तो अंतर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

(अशोक के फूल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

इस उद्धरण में भी मूलतः एक तथ्य का ही निरूपण है। किंतु इसमें न तो व्यावहारिक जीवन का कोई विवादास्पद प्रश्न ही अंतर्ग्रस्त है और न ही कोई ऐसी जटिल समस्या ही उत्पन्न हो गयी है, जिसके न्यायपूर्ण समाधान के न होने की अवस्था में किसी व्यक्ति को सारवान क्षति पहुँचे। किंतु यह उद्धरण सांस्कृतिक विरासत की अपार निधि का एक ऐसा माणिक्य है, जिसकी ज्योति से मानवता सदा प्रकाश प्राप्त करती है। इसमें रागात्मक संप्रेषणीयता मुख्य है; बौद्धिक संज्ञेयता गौण।

उपर्युक्त उद्धरणों के संक्षिप्त विवेचन का अभिप्राय वैचारिक, भावगत और तदनुरूपिणी भाषा की प्रकृति को बुद्धिग्राह्य रूप में, समझने-समझाने के लिए तो है ही किंतु इस संबंध में सर्वाधिक महत्व की विचारणीय बात यह है कि जिस प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भाषा के गुणों और उसकी शैली-विशेष आदि से एक परंपरा और युग की स्थापना होती है, उसी प्रकार विधि के क्षेत्र में भी, तद्विषयक व्यावहारिक जीवन के अनेक रूप तथ्यों के संदर्भ में, विचारों, भावों और उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम भाषा की एक परंपरा का निर्माण होता है और स्तरीय प्राविधिक भाषा के बिना ऐसी परंपरा का निर्माण असंभव है। इस दिशा विशेष में संपूर्ण विधि संबंधी साहित्य, अंग्रेज़ी भाषा में ही प्राप्य है। भारत में यह परंपरा लगभग दो सौ वर्षों की है और राष्ट्र-

भाषा के रूप में हिंदी को मान्यता प्राप्त हो जाने के उपरांत भी, यह दीर्घकालीन परंपरा अंग्रेज़ी के माध्यम से ही गतिमान है। यहाँ पर यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि भाषा की दृष्टि से प्राविधिक, अर्द्धप्राविधिक अथवा सामान्य स्वरूप वाले वाङमय का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें हिंदी भाषा में व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए, कार्य न हुआ हो। किंतु वाद-विधि के क्षेत्र में, तत्संबंधी भाषा के स्वरूप की एक स्तरीयता का निर्धारण ही, समस्या के रूप में मार्ग का अवरोध बना हुआ है। यह सत्य है कि इस क्षेत्र में भाषा के स्तरीय स्वरूप के निर्धारण की समस्या ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की तुलना में, अपेक्षाकृत कठिन है, क्योंकि विधि के क्षेत्र में, प्राविकृत अधिकारियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा, न्यायतंत्र के ऐसे यंत्रों के समान है, जिनके प्रयोग में की गयी थोड़ी सी असावधानी भी, जन-जीवन को हानि-लाभ के रूप में प्रभावित कर सकती है। अतः ऐसी भाषा के निर्माण में वैज्ञानिक और प्राविधिक दृष्टिकोण की अपेक्षा तो है ही, किंतु समस्या का समाधान इतने से ही नहीं हो जाता। प्राविधिक शब्दावली के रूप का स्थिरीकरण और समीचीन अर्थों के साथ, उनके व्यवहार में लाये जाने के लिए, सक्षम तथा प्राधिकारपूर्ण मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। किंतु प्रश्न यह है कि क्या वैज्ञानिक स्तर पर, प्राविधिक भाषा के निर्माण के निमित्त, वाद-विधि के क्षेत्र में, कुछ कार्य हिंदी भाषा-भाषियों द्वारा किया भी गया है। इस संबंध में वस्तु-स्थिति बहुत स्पष्ट है। केंद्रीय और राज्य-सरकारों द्वारा, विधि के क्षेत्र में राष्ट्रभाषा के माध्यम से, जो कुछ भी कार्य हुआ है, वह पूर्णतः परिनियम-विधि और प्रशासन संबंधी टिप्पणियों तक ही सीमित रहा है। किंतु हिंदी के माध्यम से किये जाने वाले इस कार्य में भी, शब्दों के अर्थ का न तो स्थिरीकरण हो पाया है, और न प्राविधिक शब्दावली की अर्थवत्ता के संबंध में, इस क्षेत्र के प्राधिकारियों और विद्वानों में मतैक्य ही है। सरलीकरण और वैज्ञानिकता की सीमा-रेखाओं के बीच, संतुलनरहित यह मतभेद बहुत सारवान नहीं है। वाद-विधि के क्षेत्र में प्राविधिक हिंदी भाषा के निर्माण की समस्या निरपेक्ष रूप से सैद्धांतिक वाद-विवाद का विषय नहीं है। अनुवाद कार्य की प्रक्रिया में, जो प्राविधिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं, उनके संदर्भ में ही, भाषा के स्वरूप संबंधी सैद्धांतिक वाद-विवाद का महत्व है। इसी संदर्भ में, वाद-विधि के क्षेत्र में, स्तरीय भाषा के निर्माण की समस्या का समाधान हमें प्राप्त होगा। इस दिशा में कोई वैकल्पिक उपाय नहीं है।

—हीराप्रसाद त्रिपाठी,
द्वारा श्री गणेश जी,
अधिकार प्रेस, २२, क़ैसर बाग़, लखनऊ।

हमें इसका बहुत खेद है कि अनेक अनिवार्य काठिनाइयों के कारण हम न पिछले अंक में ही 'विवेचना' की सामग्री दे पाये, न इस अंक में ही दे सके हैं। पाठकों से इस प्रमाद के लिए क्षमा माँगते हुए हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि इन दो अंकों के इस अभाव की पूर्ति आगामी दो-एक अंकों में ही कर दी जायगी।—संपादक।

समीक्षाएँ

● ●

मार्क्स और गांधी का साम्य दर्शन

नारायण सिंह की विवेचनात्मक कृति। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। १८८५ शकाब्द। मूल्यः १५.००।

लगभग ६०० पृष्ठों के इस ग्रंथ में मार्क्सवाद और गांधीवाद के विभिन्न सिद्धांतों और क्रिया-पद्धतियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस तरह का विवेचन आज की परिस्थितियों में आवश्यक है। गांधी जी की विचारधारा ने देश की जनता पर गहरा प्रभाव डाला है। मार्क्स की विचारधारा भी जनता के एक कर्मठ भाग को प्रभावित करती रही है और वह प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जाता है।

विवेचन सहानुभूतिपूर्ण है; सहानुभूति गांधीवाद के लिए ज़्यादा है, मार्क्सवाद के लिए कुछ कम है। फिर भी लेखक ने आग्रहमुक्त हो कर मार्क्सवाद के गुण-दोषों को समझने का प्रयत्न किया है। पुस्तक की मौलिकता इस बात में है कि लेखक ने अनेक साम्यवादी सिद्धांतों की पूर्वकल्पना प्राचीन भारतीय चिंतन में देखी है। पुस्तक के अध्ययन से सहृदय पाठक पर यह प्रभाव पड़ेगा कि वह प्राचीन भारतीय ग्रंथों को नयी दृष्टि से देखेगा, मार्क्सवाद के प्रति यदि पहले से उसके मन में दुराग्रह होगा, तो वह कुछ कम होगा और वह प्रयत्न करेगा कि गांधीवादी और मार्क्सवादी विचारक मिल कर देश की वर्तमान परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न करें। यह प्रभाव सभी के लिए हितकर होगा।

आजकल गांधीवाद के दो रूप हैं। एक रूप सर्वोदयवादियों के पास है, दूसरा दिल्ली सरकार के पास। गांधीवादी सिद्धांतों की समझ और उन्हें व्यवहार में लाने के ये दो रूप काफ़ी फ़ासले पर हैं। मोटे रूप से मार्क्सवाद के भी दो रूप दिखायी देते हैं। एक वह रूप है जिसका प्रतिपादन सोवियत संघ और अधिकांश अन्य देशों के साम्यवादी करते हैं। दूसरा रूप वह है जिसका प्रतिपादन चीन तथा अन्य देशों के कुछ साम्यवादी करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी के लिए यह कहना कि यही मार्क्सवाद है और यही गांधीवाद है, बड़े साहस का काम होगा। इससे इस विषय के विवेचन की कठिनाई स्पष्ट है।

पुस्तक की अनेक मान्यताओं को अवैज्ञानिक और कपोलकल्पित कहा जा सकता है। कहाँ द्वंद्ववाद, कहाँ गीता, कहाँ मार्क्स और लेनिन का साम्यवाद और कहाँ ऋग्वेद, कहाँ क्रांतिकारी सर्वहारा आधिपत्य का सिद्धांत, कहाँ सुधारवादी 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत। ऊपर से देखने में लगता है कि नारायण सिंह जी बड़ी दूर की कौड़ी लाये हैं। फिर भी इतना तो असंदिग्ध है कि उन्होंने भारतीय विचारधारा के संबंध में जो नया दृष्टिकोण प्रस्तुत

किया है, वह सार्थक है। जिसे हम भारतीय विचारधारा कहते हैं वह यूरोप की विचारधारा से उतनी पृथक नहीं है जितनी बहुत से लोग सोचते हैं और उसमें अनेक तत्व ऐसे हैं जो आज के सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी हैं। भारतीय विचारधारा के नये मूल्यांकन का यह प्रयास उपयोगी है, अपने ढंग का पहला प्रयास है, इसलिए उसमें अपूर्णता भी हो सकती है।

मार्क्सवाद उत्पादन और वितरण की पद्धतियों का विश्लेषण कर के सामाजिक विकास-क्रम में मनुष्य को अपनी स्थिति पहचान कर आगे बढ़ने का रास्ता दिखलाता है। पूंजीवाद का नाश करने वाली क्रांति पहली सामाजिक क्रांति नहीं है। इससे पहले स्वयं पूंजीवाद ने सामंतवादी व्यवस्था को बदला था। मुख्य वस्तु है उत्पादन और वितरण की पद्धतियों का बदलना। मेरी समझ में सामाजिक विकास-प्रक्रिया के बारे में गांधीवाद और मार्क्सवाद में मौलिक भेद है और लेखक ने उस भेद की समुचित व्याख्या नहीं की। उसने पंूजीवादी समाज में संपत्तिशाली वर्ग द्वारा हिंसा के प्रयोग की ओर भी ध्यान नहीं दिया। मज़दूर हड़ताल करते हैं, पुलिस गोली चलाती है। हिंसा कौन करता है? कांगो, अल्जीरिया, क्यूबा, वियतनाम।—हर महाद्वीप में साम्राज्य-वाद अन्य देशों की जनता को गुलाम बनाये रखने के लिए हिंसा का सहारा लेता है। संसार में मुख्य अंतर्विरोध हिंसक साम्राज्य-वाद और शांतिप्रेमी जनता के बीच है। लेखक ने इस अंतर्विरोध का समुचित विवेचन नहीं किया।

पुस्तक आकार में कुछ बड़ी है। आशा है, पाठक धैर्य से उसे एक बार पढ़ जायँगे। यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी यदि गांधीवाद, मार्क्सवाद या अन्य विचारधारा के लोग लेखक की स्थापनाओं से असंतुष्ट हो कर प्रस्तुत समस्याओं पर गंभीरता से विचार न करेंगे और पुस्तक को निरर्थक मान कर एक ओर उठा कर रख देंगे। आगे-पीछे हमें इन समस्याओं पर विचार करना ही होगा और उस दिशा में इस पुस्तक के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करना होगा।

—रामविलास शर्मा
अंग्रेज़ी विभाग,
बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा।

अंग्रेज़ी उपन्यास का विकास और उसकी रचना-पद्धति

श्रीनारायण मिश्र की विवेचनात्मक कृति। प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ। सन १९६१। मूल्य: ८००।

प्रस्तुत पुस्तक हिंदी समिति ग्रंथमाला की ५३वीं रचना है। विविध विषयों पर हिंदी का ज्ञान-कोष समृद्ध बनाने में हिंदी समिति का कार्य सराहनीय रहा है, यद्यपि शायद यह कार्य विज्ञापित कम हुआ है। हम नहीं जानते, कहाँ तक यह कार्य योजना-बद्ध है और कहाँ तक प्रतिक्षण की प्रेरणा से परिचालित है। विज्ञापित ग्रंथ-सूची में हम निम्न विषयों पर पुस्तकों के नाम पाते हैं: आपेक्षिकता का अभिप्राय; हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन; इब्ने खलदून का मुक़दमा, शक्ति,

वर्तमान और भविष्य; काच विज्ञान; पतन की परिभाषा; आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनेक उपयोगी विषय सोचे जा सकते हैं जिन पर हिंदी तुरंत प्रकाशन की अपेक्षा रख सकती है।

स्वर्गीय श्रीनारायण मिश्र अंग्रेज़ी साहित्य के मर्मज्ञ थे और दो विश्वविद्यालयों में उच्च पद पर शिक्षक रहे थे। प्रस्तुत पुस्तक उनके अपार ज्ञानकोष का प्रमाण है।

अंग्रेज़ी उपन्यास के इस इतिहास में प्रारंभिक काल की रचनाओं पर तो विस्तार से लिखा गया है, किंतु अद्यतन काल पर सामग्री नहीं है। पहले चार परिच्छेदों की सामग्री का सारांश एक परिच्छेद में आ सकता था। इन परिच्छेदों में पुराने काल की रचनाओं का सारांश सविस्तर दिया गया है। अंग्रेज़ी उपन्यास का आरंभ वास्तव में अट्ठारहवीं सदी के लेखक रिचर्डसन से होता है। आगे चल कर स्कॉट, डिकिंस, थैकरे, मैरैडिथ आदि के साहित्य पर समुचित प्रकाश डाला गया है। अंतिम परिच्छेद है—'उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में अंग्रेज़ी उपन्यास'। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के लेखकों की चर्चा पुस्तक में नहीं हुई है। आर्नल्ड बैनेट, वेल्स और गाल्ज़वर्दी की चर्चा बहुत कम है। जो है भी, वह इसलिए कि उनका जन्म-काल उन्नीसवीं शताब्दी थी।

अंग्रेज़ी उपन्यास के लंबे इतिहास में पहले प्रभावशाली उपन्यासकार फील्डिंग, जेन ऑस्टिन और स्कॉट थे। जेन ऑस्टिन की चर्चा पृष्ठ २१३ से शुरू होती है। सामान्य हिंदी पाठक और विद्यार्थी के लिए आधुनिक अंग्रेज़ी उपन्यासकारों का परिचय उपयोगी होता। पुस्तक में ऑल्डस हक्सले, डी० एच० लारेंस, समरसेट मॉम, जैम्स जौयस, वर्जिनिया वुल्फ़ आदि के नाम भी नहीं आये हैं। इन लेखकों को आजकल अंग्रेज़ी साहित्य के पाठ्य-क्रमों में रखा जाता है।

पुस्तक में मुद्रण की अनेक अशुद्धियाँ हैं। साहित्य के विद्यार्थी की दृष्टि से वर्तनों की भूलें किसी प्रामाणिक ग्रंथ में होना अक्षम्य है। ऐसे ग्रंथों के अंत में अनुक्रमणिका भी आवश्यक होती है, ताकि विद्यार्थी वांछित रचनाओं का हवाला शीघ्र ही खोज सके।

इन दुर्बलताओं और सीमाओं के बावजूद इस उपयोगी और पांडित्यपूर्ण प्रकाश के लिए हिंदी समिति बधाई की पात्र है।

—प्रकाशचन्द्र गुप्त,
१८९।४०३ मम्फ़ोर्डगंज
इलाहाबाद।

क्रांति-पथ का पथिक

बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद की आत्मकथा। प्रज्ञा प्रकाशन, चंडीगढ़ (पंजाब)। सन १९६४। मूल्य : १५.००।

आये दिन पद, प्रतिष्ठा और धन की छीना-झपटी और भ्रष्टाचार की शिकायतों से समाचारपत्रों के 'कॉलम' भरे रहते हैं। परिणामत: एक व्यापक कलुष जनता के मन पर चढ़ता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में बाबा पृथ्वीसिंह जैसे प्रसिद्ध क्रांतिकारी जीवित शहीद की यह आत्मकथा स्वार्थ की विषैली वायु

से मूच्छित जन-मन को सत्य, साहस, त्याग और बलिदान की भावना से पुनः स्वस्थ बनाने की दिशा में योग देगी।

बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद उन सुप्रसिद्ध क्रांतिकारियों में हैं जिन्होंने भारत से अमरीका में पहुँच कर 'ग़दर पार्टी' संगठित की थी और वहाँ से वापस आ कर सन १९१४, १८ के प्रथम विश्वयुद्ध के समय भारतीय सेनाओं के द्वारा सशस्त्र क्रांति कर के भारत को स्वतंत्र करने का प्रयास किया था। अदालत से पृथ्वीसिंह जी को पहले तो फाँसी की सज़ा हुई थी परंतु बाद में उसे आजन्म काले पानी की सज़ा में बदल दिया गया था। काले पानी की जेल में उन्होंने अन्य क्रांतिकारियों के साथ वहाँ के अत्याचारों के विरुद्ध जम कर लड़ाई की। जेल-अधिकारियों से अनेक बार उनकी मारपीट हुई और उन्होंने छह-छह महीने लंबी भूख हड़तालें कीं।

सन १९२१ में भारत वापस लाये जाने पर उन्होंने क़ैद से भागने का प्रयत्न किया और दूसरे प्रयत्न में वे पुलिस के सख्त पहरे में से पूरी रफ़्तार में चलती हुई मेल ट्रेन से कूद कर भाग निकले। 'स्वामी राव' के छद्म नाम से उन्होंने भावनगर में देश के नौजवानों में स्वतंत्रता के भाव भरने और उन्हें मन और शरीर से बलवान बनाने के लिए व्यायाम-प्रचार का काम किया। तत्कालीन क्रांतिकारी नेता अमर शहीद चंद्रशेखर आज़ाद ने उनसे मिल कर उन्हें दल के सदस्य के रूप में रूस जा कर क्रांतिकारी प्रशिक्षण लेने को प्रोत्साहित किया। बंबई के प्रसिद्ध लेमिंग्टन रोड गोलीकांड में भाग लेने के बाद वे अफ़ग़ानिस्तान के मार्ग से अनेक कठिनाइयों और बाधाओं को पार कर रूस जा पहुँचे और वहाँ से प्रशिक्षण प्राप्त कर पुनः भारत लौटे।

उस समय भारत का सशस्त्र क्रांति-प्रयास अपनी छुटपुट सशस्त्र हमलों की अवस्था को पार कर विशाल जन-संघर्ष की ओर बढ़ने की अवस्था में विकसित हो चुका था। ऐसी स्थिति में भूमिगत जीवन को व्यर्थ अनुभव कर आपने एक तपस्वी क्रांतिकारी के रूप में प्रकट होने को देश को क्रांति की ओर बढ़ाने के हित में उपयोगी समझा और महात्मा गांधी के समक्ष उन्होंने आत्मसमर्पण किया। यद्यपि सब बातों पर विचार कर के महात्मा गांधी ने उनको यही सलाह दी थी कि **बेहतर तो यही है कि आत्मसमर्पण के विचार को बदल दो तथा जैसे सोलह साल बिताये हैं वैसे ही शेष जीवन भी बिता दो। देश तो आजाद हो कर ही रहेगा। देश की आजादी के साथ ही तुम्हें आजादी प्राप्त हो सकेगी।** (पृष्ठ ३२३)। परंतु पृथ्वीसिंह जी अपने संकल्प पर दृढ़ रहे और जिस उद्देश्य के लिए वे सन १९२२ में क़ैद से भागे थे और १६ साल शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार की आँखों में धूल झोंकते हुए सक्रियता से क्रांति-पथ के पथिक बने रहे थे, उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने आत्मसमर्पण भी कर दिया और १९३८ में स्वेच्छा से आजन्म क़ैद में फिर चले गये।

गांधी जी ने उनकी रिहाई का प्रयास किया और वे २१-१-३९ को जेल से रिहा किये जा कर पुलिस के पहरे में गांधी जी के आश्रम में भेज दिये गये। आश्रम में रहते हुए भी वे अपने साम्यवादी साथियों से संपर्क बनाये रहे। परंतु साम्यवादी साथियों की इस बात को उन्होंने अस्वीकार कर दिया कि वे किसी बहाने गांधी जी का साथ छोड़ कर उनके

साथ मिल कर काम करने लगें। गांधी जी के प्रति उनकी वफ़ादारी की भावना की उनके साथियों ने भी क़द्र की। इस संबंध में पृथ्वीसिंह जी ने गांधी जी से कहा: '...**आपका मुझ पर पूरा विश्वास है और मेरा आप पर। मेरा साम्यवादी नेताओं से भी ऐसा ही नाता है।...मैं साफ़ तौर पर अपनी खुली आँखों से देख रहा हूँ कि जिस लगन से आप देश का हित चाहते हैं वैसे ही साम्यवादी चाहते हैं।...काश, मुझमें यह शक्ति होती कि मैं दोनों को सहमत करा कर उनमें मेल करा सकता।**' (पृष्ठ ३५५-३५६)।

सन १९४२ से १९६५ तक वे साम्यवादी पक्ष के अनुयायी रहे। परंतु आगे, उन्हीं के शब्दों में, **देश की उस समय की अवस्था को देख कर मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि साम्यवादी सिद्धांतों को अपनाना देशहित के लिए लाभदायक साबित नहीं होगा।** (पृष्ठ ४४०-४४१)। और उन्होंने स्वीकार किया कि **मैं सही अर्थ में कभी साम्यवादी न बन सका और न सत्य-अहिंसावादी ही।...जो कुछ मैंने आज तक किया, राष्ट्रवादी के नाते ही किया था।** (पृष्ठ ४४१)।

गांधी जी के आश्रम में रहते हुए क्रांतिकारी संयमी पृथ्वीसिंह जी ने मीरा बहिन जैसी उच्च आदर्श से परिचालित महिला के प्रेम को महात्मा गांधी का अनुरोध होते हुए भी स्वीकार नहीं किया था। परंतु बाद में जब उन्होंने यह अनुभव किया कि **मेरे सामने इस प्रकार का इन्क़लाबी जीवन नहीं रह गया था जिसमें मैं पूर्णतया लीन हो सकूँ तथा जिसमें पल-पल व क़दम-क़दम पर मृत्यु नज़र आती हो।** (पृष्ठ ४०५) तो उनका मन विवाह-ग्रंथि में बँधने को तैयार हो गया और उन्होंने ५२ वर्ष की आयु में अपने अनुरूप एक गुजराती महिला से विवाह कर लिया। अब ७२ वर्ष की आयु में एक होनहार पुत्र और एक होनहार पुत्री के पिता के रूप में उनकी अनुभूति है कि **मेरा संसारी जीवन काफ़ी सुखी है। जीवन-पथ पर चलते-चलते ७२ वें मील के पत्थर से गुज़र गया हूँ। रफ़्तार में किसी प्रकार की ढिलाई नहीं आयी है और न ही किसी प्रकार की कमज़ोरी। अभी तक पथिक अपनी मंज़िल पर काफ़ी तेज़ी के साथ चल रहा है। जिस कार्य की सिद्धि के लिए वह अपने पथ पर चला था, वह अभी तक पूरा नहीं हुआ है। आज़ादी तो आयी पर खुशहाली बाक़ी है। उसी कार्य में लगा हूँ।** (पृष्ठ ४१२)।

पृथ्वीसिंह जी की यह आत्मकथा गुप्त सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन और कांग्रेस के तत्वावधान में चले खुले आंदोलन की एक कैंची के दो फलों जैसी पारस्परिकता और एकता को हृदयंगम कराने में सहायक होगी, जिसने ही विदेशी दासता के बंधन को काट कर देश को स्वतंत्र किया है। आज हम एक ओर तो अपने अगणित स्वातंत्र्य-वीरों की शहादत से प्राप्त अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य को समाजवादी प्रजातंत्र में विकसित करने में प्रयत्नशील हैं, और दूसरी ओर बाहरी (पाकिस्तानी और चीनी) आक्रमणों से अपनी स्वतंत्रता और अपने देश की रक्षा, निःशस्त्र सत्याग्रहात्मक देशभक्ति से नहीं, पूर्ण सशस्त्र देशभक्ति से कर रहे हैं। आज हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं रह गया है। हिंसा-अहिंसा के व्यर्थ विवाद को उठा कर अभी तक सशस्त्र क्रांति-प्रयास और उसके शहीदों की जो उपेक्षा सी होती रही है, उसकी शिकायत करने का

आज न कोई अवसर है और अब न उसकी कोई आवश्यकता ही। आवश्यकता इस बात की है कि हम सशस्त्र क्रांतिकारियों के लक्ष्य, नीति और उनके आदर्श को भली भाँति समझ लें और उनकी सशस्त्र शहादत के पवित्र योग से प्राप्त अपनी स्वतंत्रता की सशस्त्र रक्षा के लिए और उसे समाजवादी प्रजातंत्र के रूप में विकसित करने के लिए समुचित भाव-बल प्राप्त करें। बाबा पृथ्वीसिंह जी की यह आत्मकथा ऐसे भावबल का अक्षय स्रोत है।

बाबा पृथ्वीसिंह स्वातंत्र्य-संघर्ष के सुदीर्घ काल में बड़े-बड़े क्रांतिकारी शहीदों, महात्मा गांधी और उनके अनुयायियों तथा साम्य-वादी नेताओं के भी संपर्क में आये हैं, उनके पुण्य प्रभाव से वे प्रभावित हुए हैं और उनके साथ मिल कर उन्होंने काम किया है। उन सबकी पुण्यस्मृति भी इस आत्मकथा में बड़े ही स्वस्थ रूप में अंकित है।

कुछ आलोचकों को यह शिकायत रही है कि क्रांतिकारियों की आत्मकथा जैसी कृतियों में उनकी उपेक्षा की शिकायत, पार-स्परिक वैमनस्यों की बातें और आत्मसमर्थन की भावना भी दिखती है, जिसका प्रभाव जन-मन पर अभीष्ट स्वस्थ रूप में नहीं पड़ता। ऐसी कोई वृत्ति पृथ्वीसिंह जी के लेखन में प्रतिफलित हुई नहीं दिखती। उनकी दृष्टि सदा नौजवानों के भावुक मन और उस पर पड़ने वाले प्रभाव की स्वस्थता पर ही रही है।

पृथ्वीसिंह जी का जीवन मृत्युंजयी साहस, शारीरिक कष्ट सहने की अक्षय क्षमता, किसी भी प्रकार के प्रलोभनों से सदैव अवि-चलित रहने वाली चारित्रिक दृढ़ता और सत्य-निष्ठा के रोमांचकारी कर्मों की एक अजस्र शृंखला रही है जो किसी भी काल्पनिक रोमांच-कारी उपन्यास से कम 'अद्भुत' नहीं है। वही इस आत्मकथा में आडंबरहीन सरलता और सादगी से चित्रित हुआ है। कहीं-कहीं शब्दों के प्रयोग में कुछ सुधार की, घटनाओं का यथा-स्थान, यथाप्रसंग उल्लेख होने में कुछ चालन की तथा समय-स्थान आदि के उल्लेखों में कुछ गौण संशोधनों की आवश्यकता प्रतीत होती है।

—भगवानदास माहौर,
६९।१ टौरिया नरसिंहराव, झांसी।

दर्द की मीनार

कृष्णनंदन 'पीयूष' का काव्य-संग्रह। बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना। सन १९६३। मूल्य: ३.५०।

अच्छे काग़ज़ और अच्छे टाइप में छपी ७२ तथाकथित कविताओं का यह संकलन कवि के इस कथन का कि **'दर्द की मीनार' में जो कुछ भी है वह भोक्ता कवि का आत्मिक दर्द है जो युग की पीड़ा के परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जायगा, यह विश्वास है।** एहसास नहीं करा पाता।

इस संकलन की अधिकांश कविताएँ तथाकथित प्रेमानुभूति से संबद्ध हैं और कुछ कविताएँ पुरातनता और नवीनता के विचारों से। शायद ही कहीं कोई ऐसी पंक्ति हो जिसमें कवि अपने अनुभव को सौंदर्यानुभूति का स्तर दे सका हो। कवि-कर्म इतना सहज

नहीं जितना इस कृति के रचयिता को विश्वास है।

अनुभूति की अद्वितीयता अभिव्यक्ति में नवीनता और ताज़गी उत्पन्न करती है जिसके कारण प्रत्येक सफल कवि को नवीन भाषा, नये प्रतीक और नये माध्यमों की खोज करनी पड़ती है। 'दर्द की मीनार' के कवि को कुछ भी खोजना नहीं पड़ा है। 'नयी कविता' की भंगिमा को उसने अपना लेने की कोशिश की है और समझ लिया है कि वह अपने को पूरी तरह अभिव्यक्त कर सका है।

प्राय: प्रत्येक कविता में कवि ने व्यंजना से अधिक कथन और वर्णन को महत्व दिया है इसलिए कहीं-कहीं प्रामाणिक अनुभूति के रहते हुए भी उसका प्रभाव बिखर जाता है। आधुनिक भाव-बोध और अभिव्यक्ति-संयम की बात उठाना तो इस संकलन के साथ संभव ही नहीं है। कवि के ही शब्दों में—

पन्ने जो लिख कर ढेर कर डाले मैंने,
कविता है (आप ऐसा समझेंगे)
पर यह किसी अज्ञात अनामंत्रित की प्रतीक्षा थी!
मेरी कविता को वक्तव्य चाहिए, ऐसा
विश्वास नहीं।

इसमें कोई संदेह नहीं, इन कविताओं के लिए किसी वक्तव्य की प्रेरणा शायद ही किसी को मिले। हम कवि को विश्वास दिलाते हैं कि उसने **'पन्ने जो लिख कर ढेर कर डाले'** उन्हें कवि की अज्ञात के प्रति प्रतीक्षा ही मानेंगे, साथ ही, उस प्रतीक्षा की पीड़ा से कवि की मुक्ति की कामना भी करेंगे।

—नित्यानंद तिवारी,
सेक्टर ४, १०७७,
आर० के० पुरम्, नयी दिल्ली—२२।

युग संगम

एन० चंद्रशेखरन नायर के नाटक। निकेतन प्रकाशन, त्रिवेंद्रम। मूल्य : १.५०।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के दो छोटे नाटक, जिन्हें एकांकी कहना उचित होगा, संग्रहीत हैं—'युग संगम' और 'द्विवेणी'। 'युग संगम' में अनेक युगों के पात्रों को अपने नाट्य-कौशल से एक मंच पर एकत्र कर लेखक ने उनके माध्यम से अपनी बात कहने का प्रयत्न किया है। पात्रों की अधिकता और दृश्यों का अधिक परिवर्तन मंच की दृष्टि से विशेष उपयुक्त नहीं माने जाते।

'द्विवेणी' में भक्ति, विवेक, यत्न, अनुकंपा, उदारता, सहिष्णुता आदि को मानवी रूप दे कर लेखक ने अणुबम-विस्फोट की पृष्ठ-भूमि पर एक सफल एकांकी लिखने का प्रयत्न किया है। भावनाओं का मानवीकरण कर के कथानक को समुचित ढंग से निभाना सरल कार्य नहीं होता है। लेखक ने युग-समस्या को सामने रखा है, उसके हल की ओर संकेत भी किया है।

मलयालमभाषी लेखक की यह हिंदी रचना स्वागत योग्य है ही। लेखक अपनी सुंदर हिंदी रचनाओं से साहित्य-भंडार को भरेगा ऐसी सहज आशा की जा सकती है। लेखक का हिंदी साहित्य-क्षेत्र में सहर्ष स्वागत है।

—रामेश्वरदयाल दुबे,
परीक्षायोजक,
हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद।

पत्र-प्रतिक्रियाएँ

• •

मुझे अत्यधिक दुख है कि मेरी असावधानी से मेरे लेख 'दो अंग्रेज भाषाविद्' ('माध्यम' नवंबर' ६५) में इतनी बड़ी ग़लती रह गयी। वस्तुतः वह मेरा शोध-लेख है और उसे 'माध्यम' में प्रकाशन -हेतु भेजते समय संक्षिप्त किया गया था। अतः तथ्यों की ओर से ध्यान उचट गया था। गुरुवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने डॉ० कैरी के विषय में सन १९२१ में उक्त वचन कहे थे। शब्दशः मैं उसे उद्धृत कर रहा हूँ, **'कैरी वाज़ दि पायनियर ऑफ़ दि रिवाइवल इंटरेस्ट इन दि वर्नाक्यूलर्स।'** प्रस्तुत उद्धरण डॉ० जॉर्ज स्मिथ की पुस्तक **'दि लाइफ़ ऑफ़ विलियम कैरी'** से मैंने लिया है।

—जे० एच० आनंद,
रायपुर (म० प्र०)

'माध्यम' का सितंबर' ६५ अंक देखा। 'माध्यम' से किसी दोष को ढूँढ़ निकालना, मेरे ख्याल से, आकाश में चमकते हुए तारों की सही-सही गिनती कर लेने के बराबर है। किंतु इस अंक (सितंबर '६५) में प्रकाशित श्री परेश की कविता 'प्रतीक्षा' देख कर न केवल आश्चर्य हुआ, बल्कि उसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि आपसे पत्र द्वारा उक्त कविता से संबंधित कुछ कहने का साहस भी पैदा हुआ।

श्री परेश की उक्त कविता इसी शीर्षक ('प्रतीक्षा') से पहले ही 'आजकल' (दिल्ली) के जुलाई '६५ अंक में प्रकाशित हो चुकी है। एक ही रचना दो भिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाने के पीछे श्री परेश की मनोवृत्ति दोहरा यश पाने की रही हो या दोहरे पैसे पाने की, यह तो वे ही बता सकेंगे, किंतु अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि आप जैसे अध्ययनशील, अनुभवी और सुधी संपादक से ऐसी भूल कैसे हो गयी! क्या 'आजकल' में रुचि न होने के कारण अथवा श्री परेश के प्रति अत्यधिक मोह होने के कारण ?

—सत्यनारायण श्रीवास्तव,
मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार)।

['आजकल' में वे कविताएँ क़रीब (कम से कम) दो वर्ष पूर्व प्रकाशनार्थ गयी थीं। मेरे पास कोई सूचना और स्वीकृति उनकी कभी नहीं आयी। 'माध्यम' की स्वीकृति को भी एक वर्ष होने को आ गया था, और मुझे कोई आशा नहीं थी कि आप लोग उसे छापेंगे। अतः 'अगस्त' में मैंने 'आजकल' में जब वह कविता देखी, तो भी यही सोच कर आपको सूचित नहीं किया कि आप लोगों की दृष्टि में भी वह आ गयी होगी या किसी अंक की सूचना आप देंगे तो मैं 'आजकल' में प्रकाशित होने की सूचना दे दूँगा...इस स्थिति ने मुझे शर्मिंदा किया। —परेश, चंडीगढ़।]

इधर कई पत्रों में, जिनमें 'माध्यम' भी शामिल है, कुछ बड़ी ही आग-भरी गतिविधियाँ दिखायी पड़ीं। कुछ ऐसा होता है कि कोई लेख निकलता है और बाद के अंकों में उस पर प्रतिक्रियाएँ सामने आती हैं। इनमें से अधिकतर प्रशंसात्मक होती हैं। और इसके विपरीत कुछ गाली से आरंभ हो कर, गाली ही बीच में रख कर, गाली के ही साथ खत्म होती हैं। मैं दूसरी कोटि की प्रतिक्रियाओं के संबंध में कुछ कहना चाहता हूँ जो साहित्यकारों द्वारा साहित्यकारों के ही जवाब में लिखी जाती हैं।

ये तो खैर हम मानेंगे ही कि इस प्रकार की बौद्धिक नोक-झोंक को पाश्चात्य पत्रों ने जन्म दिया है और इसके अनेक लाभ देख कर हमने भी इसे अपना लिया। शायद सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे पाठक-संख्या परोक्ष रूप से बढ़ जाती है। अगले अंक में क्या उत्तर आयगा—यह उत्सुकता कई अनियमित पाठकों को कुछ अर्से के लिए नियमित बना देती है। सार्त्र तथा कामू के घात-प्रतिघात तो खैर सर्वविदित हैं। अभी हाल ही में सार्त्र ने कार्नियेल विश्वविद्यालय जाने से इनकार कर के एक ऐसे ही विवाद को जन्म दिया था।

हमने आरंभ तो बड़ी अच्छी चीज़ की है पर हम यह नहीं तय कर पा रहे हैं कि किस हद तक कटुता का प्रदर्शन भद्दा नहीं होता है। किसी प्रकार का प्रतिमान तय कर पाना किसी के लिए भी संभव नहीं है पर इतना तो हम कर ही सकते हैं कि जो लिखा गया है उसी का जवाब दें, अर्थात लेखक के बारे में कोई भी व्यक्तिगत बात न कहें। उदाहरण के लिए, यदि किसी पुस्तक की समीक्षा आपका समीक्षाकार आपके पत्र के लिए लिखता है और प्रतिक्रिया के रूप में उस पुस्तक का लेखक आपको लिखता है—'मेरी पुस्तक...की समीक्षा श्री...ने आपके पत्र में लिखी है। श्री...की योग्यता के बारे में मैं क्या लिखूं, वह तो जाहिर है...' तो इसे अच्छी या बौद्धिक प्रतिक्रिया नहीं कहा जा सकता।

—नृसिंहप्रसाद दुबे,
पडरौना, (देवरिया)

'माध्यम' के सितंबर अंक में 'प्रत्यालोचन-पुनर्विचार' स्तंभ के अंतर्गत श्री नंदकुमार राय के विचार। अपने को चाहे जितना भी 'तटस्थ' रखने की चेष्टा वे करते हों, इस टिप्पणी से पक्षपात की ही गंध आती है।

मैं शलभ के निकट संपर्क में रहा हूँ, साथ ही इस प्रसंग पर चर्चा भी हुई है अतः मैं कह सकता हूँ कि 'शलभ' उपनाम से उन्हें कोई व्यामोह नहीं है। उनके व्यक्तित्व में 'झूठे प्रदर्शन' का आरोप भी एक शोध का ही विषय होगा।

श्री अजितकुमार ने 'बादल और बाँसुरी' की चर्चा (केवल उपनाम से संयुक्त) की थी। संयोग से शलभ का एक गीत 'गीत और बाँसुरी' उन्हीं दिनों 'कादंबिनी' में पुरस्कृत हुआ था। अतः उनकी चर्चा चल रही थी। फिर केवल उपनाम से वे अर्से से लिखते आ रहे हैं अतः हिंदी जगत इस उपनाम से उन्हें ही जानता है। ऐसी स्थिति में भ्रम-निवारण के लिए 'धर्मयुग' में उनका स्पष्टीकरण (जो बहुत ही विनम्र और सभ्य था) समुचित था।

'माध्यम' में प्रकाशित श्री घनश्याम प्रसाद की पुस्तक की समीक्षा के क्रम में शलभ का स्पष्टीकरण अपने व्यक्तित्व को (ईमानदारी से) अलग रखने के लिए है। अपनी विशिष्टता

के आसपास विभाजन-रेखा खींचना आत्मबल का परिचायक है।

एक श्री शशिभूषण 'शलभ' भी हैं। अक्सर 'सरिता' में लिखते हैं। शलभ उनसे तो कभी नहीं उलझे। कारण यह है कि 'धर्मयुग' और 'माध्यम' जैसे स्तरीय आवधिकों में यही शलभद्वय (श्रीराम और घनश्याम) संमुखीन हुए हैं।

—मिलिंद,
कुलटी (वर्धमान)।

अगस्त १९६५ के 'माध्यम' में पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' की पुस्तक 'झरोखे' की श्री हेरम्ब मिश्र द्वारा लिखी आलोचना पढ़ी। कुछ अंश भ्रामक एवं चिंत्य प्रतीत हुए,... 'शासक वर्ग ने साहित्य और साहित्यकारों को प्रोत्साहन देने का ध्यान रखते हुए हिंदी के बहुसंख्यक प्रतिभासंपन्न साहित्यकारों को या तो सूचना विभाग में अथवा आकाशवाणी केंद्रों में नियुक्त कर लिया है। यह सर्वथा अभिनंदनीय है।' तथा 'इससे साहित्यकारों की अथक कठिनाइयाँ निश्चय ही दूर हो रही हैं, किंतु उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा विकसित होने के स्थान पर कुंठित होने लगी है। इस कटु सत्य की ओर यदि...ध्यान न दिया तो यह ...अभिशाप सिद्ध होगा।' समालोच्य कृति से ये दो उद्धरण देते हुए समालोचक महोदय टिप्पणी जड़ते हैं कि "यहाँ समझ में नहीं आता कि 'अभिनंदनीय' और 'अभिशाप' का मेल कैसे बिठाया जाय?"

पाठक होने के नाते मेरी समझ में यह नहीं आता कि इन दोनों उद्धरणों में ऐसी कौन सी विरोधी समस्या है? लेखक का सीधा सा आशय यह है कि सरकार ने अपना कर्तव्य निर्वाह किया, यह अभिनंदनीय है, लेकिन सरकारी नौकरी में साहित्यकार की प्रतिभा कुंठित हो रही है अतः साहित्यकार के लिए यह अभिशाप है। एक दूसरा अंश भी द्रष्टव्य है: 'आज तो ... अनेक पत्र-संचालक तराज़ू के बटखरों की भाँति संपादकों को बदलते रहते हैं। पत्र की उन्नति के लिए अथवा संपादक की स्वेच्छा से ऐसा परिवर्तन किया जाय तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।' 'झरोखे' के लेखक का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है कि संपादक यदि स्वयं किसी दूसरे विभाग में अथवा दूसरी जगह जाना चाहें तब परिवर्तन आपत्तिजनक नहीं है। परंतु इस अंश की बखिया उधेड़ते हुए श्री मिश्र प्रश्न करते हैं—"यहाँ कुछ संपादकों ही द्वारा पीड़ित सह-संपादकों की ओर से पूछा जा सकता है कि संपादकों की स्वेच्छा से ही ऐसा परिवर्तन क्यों? क्या ऐसी स्वेच्छा में कहीं 'स्वेच्छाचार' नहीं हो सकता?" कहने की आवश्यकता नहीं कि समीक्षक ने 'स्वेच्छा' तथा 'इच्छा' का ऐसा घोटाला किया है कि पढ़ कर हँसी आती है। फिर प्रसंगांतर के अलावा तर्क भी अद्भुत है। यदि इसी प्रश्न पर यह प्रश्न भी किया जाय कि सह-संपादक अपने पक्षधरों की ही रचनाएँ छापता है; क्या यह अनाचार नहीं है, तो इसका मूल बात से क्या संबंध होगा?

समालोचक को एक शिकायत यह भी है कि 'मध्यवर्गीय लेखक...व्यक्तिगत संबंधों तथा भावनाओं में बह कर...पूरे वर्ग-चित्र को नहीं देख पाते,...स्तुति के पूर्व लेखक महोदय यह सोचना भूल जाते हैं कि जिस प्रकाशक के प्रति वह इतना आभार प्रकट कर रहे हैं,

उसी ने दूसरों को जाने कितनी ठोकरें लगायीं होंगी !'

प्रकाशकों के विषय में मेरा अनुभव भी कटु है, अतएव मैं आलोचक के तथ्य-प्रकाश से सहमत हूँ, किंतु संस्मरण किसी व्यक्ति का जीवन-चरित नहीं है। वह तो क्षण विशेष में उसके व्यक्तित्व की आत्मनिष्ठ झाँकी है। संस्मरण-लेखक स्मरणीय घटना का अंकन करता है, किसी पर अनुमान के आधार पर नैतिक अथवा धार्मिक फ़तवा नहीं देता। वह तो अपना मीठा-तीखा अनुभव आपके सामने रखता है, आपके अनुभवों की सूची बनाने के चक्कर में नहीं पड़ता।

आलोचक ने मुक्त हृदय से स्वीकार किया है कि . . .'और भी कई स्थल ऐसे हैं, जो द्रवित तो करते ही हैं, साथ ही घृणा, क्रोध और विद्रोह का भाव जगाने का भी काम करते हैं।' वह यह भी मानते हैं कि 'प्रस्तुत पुस्तक अपने लेखक की ही नहीं, बहुतेरे लेखकों और पत्रकारों की घायल भावनाओं, अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों का प्रतिनिधित्व करती है।' मगर समीक्षा के अंतिम अनुच्छेद में कहा गया है कि पुस्तक में रोचकता और रंगीनी जैसा कुछ नहीं है। समीक्षक ने रंगीनी का अर्थ यदि विभिन्न भावानुभूति के स्थान पर हलकी रोमानियत समझा हो, तब तो कोई बात नहीं, अन्यथा यह कहना कि जो पुस्तक घायल भावनाओं, अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों का प्रतिनिधित्व करती है तथा घृणा, क्रोध और विद्रोह के भाव जगाने में सक्षम है, वह न रोचक है, न रंगीन; अपने में स्वयं एक विचित्र वक्तव्य है।

—मोहन अवस्थी,
इलाहाबाद-२।

प्राप्ति-स्वीकार

• •

प्रज्ञा प्रकाशन, चंडीगढ़

१. क्रांतिपथ का पथिक (पृथ्वी सिंह)

पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

१. सूक्ति-संचयन (जैनेंद्र) (संकलयिता: हर्षचंद्र)

२. राष्ट्र और राज्य (जैनेंद्र)

३. परिप्रेक्ष (जैनेंद्र)

४. अंततः (हिमांशु जोशी)

५. मुक्ति-बोध (जैनेंद्र)

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

१. रस-सिद्धांत (डॉक्टर नगेंद्र)

२. कंचनरंग (शंभुमित्र; अमित मैत्र) (अनुवादक : नेमिचंद्र जैन)

३. जैनेंद्र : व्यक्ति, कथाकार और चिंतक (संपादक : बाँकेबिहारी भटनागर)

४. बच्चन : व्यक्ति और कवि (")

५. लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक

६. नाटक (भारतभूषण चड्ढा)

७. हिंदी की छायावादी कविता का कला-विधान (डॉक्टर बलबीर सिंह 'रत्न')

पारिजात प्रकाशन, पटना

१. चतुर्मुखी (ब्रजकिशोर 'नारायण')

आनंद प्रकाशन, इलाहाबाद

१. प्रेमचंद : कहानीकार (सुरेंद्र आनंद)

हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

१. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य (डॉक्टर लक्ष्मीनारायण दुबे)

जगत शंखधर, वाराणसी

१. आकाश विभाजित है (विष्णुचंद्र शर्मा)

साहित्य मंडल, गोंदिया

१. भारत सूर्य (दिनेश मिश्र)

लता प्रकाशन, पटना

१. बहुत है (श्री रंजन सूरिदेव)

•

उत्कृष्ट औज़ार के लिये उत्कृष्ट इस्पात

सन् १६२३ में जब जमशेदपुर में खेती के लिये इस्पात के उत्तम औज़ार बनने लगे तो एक नये भारतीय उद्योग का जन्म हुआ। सन् १६२५ में टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी ने एग्रिको कारखाना ले लिया और तब भारत में पहले पहल हथौड़े, बेलचे, गैंती, बीटर और बारी जैसे तरह तरह के आवश्यक औज़ार बनने लगे।

पिछले ४० वर्षों से एग्रिको खेतों में काम करने वाले किसान तथा रेलवे लाइन, पुल और बाँध बनाने और उनकी मरम्मत व देखभाल में लगे मज़दूरों को तरह तरह के उत्कृष्ट औज़ार देकर सहायता कर रहा है।

आज एग्रिको उच्च कोटि के टाटा कार्बन स्टील द्वारा वैज्ञानिक रूप से प्रतिवर्ष ४० लाख औज़ार बनाता है। उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर कड़ी निगरानी रखकर एग्रिको के औज़ारों की उत्तम क्वालिटी और टिकाऊपन को ठीक रखा जाता है और इसीलिये सारे देश में इन औजारों को इस्तेमाल करने वाले सब से पहले इन्हें ही चुनते हैं।

टाटा स्टील

The Tata Iron and Steel Company Limited

JWTTN 2066A
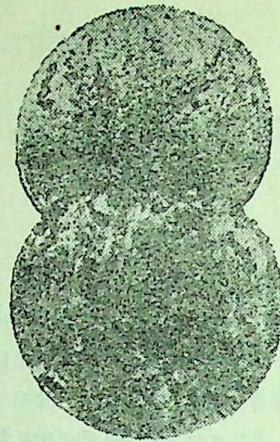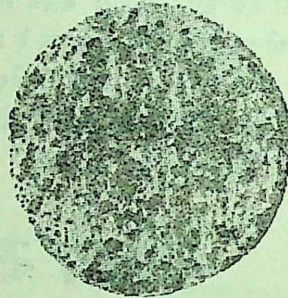
हिन्दी के उन्नयन

में

हिन्दी समिति का योग

राष्ट्रभाषा की समृद्धि के संकल्प को पूर्ण करने की दिशा में हिन्दी समिति अभी तक विभिन्न तकनीकी, अभियांत्रिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विषयों के अनूदित एवं मौलिक १२० ग्रंथ प्रकाशित कर चुकी है।

समिति के कुछ नये प्रकाशन

१—स्टार्च और उसका व्यवसाय	—डॉ० सन्तप्रसाद टण्डन	७—५०
२—रेडियो सर्विसिंग	—श्री रमेशचन्द्र विजय	८—५०
३—पदार्थ शास्त्र	—श्री आनन्द झा	८—००
४—पश्चिमी आलोचना शास्त्र	—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	८—५०
५—भैषज्य संहिता	—श्री अत्रिदेव विद्यालंकार	४—५०
६—संघवाद और संघात्मक शासन	—डॉ० व्रजमोहन शर्मा	८—५०
७—शुद्ध बुद्धि मीमांसा (काण्ट कृत क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीज़न)	—अनुवादक: श्री भोलानाथ शर्मा	९—५०
८—रंगमंच (शेल्डन चेनी कृत दि थीयेटर)	—श्री श्रीकृष्णदास	११—५०
९—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ तथा २ (भारतरत्न पी० बी० काणे कृत हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र)	—श्री अर्जुन चौबे काश्यप	३४—००
१०—मानवीय ज्ञान के सिद्धांत (बर्कले कृत प्रिंसिपिल ऑफ़ ह्यूमन नॉलेज)	—डॉ० भगवान बक्स सिंह	८—५०
११—दूरवीक्षण के सिद्धांत (राबर्ट होम कृत टेलीविज़न प्रिंसिपिल्स)	—श्री हरप्रसाद शर्मा	६—५०
१२—मानव बुद्धि संबंधी विवेचना (डेविड ह्यूम कृत एसे ऑन इन्क्वायरी टु ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग)	—डॉ० श्रीकृष्ण सक्सेना	३—५०

उत्तम कागज, सुंदर छपाई, सुदृढ़ जिल्द, आकर्षक आवरण, कम दाम

संपर्क सूत्र

सुरेन्द्र तिवारी

सचिव, हिन्दी समिति एवं सहायक सूचना निदेशक

उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

का

५१ वर्षों से अनुसंधानपूर्ण त्रैमासिक प्रकाशन

सम्मेलन-पत्रिका

जिसमें हम पाते हैं—

- हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं एवं उनके साहित्य के संबंध में नूतन शोध-सामग्री।
- अद्यावधि अप्रकाशित विशिष्ट साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण।
- हिंदी साहित्य के आलोचना-क्षेत्र की नयी प्रकृतियों और प्रवृत्तियों का दर्शन।
- इस पत्रिका के **लोक-संस्कृति, कला** एवं **श्रद्धाञ्जलि** नाम के तीन विशेषांक अपनी अनुसंधान तथा विवेचना से पूर्ण सामग्री के लिए सर्वथा अनवद्य हैं।
- प्रत्येक अनुसंधान-पुस्तकालय में और प्रत्येक अनुसंधित्सु के पास यह पत्रिका साहित्य के स्कूल का काम करती है।

संपादक

ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

वार्षिक मूल्य ८ रु०

प्रति अंक २ रु०
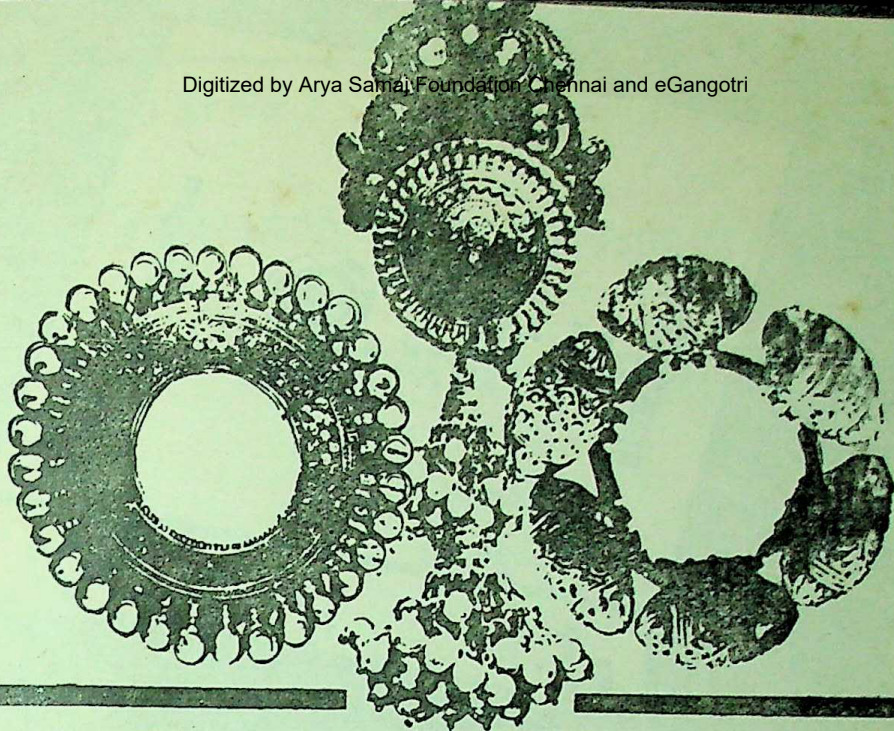
ये हैं आपके दो हजार ग्राम सोने के ज़ेवर। क्या आपको मालूम है कि इन्हें सिर्फ उधार देकर १५ साल में आप ६,००० रुपये कमा सकते हैं। आपकी इस आमदनी पर कोई कर नहीं लगेगा। तो फिर देर क्यों करते हैं? तिजोरी या बैंक में जो आपके ज़ेवर रखे रहते हैं, उनसे आपको कुछ भी फायदा नहीं होता। दिल को बड़ा कीजिए और देश के इस आड़े वक्त पर काम आइये। अपना सोना या ज़ेवर देश को उधार दीजिये। हम आपके सोने को मातृभूमि की सेवा में लगायेंगे, देश की वेदी पर तपायेंगे और १५ साल बाद जब हम आपका सोना लौटायेंगे तब उसमें एक नई चमक-दमक, एक नया निखार होगा।

देश को सोना उधार दीजिये — स्वर्ण बांड लीजिये!

तिजोरी या बैंक में रखा आपका सोना बेकार पड़ा रहता है। उससे आपको कोई फायदा नहीं होता। लेकिन अगर उसी सोने के बदले में आप स्वर्ण बांड ले लें, तो आपके सोने के हर १० ग्राम पर हर साल २ रुपये के हिसाब से आपको मुनाफा होता रहेगा। (एक तोला बराबर ११.६६ ग्राम के। एक गिन्नी का वजन ८ ग्राम होता है)

कोई पूछताछ नहीं होगी

जब आप स्वर्ण बांड लेने के लिये सोना, सोने की गिन्नियां या जेवर देंगे तब आपसे यह नहीं पूछा जायेगा कि आपने ये सोना कहां से प्राप्त किया। स्वर्ण नियंत्रण कानून या कस्टम के नियमों के मातहत कोई कार्रवाई भी नहीं की जायेगी।

आपको सोना शुद्ध रूप में लौटाया जायेगा

पुराने जेवरों की शुद्धता १८ से २२ कैरेट तक होती है (एक गिन्नी २२ कैरेट की होती है)। जब आप स्वर्ण बांड लेने के लिये अपना सोना देंगे तो विशेषज्ञ लोग आपके सोने को सरकारी टकसाल में गलायेंगे और अपने महीन यंत्रों से उसे २३.८८ कैरेट की शुद्धता प्रदान करेंगे। इस तरह १५ साल बाद आपको शुद्ध सोना लौटाया जायेगा। पुराने ढंग के जेवरों को नया रूप देने और मुनाफा प्राप्त करने का आपके लिये यह एक सुनहरा मौका है। और १५ साल बाद जब आपको यह सोना शुद्ध रूप में मिलेगा तो उससे आप जितने कैरेट में चाहें, और जिस रूप में चाहें, जेवर बनवा सकते हैं।

जेवर बनाने के खर्च का मुआवजा

अगर आप सोना जेवर के रूप में दे रहे हैं तो सरकार जेवर बनाने के खर्च के रूप में आपके हर १० ग्राम पर ३ रुपये का मुआवजा देगी।

स्वर्ण बांडों से व्यापार और उद्योग में तरक्की होगी

पैसा अगर सरकार के हाथ में हो, तो सरकार को विदेशी मुद्रा मिलेगी, जिससे हमारी सरकार को रक्षा का साज-सामान और मशीनें आदि खरीदने में सहायता मिलेगी। अगर हमारे पास विदेशी मुद्रा की दिक्कत रही तो देश की तरक्की रुक सकती है, जिसका असर हमारे समाज और हम पर पड़े बगैर नहीं रह सकता।

स्वर्ण बांडों की जमानत

आप स्वर्ण बांडों की जमानत देकर बैंकों से रुपया उधार ले सकते हैं।

करों में छूट

स्वर्ण बांडों पर सम्पति कर नहीं लगता। इनकी बिक्री की आय पर कोई कर नहीं लिया जाता।

५,००० ग्राम (लगभग ४२६ तोला) तक के स्वर्ण बांड को एक साल में पहली बार जिस व्यक्ति को उपहार के रूप में दिया जाय, उस पर उपहार कर नहीं लगता।

५०,००० ग्राम (लगभग ४,२८८ तोला) तक के स्वर्ण बांड पहली बार जिस व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होंगे, उन पर सम्पदा-शुल्क नहीं लिया जायेगा।

स्वर्ण बांड कहां से लें?

ये स्वर्ण बांड रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के बंगलौर, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नागपुर और नई दिल्ली स्थित कार्यालयों के अलावा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की सभी शाखाओं व उसके सहायक बैंकों से जारी किये जा रहे हैं।

देश की सेवा कीजिये

देश को आज आपके सोने की जरूरत है। स्वर्ण बांड लेकर देश की मदद कीजिये। हम सब का भविष्य इसी पर निर्भर करता है कि हम आज देश को कितना सोना देते हैं। अपने सोने को देश की सेवा में लगाइये।

वित्त मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रचारित

राष्ट्रभाषा का सर्वोत्कृष्ट, प्रामाणिक कोश

मानक हिन्दी कोश

५ खण्डों में

प्रथम चार खण्ड प्रकाशित

आकार

डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

पहला खण्ड – २१,९४८
दूसरा खण्ड – २१,१२७
तीसरा खण्ड – २३,६५३
चौथा खण्ड – २१,०८२

पृष्ठ संख्या

पहला खण्ड – ६१८
दूसरा खण्ड – ५९९
तीसरा खण्ड – ६७०
चौथा खण्ड – ६०६

पाँचवाँ खण्ड जनवरी १९६६ के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हो रहा है।

●

प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपये

●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

प्रकाशक तथा मुद्रक : रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग